

University of Mysore

Oriental Library Publications

SANSKRIT SERIES No. 63

(मुहूर्तदर्शनम्)

विद्यामाधवीयम्

विद्यामाधवविरचितम्

विष्णुशर्मविरचिन मुहूर्तदीपिकायुतम्

प्रथमसंपुटम् १-५ अध्यायाः

THE

VIDYAMADHAVIYAM

OF

VIDYA MADHAVA

WITH

VISHNUSARMA'S MUHURTHADIPIKA

PART I--CHAPTERS 1-5

EDITED BY

DR. R. SHAMA SASTRY, B.A., PH.D., M.R.A.S.,

*Curator, Government Oriental Library, Mysore, Director of Archaeological
Researches in Mysore, Periodical Lecturer to the Post-Graduates'*

Classes of the Calcutta University, and B.B R'A. S.

Campbell Memorial Medalist

MYSORE

PRINTED AT THE GOVERNMENT BRANCH PRESS,

1923

these verses are lost, they are all given in their mutilated form in foot-note below. From these verses and the colophon it appears that the commentator called Vishnu was the son of Vidyâmâdhava, the author of the Vidyâmâdhaviya, and flourished under the patronage of Mallappa, son of the Vijayanagar king Bukkarâya, and ruler over the East of Mysore (A.D. 1363).

The Vidyâmâdhaviya is an exhaustive treatise on the Horary Astrology of the Hindus, and with its commentary it consists of about fifteen thousand granthas, about one-third of which is comprised in this first volume. While to the faithful of the Hindus the work is welcome as an authoritative consulting book on the proper occasion of their varied religious rites, it will be no less important to the historian of India for information on the Sociology of the Hindus in the middle ages and even in modern times.

MYSORE,
16th July 1923.

R. SHAMASASTRY,
Curator.

सव्याख्यस्य विद्यामाधवायस्य विषयसूचना.

| विषयाः— | पृष्ठसङ्ख्या. |
|--|---------------|
| संज्ञाध्यायः— | ... 1-78. |
| मङ्गलाचरणम् .. . व्या. मूले 1 श्लो. | 2 |
| मूलस्थमङ्गलपद्यव्याख्या ,, | 1-9 |
| स्वस्य ग्रन्थकरणप्रवृत्तिप्रयोजकप्रदर्शन- | |
| पुरस्सरं प्रेक्षावत्प्रवृत्तयेऽनुबन्धचतुष्टय- | |
| प्रदर्शनपूर्वकं च प्रतिज्ञा , 2-3-4 , ... | 10 |
| सविमर्शं तद्विवरणम् ,, | 9-14 |
| संज्ञाध्यायप्राथम्ये हेतुः ,, 5 ,, | 14 |
| राशीनां संज्ञाः ,, 6-8 ,, | 15 |
| सविचारं तद्विवरणम् ,, | 15-17 |
| राशीनां संज्ञान्तराणि ,, 9 ,, ... | 17 |
| राशीनां सामान्यसंज्ञाः ... ,, 10 ,, | ,, |
| भावशब्दवाच्यानां राशीनां संज्ञाः ,, 11-13 ,,... | 18-19 |
| आत्मतनुमूर्तिपदानां विषये शङ्कापरिहारौ ,, | 19 |
| आस्पदशब्दविषये शङ्कापरिहारौ, मूलस्थ- | |
| तुशब्दार्थश्च ,, | 19-20 |
| लभादिष्वित्यादिप्रातिज्ञायामनुपपत्तिशङ्का- | |
| परिहारौ ,, | 20-21 |
| भावशब्दार्थः, लभसाधनक्रमः भावानयनक्रमः, | |
| प्रमाणं च ,, ... | 21-23 |
| भावाद्यन्तावगमोपायः ,, | 23 |
| भावान्तावस्थितस्य ग्रहस्य नैष्फल्यम् ,, ... | ,, |
| ग्रहस्य भावफलदानविषये विशेषः, प्रमाणं च ,, | ,, |
| भावफलोपचयादिहेतुः प्रमाणं च ... ,, | 24 |
| भावफलविषये मतविरोधाशङ्कापरिहारौ ,, | ,, |

| विषयः— | व्या. म | श्लो | पुटसङ्ख्या |
|---|---------|----------|------------|
| राशिभावफलयोः कल्पनायां भूयान् | | | |
| भेदः, तत्र मतभेद विरोधशङ्कापरिहाराः | ,, | | 24-25 |
| फलविभागः, तत्र मतभेदाः | .. ,, | | 25 |
| शुभक्रियासु पूर्वोक्तरीत्या भावकल्पनावश्य- | | | |
| कता प्रमाणं च | ,, | | 25-26 |
| भावसंज्ञाः (त्रिकोणादयः).... | ,, | 14-15 ,, | 26-27 |
| नानासंज्ञासमावेशस्थले निर्णयः | ,, | | 27 |
| युगयुक् पदयोरर्थः लोकतस्संख्यावगतिश्च | ... ,, | 16 ,, | |
| मूलोपात्तादिपदार्थप्रदर्शनेन विवरणम् | ,, | | 27-28 |
| राशीनां शीर्षोदयपृष्ठोदयसंज्ञे | ,, | 17 ,, | |
| मूलोक्तार्थविशदीकरणं प्रमाणं च | ... ,, | | 28-29 |
| मूलोक्तसंज्ञ प्रयोजनं प्रमाणं च | ,, | | 29 |
| चरास्थिरत्वयोरेव प्रकृतिता उभयस्योभयरुक्ता च | | | ,, |
| राशीनामूर्ध्वमुखादिसंज्ञाः | ,, | 18 ,, | |
| मूलोक्ते प्रमाणोपन्यासः | ,, | | 30 |
| राशिषु पुष्करसंज्ञका अंशाः | ... ,, | 18 ,, | |
| मूलोक्तेऽर्थे प्रमाणं नवांशेष्वपि पुष्करांशाः | | | |
| प्रमाणं च | ,, | | 30-31 |
| ग्रहाणां प्रकाशकादिसंज्ञाः | ,, | 19 ,, | |
| मूलोक्तार्थे प्रमाणोपन्यासः मतभेदाश्च | ,, | | 31-32 |
| ग्रहाणां नवत्वे विस्तरेण विचारः | ,, | | 32-36 |
| शुभपापपर्यायाः | ,, | 20 ,, | |
| मुहूर्तशब्दार्थः | ,, | | |
| कालभेदप्रदर्शनं तत्र शङ्कापरिहारः प्रमाणो- | | | |
| पन्यासश्च | ,, | | 36-37 |
| ज्योतिःशास्त्रनिरूपणशङ्कापरिहारौ | ,, | | 37-42 |
| उच्चनीचादिशब्दार्थः | ,, | 21 ,, | |
| विशदं मूलविवरणम् | ,, | | 42-43 |
| राशिषु मूलत्रिकोणसंज्ञका भागाः | ,, | 22 ,, | |

मूलाववरण, प्रमाणोपन्यासः, वराहामिह-.

| | | | | |
|---|------|---|-------|-------|
| मतदूषणं च | | ” | | 43-44 |
| ग्रहसंबन्धिनो वर्गाः | | ” | 23 | 44 |
| मूलोक्तेऽर्थे प्रमाणम् | | ” | | 45 |
| राश्यादीनामधिपतयः | | ” | 24 | 45-46 |
| मूलोक्तेऽर्थे प्रमाणम् | | ” | | 46-47 |
| द्रेक्षाणहोरासंज्ञका भागाः तत्तदधिपतयः | | | | |
| तत्र मतभेदाश्च | | ” | 25 | 47 |
| मूलोक्तार्थे प्रमाणं तत्तन्मतभेदाश्च | | ” | | 47-48 |
| आहत्य द्रेक्षाणहोरातत्स्वामिनां संख्या | | ” | | 48 |
| त्रिंशत्शाधिपतयः | | ” | 26 | ” |
| मूलोक्तार्थे प्रमाणोपन्यासः | | ” | | 49 |
| मूलानुक्ताः सप्तंशाधिपतयः, प्रमाणं च | | ” | | ” |
| ग्रहाणां दृष्टयः | | ” | 27 | ” |
| विशदं मूलविवरणं दृष्ट्यानयनाविषये | | | | |
| तत्तन्मतप्रदर्शनेन विचारः | | ” | | 49-53 |
| ग्रहाणां मित्रशत्रुसमाः | | ” | 28 | 53 |
| मूलविवरणं प्रमाणोपन्यासः तत्र मतभेदाश्च | | ” | | 53-54 |
| ग्रहाणां तात्कालिकशत्रुमित्रत्वे | | ” | 29 | 54-55 |
| मूलोक्तार्थे प्रमाणोपन्यासः तत्र मतान्तर- | | | | |
| दूषणं च | | ” | | 55 |
| कालहोराधिपाः | | ” | 30 | 56 |
| मूलविवरणं मतभेदाः तत्तत्प्रमाणानि च | | ” | | 56-57 |
| नक्षत्रसंख्याविशेषाः | | ” | 31 | 57 |
| नक्षत्राणां देवताः | | ” | 32 | 58 |
| मूलोक्तार्थे मतान्तरं तद्दूषणं च | | ” | | 58-59 |
| केषांचित् सङ्गान्तरं | | ” | 33-34 | 59 |
| लघुर्नक्षत्राणां निर्देशः | | ” | 35 | 60 |
| नक्षत्राणामूर्ध्वमुखत्वादि | | ” | 36 | ” |

| द्वितीयो दोषाध्यायः | प्या. भू. | ला. | पृष्ठसङ्ख्याः |
|--|-----------|-----|---------------|
| दोषनिरूपणार्था प्रतिज्ञा | | 1 | 79 |
| दोषपारिगणना | | 2-4 | 79-80 |
| विशदं मूलविवरणम् | | 5 | 80-81 |
| दुष्टनक्षत्रादीनि | | 5 | 82 |
| दुष्टनक्षत्रादेस्त्याज्यत्वे प्रमाणप्रदर्शनपूर्वकं | | | |
| विशदं मूलविवरणम् | | 6-7 | 82-84 |
| विषयटिकाः | | 6-7 | 84 |
| विशदं मूलविवरणं, प्रमाणोपन्यासः विष- | | | |
| घटीफलं, योगेष्वपि विषयाडिकासद्भा- | | | |
| ववादिनां मतं च | | | 84-85 |
| धूमादयः पञ्च दोषाः | | 8 | 85 |
| मूलोक्तार्थे प्रमाणम् | | | 86 |
| भूकम्पादयो दोषाः | | 9 | 86-87 |
| मूलाभिहितेष्वर्थेषु प्रमाणोपन्यासेन विशदं | | | |
| मूलविवरणम् मतभेदश्च | | | 87-88 |
| दिवसरात्र्योरष्टभागाधिपतयः | | 10 | 89 |
| गुल्किदोषाः | | 11 | 90 |
| मूलाभिहितेऽर्थे प्रमाणोपन्यासः, मतभेदादि- | | | |
| प्रदर्शनेन मूलविशदीकरणम् | | | 89-91 |
| दिनरात्र्योरष्टदोषयोराश्रयः | | 12 | 91 |
| प्रमाणोपन्यासादिपूर्वकं मूलविवरणम् | | | 91-92 |
| सप्तद्वयोः तत्फलानि च | | 13 | 92-93 |
| मूलोक्तैऽर्थे प्रमाणोपन्यासः | | | 93 |
| विष्टयुद्धदोषः | | 14 | 94 |
| प्रमाणोपन्यासमतभेदयोः प्रदर्शनेन मूल- | | | |
| विवरणम् | | | 94-96 |
| विष्कम्भादयो योगाः | | 15 | 96 |
| विष्कम्भादिषु निन्दिता योगाः | | 16 | 97 |
| तत्तन्मतप्रदर्शनपूर्वकं मूलविवरणम् | | | 97-98 |

| विषयाः— | व्या. मू. | श्लो. | पृष्ठसङ्ख्याः |
|--|-----------|-----------|---------------|
| दुष्टा वारतिथियोगाः | | , 17-18 , | 98-99 |
| मूलोक्तार्थे प्रमाणोपन्यासः | | , , | 99-100 |
| दुष्टा वारक्षययोगाः | | , 19-20 , | , |
| प्रमाणोपन्यासपूर्वकं मूलविवरणम् | | , , | 101-103 |
| तिथिवारक्षययोगाः | | , 21 , | 103-104 |
| मूलभित्तिरूपेण भाष्ये च ततः | | , , | 104 |
| तिथ्यक्षययोगाः | | , 22-23 , | , |
| तत्प्रमाणोपन्यासस्य मूलविवरणम् | | , , | 105 |
| तिथिराशियोगाः | | , 24 , | 106 |
| प्रमाणमुखेन मूलविवरणं मूलानुक्षापेक्षितार्थ- निरूपणं-मतभेदप्रदर्शनं च | | , , | 106-108 |
| उडुकूपदोषः | | , 25-26 , | 108 |
| तिथिकूपदोषः | | , 27 , | 108-109 |
| उडुतिथिकूपदोषफलम् | | , 28 , | 109 |
| प्रमाणोपन्यासमतभेदप्रदर्शनाभ्यां मूलविवरणम् | | , , | , |
| कालदोषः | | , 29 , | 110 |
| मतभेदप्रदर्शनप्रमाणोपन्यासाभ्यां मूलविवरणम् | | , , | , |
| चक्रार्धव्यतीपातदोषः | | , 30 , | 111 |
| दोषपरिज्ञानोपायविशदीकरणेन प्रमाणो- पन्यासेन च मूलविवरणम् | | , , | 111-114 |
| पातकृत्यम् | | , 31 , | 114 |
| दोषस्याज्यतायां प्रमाणोपन्यासः सति तान्तरं च | | , , | 114-117 |
| कण्टकस्थूणदोषः | | , 32 , | 117 |
| मूलार्थविवरणं प्रमाणोपन्यासश्च | | , , | 117-118 |
| मृत्युदोषः | | , 33 , | 118 |
| मूलविवरणं मूलोक्तार्थे प्रमाणोपन्यासश्च | | , , | 118-119 |
| मासतारकायोगरूपो मृत्युदोषः | | , 34 , | 119 |

| विषयः— | व्या. मू. | श्लो. | पृष्ठसङ्ख्याः. |
|--|-----------|-------|----------------|
| मूलविवरणं प्रमाणोपन्यासश्च | | ” |119-120 |
| अन्धनक्षत्राणि | | ” 35 | ” 120 |
| मूलविवरणं तत्तन्मतभेदप्रदर्शनं च | | ” |120-121 |
| अत्रार्थे गुरुमतम् | | ” 36 | ” 121 |
| मूलोक्तार्थे प्रमाणोपन्यासः, मतान्तरनिरासः | | | |
| मूलानुक्ता अर्थविशेषाश्च | | ” |121-122 |
| उष्णशिखादोषः | | ” 37 | ” 122 |
| मूलविवरणं प्रमाणोपन्यासश्च | | ” | 122-23 |
| गण्डदोषः | | ” 38 | ” 123 |
| जन्मादयो दोषाः | | ” 39 | ” ” |
| मूलविवरणं प्रमाणोपन्यासश्च | | ” | 124 |
| शुभकर्मसु त्याज्या दोषविशेषाः | | ” 40 | ” ” |
| मूलविवरणपुरस्सरं तत्तन्मतभेदप्रदर्शनं | | | |
| प्रमाणानि च | | ” |124-127 |
| वैनाशिकदोषः | | ” 41 | ” 127 |
| मूलविवरणं मतभेदप्रदर्शनं प्रमाणोपन्यासश्च, | ” | ” | 128 |
| एकाङ्गदोषः | | ” 42 | ” ” |
| मूलविवरणं प्रमाणोपन्यासश्च | | ” |128-129 |
| शून्या राशयः | | ” 43 | ” 129 |
| मूलविवरणं प्रमाणोपन्यासश्च | | ” |129-130 |
| शून्यास्ताराः | | ” 44 | ” 130 |
| मूलविवरणं प्रमाणोपन्यासः, मतान्तर- निरासश्च | | ” |130-131 |
| शून्यास्तित्थयः | | ” 45 | ” 132 |
| मूलविवरणं प्रमाणोपन्यासः मतभेदप्रदर्शनं च | ” | ” |132-134 |
| शून्यमासाः | | ” 46 | ” 134 |
| मूलविवरणं प्रमाणोपन्यासः अर्थविशेषः | | | |
| मतभेदश्च | | ” |134-135 |
| दग्धनक्षत्राणि | | ” 47 | ” 135 |

| विषयाः— | व्या. मू. | श्लो. | पृष्ठसङ्ख्याः |
|--|-----------|-------|-----------------|
| मूलविवरणं प्रमाणोपन्यासः वक्तव्यविशेषश्च | ,, | |135-136 |
| ज्वालादियोगाः | | 48 | ,, 137 |
| मूलविवरणं प्रमाणोपन्यासश्च | | ,, | |
| मासपदार्थः | | 49 | ,,137-138 |
| मूलविवरणं प्रमाणोपन्यासः मूलानुक्तार्थ- | | | |
| विशेषः मतभेदप्रदर्शनं च | | ,, |138-139 |
| संक्रमाः | | 50 | ,, 139 |
| मूलविवरणं प्रमाणोपन्यासः तत्तन्मतप्रदर्शनं | | | |
| संक्रान्तिफलप्रदर्शनं च | | ,, | ... 139-145 |
| संक्रान्तेः शुभकर्मसु त्याज्यानां | ... | 51 | ,, 145 |
| मूलाभिहितार्थे प्रमाणोपन्यासः तत्तन्मतानि च | ,, | |145-146 |
| सौरादयोऽब्दाः | | 52 | ,, 147 |
| मूलविवरणं प्रमाणोपन्यासः मूलानुक्तार्थ- | | | |
| विशेषतत्तन्मतविशेषप्रदर्शनानि च | | ,, |147-148 |
| सौराद्यब्दान्तादिषु त्याज्यादिनानि | | 53 | ,, 148 |
| विशदं मतभेदप्रदर्शनपूर्वकं च मूलविवरणम् | ,, | |148-150 |
| श्रीदिनानि | | 54 | ,, 150-151 |
| मूलविवरणं श्रीदिनानयनोपायः प्रमाणं च | ,, | | 151 |
| श्रीदिनादीनि सप्त दिनानि तेषां शुभाशुभत्वे च | ,, | 55 | ,, |
| अपेक्षितार्थविशेषप्रदर्शनप्रमाणोपन्यासौ | | ,, | 152 |
| गुरुशुक्रयोरस्तादयो दोषाः | | 56 | ,, |
| दोषस्वरूपविवेचनप्रमाणोपन्यासाभ्यां | | | |
| मूलविवरणम् | | ,, | ... 152-153 |
| गुरुशुक्रयोर्बाल्यं वृद्धत्वं च | | 57 | ,, 154 |
| तत्तन्मतभेदप्रदर्शनप्रमाणोपन्यासौ | | ,, |154-155 |
| ग्रहवेधः | | 58 | ,, 155 |
| अर्थविशेषप्रदर्शनं प्रमाणोपन्यासश्च | | ,, | 156 |
| वास्तुकर्मणि निषिद्धो वेधः | | 59 | ,, |
| मूलाभिहितार्थे प्रमाणं दोषफलं च | | ,, |156-157 |

| विषयः— | व्या | मू. | श्लो. | पृष्ठसङ्ख्याः, |
|--|------|-----|-------|----------------|
| शूलदोषः तदानयनोपायश्च | | „ | 60 „ | 157 |
| दोषफलं प्रमाणं मूलानुक्तार्थविशेषश्च | | „ | |157-159 |
| अधिमासः | | „ | 61 „ | 159 |
| आधिमासविषये मतभेदाः तत्तत्प्रमाणानि च | „ | | |160-163 |
| केतूदयादयो दोषाः | | „ | 62 „ | 163 |
| विशदं मूलविवरणं तत्तत्प्रमाणोपन्यासः | | | | |
| अर्थविशेषाश्च | | „ | | 163-170 |
| वेधदोषः तदानयनोपायश्च | | „ | 63 „ |170-171 |
| तत्तन्मतभेदप्रदर्शनं प्रमाणोपन्यासश्च | | „ | |171-173 |
| अभिजिद्भुक्तिः तत्स्थग्रहस्य रोहिणी वेधकता च | „ | | 64 „ | 173 |
| मूलोक्तार्थे वचनोपन्यासः अर्थविशेषश्च | | „ | |173-174 |
| ग्रहशुद्धिनियमस्थानानि तत्तदुचितक्रियावि- | | | | |
| शेषाश्च | | „ | 65 „ | 174 |
| प्रमाणोपन्यासः मतभेदप्रदर्शनं च | | „ | |174-175 |
| चौळादिषु वर्ज्यः कालः | | „ | 66 „ |175-176 |
| मूलोक्तेऽर्थे प्रमाणोपन्यासः तत्तन्मतभेदाश्च | „ | | |176-180 |
| रात्रिवर्ज्यानि कर्माणि | | „ | 67 „ | 180 |
| प्रमाणोपन्यासः मतभेदप्रदर्शनं च | | „ | |180-181 |
| रात्रिनिषिद्धेषु कर्मसु कर्णवेधग्रहप्रवेशयोश्चा- | | | | |
| वश्यापेक्षिता ग्रहस्थितिः | | „ | 68 „ | 181 |
| षड्शतिमुखदोषः | | „ | 69 „ | 182 |
| मूलोक्तार्थे प्रमाणोपन्यासः | | „ | | „ |
| गण्डान्तदोषः तत्र त्याज्या नाडिकाश्च | | „ | 70 „ | „ |
| प्रमाणोपन्यासः मतान्तरप्रदर्शनं च | | „ | |183-184 |
| लग्नदोषाः | | „ | 71 „ | 184 |
| प्रमाणोदाहरणं मतभेदप्रदर्शनं च | | „ | |184-186 |
| चन्द्रदोषाः | | „ | 72 „ | 187 |
| प्रमाणप्रदर्शनं सप्रमाणं मतान्तरोपन्यासश्च | | „ | |187-188 |
| वर्ज्यवेलाद्यानयनोपायः | | „ | 73 „ |188-189 |

| विषयाः— | व्या. भू. | श्लो. | पृष्ठसङ्ख्याः |
|---|-----------|----------|---------------|
| अपेक्षितविशेषाः प्रमाणं च | | ” | 189 |
| चन्द्रक्रियाः | | ” 74-77, |189-190 |
| मूलविवरणं मूलोक्तार्थं प्रमाणोपन्यासश्च | | ” |190-192 |
| चन्द्रावस्थाः | | ” 78 | ” 192 |
| प्रमाणोपन्यासः मतान्तरप्रदर्शनं च | | ” |192-194 |
| चन्द्रवेलाः | | ” 79-81, | 194 |
| मूलार्थे प्रमाणोदाहरणम् | | ” |194-195 |
| दोषाध्यायोपसंहारः | | ” 82 | ” 195 |
| अथ अपवादाध्यायस्तृतीयः | | |196-260 |
| अपवादनिरूपणप्रतिज्ञा | | ” 1 | ” 196 |
| मूलार्थ उपपत्तिः प्रमाणोपन्यासश्च | | ” | ” |
| छिद्रदोषापवादः | | ” 2 | ”197-198 |
| मूलाभिहितेऽर्थे प्रमाणं अर्थविशेषश्च | | ” | 198 |
| पापवारापवादः | | ” 3 | ” ... 198-199 |
| विशदं मूलविवरणं, तर्तत्प्रमाणानि च | | ” |199-209 |
| चन्द्रवर्णापवादः | | ” 4 | ” 210 |
| प्रमाणोपन्यासः अर्थविशेषश्च | | ” | ” |
| पापवारे निषिद्धस्यापि कर्मणः करणार्हवान्त- | | | |
| रकालः | | ” 5 | ” ” |
| पापवारेऽपि रात्रौ दोषभावः | | ” 6 | ” 211 |
| मूलाभिहितेऽर्थे प्रमाणोपन्यासः | | ” | ” |
| पापराध्यपवादः | | ” 7 | ”211-212 |
| प्रमाणप्रदर्शनं मतभेदप्रदर्शनं च | | ” |212-214 |
| तिथीनामुत्तमादिविभागः | | ” 8 | ” 214 |
| मूलार्थे प्रमाणोदाहरणम् | | ” |214-215 |
| अहः पञ्चधा विभागः, अपराह्णस्य वर्ज्यता च | | ” 9 | ” 215 |
| मूलाभिहितेऽर्थे प्रमाणोपन्यासो विशेषार्थश्च.... | | ” |215-216 |
| धूमादिदोषपक्षपापवादः | | ” 10 | ” 216 |
| प्रमाणोपन्यासः | | ” | ” |

| विषयः— | व्या. मू. | श्लो. | पृष्ठसङ्ख्येय |
|---|-----------|-------|---------------|
| सौरदोषापवादः | | 11 | 217 |
| मूलाभिहितेऽर्थे प्रमाणं, तस्यैव च | | | |
| विद्युद्दोष परिहाररूपता च | | |217-218 |
| अर्धप्रहरादीनामपवादः | | 12 | 218 |
| गुल्लिकादिदोषपरिहारान्तरं | | 13 | |
| प्रमाणोपन्यासः मतभेदप्रदर्शनं विशेषार्थश्च | .. | |218-219 |
| दिनमृत्युरोगदोषभङ्गः | | 14 |219-220 |
| प्रमाणोपन्यासः निशाभृत्पूर्वकत्वे विशेषश्च | .. | | 220 |
| रिष्टदोषभङ्गः | | 15 | 220 |
| प्रमाणोपन्यासः मतभेदः विशेषार्थश्च | | |220-221 |
| दुष्टयोगभङ्गः | | 16 |221-222 |
| मूलार्थे प्रमाणं मतभेदः विशेषार्थश्च | | |222-223 |
| दग्धरात्र्यपवादः | | 17 | 223 |
| मूलार्थे प्रमाणोपन्यासः | | | |
| कूपदोषभङ्गः | | 18 | |
| मूलार्थे प्रमाणोपन्यासः | | | 224 |
| कालगण्डभङ्गः | | 19 | |
| कण्टकादिदोषभङ्गः | | 20 | |
| मूलार्थे प्रमाणं, परिहारान्तरं तत्र प्रमाणं च | .. | | 225 |
| दग्धरात्र्यादिभङ्गः | | 21 | 225 |
| मूलार्थे प्रमाणं परिहारान्तरं च प्रमाणं च | | | |
| अन्धदोषभङ्गः | | 22 | 226 |
| मूलार्थे प्रमाणं विशेषार्थश्च | | | 226-227 |
| जन्मक्षकृत्यम् | | 23 | 227 |
| मूलार्थे प्रमाणं, विशेषविषयश्च | | |227-228 |
| विपदादिभङ्गः | | 24 | 228 |
| मूलार्थे प्रमाणं, विशेषार्थः मतभेदश्च | | | 228-230 |
| अष्टमराशिचिनाशक्षदोषयोः परिहारौ | | 25 | 230 |
| प्रमाणोपन्यासः विशेषाश्च | | | 230-231 |

| विषय— | व्या. | मू. | श्लो. | पृष्ठसङ्ख्या. |
|---|--------|-----------|-------|---------------|
| एकार्गळदोषभङ्गः | | „ 26-27,, | | 231 |
| मूलार्थे प्रमाणोपन्यासः | „ | „ | ... | 231-232 |
| शून्यादिभङ्गः | | „ 28 „ | | 232 |
| मूलार्थे प्रमाणोपन्यासः अनुक्तार्थसंग्रहश्च | „ | „ | | 232-233 |
| दग्धराशिभङ्गः | | „ 29 „ | | 233 |
| मूलोक्तेऽर्थे प्रमाणं विशेषश्च | „ | „ | | 233-234 |
| दग्धदोषपरिहारान्तरम् | ... | „ 30-31,, | | 234 |
| प्रमाणोपन्यासः विशेषविमर्शश्च | „ | „ | | 234-235 |
| अनुक्तभङ्गानां सामान्योऽपवादः | | „ 32 „ | | 235 |
| मूलार्थे प्रमाणं | .. „ | „ | | 236 |
| गुरुशुक्रास्ताधिमासादिषु कर्तव्यानि | | „ 33 „ | | „ |
| मूलार्थे प्रमाणं अनुक्तार्थविशेषश्च | „ | „ | | 236-238 |
| रात्रिदोषभङ्गः | | „ 34 „ | | 238 |
| मूलार्थे प्रमाणं विशेषश्च | „ | „ | | 238-240 |
| लग्नदोषभङ्गः | | „ 35 „ | | 240 |
| मूलार्थे सर्वसिद्धिवचनं | „ | „ | | „ |
| पापपूर्णदृष्टिभङ्गः | | „ 36 „ | ... | 241 |
| पापोदयदृष्टिभङ्गः | | „ 37 „ | | „ |
| प्रमाणतो मूलाववरणं मूलानुक्तार्थश्च | „ | „ | | 241-242 |
| उभयपापदोषभङ्गः | | „ 38 „ | | 242 |
| तत्प्रमाणं | „ | „ | | 242-243 |
| अनिष्टस्थानगतग्रहदोषभङ्गः तत्प्रमाणं च | | „ 39 „ | | 243 |
| चन्द्रदोषभङ्गः | | „ 40 „ | | 243 |
| तत्प्रमाणं | „ | „ | | 243-244 |
| पापशस्त्रांशदोषभङ्गः | | „ 41 „ | | 244 |
| मूलार्थे प्रमाणं मतान्तरं च | „ | „ | | 244-245 |
| पापवर्गादिभङ्गः | | „ 42 „ | ... | 245-246 |
| पापयोगदृष्टिभङ्गः तत्र प्रमाणं विशेषार्थश्च | „ | „ 43 „ | | 246 |
| सर्वदोषाणां साधारणो भङ्गः | | „ 44-49 „ | | 247-258 |
| तत्र प्रमाणानि | „ | „ | | 247-258 |

| विषयाः— | व्या. मू. | श्लो. | पृष्ठसङ्ख्याः. |
|---|-----------|-------|----------------|
| अपवादीपसंहारः | | 50 | 258 |
| अऽत्वादप्राबल्यदोर्बल्ययोर्देशाचारो व्यवस्थापकः | | 51 | 258-259 |
| तत्र प्रमाणं | | | 259 |
| दोषापवादपरिग्रहार्हदशा | | 52 | 259-260 |
| तत्र गुरुवचनोपन्यासः | | | |
| मूलटीकयोरपवादाध्यायोपसंहारः | | | 260 |
| अथ गुणाध्यायः तुरीयः | | | 261-322 |
| गुणानिरूपणप्रतिज्ञा | | 1 | 261-263 |
| सप्रमाणं मूलविवरणं | | | |
| गुणविभागः | | 2 | 263-264 |
| मूलार्थविमर्शः | | | |
| महागुणाः | | 3 | 264-265 |
| प्रमाणं मतान्तरं च | | | |
| पञ्चाङ्गादिगुणः | | 4 | 266 |
| तत्र प्रमाणं | | | |
| उत्तमोत्तमगुणस्य सुकृतैकलभ्यता | | 5 | |
| ग्रहाणां गोचरगुणः | | 6 | 267 |
| तत्र प्रमाणं | | | |
| पूर्णपञ्चकयोगः | | 7 | 267-268 |
| तत्र प्रमाणं | | | |
| ताराकलशनामा योगः | | 8 | 268-270 |
| प्रमाणं मतान्तरं च | | | 270 |
| मुहूर्तपरिमाणं संख्या च | | 9 | |
| तत्र प्रमाणं | | | |
| मुहूर्तानां तारकामयत्वं | | 10 | 270-271 |
| प्रमाणं मूलार्थं | | | |
| मुहूर्तानां गुणदोषौ देवतं च | | 11 | 271-274 |
| मतभेदाः प्रमाणानि च | | | 274 |
| शुभाशुभमुहूर्तगणना | | 12 | |

| विषयाः— | व्या. मू. | श्लो. | पृष्ठसङ्ख्याः. |
|--|-----------|-------|----------------|
| अभिजिन्मुहूर्तगुणः | | 13 | 275 |
| प्रमाणपुरस्सरं मूलविवरणम् | | 13 | 275-276 |
| वारेषु वर्ज्यमुहूर्ताः | | 14 | 276 |
| मूलार्थे प्रमाणं विशेषार्थश्च | | 14 | 276-277 |
| मुहूर्तानां पुराणप्रासिद्धास्तंज्ञाः | | 15 | 277 |
| मूलार्थे प्रमाणं | | 15 | 277-278 |
| पौराणिकाशुभमुहूर्तस्सप्त | | 16 | 278 |
| मूलोक्तेऽर्थे प्रमाणोपन्यासः विचारश्च | | 16 | 278 |
| पञ्चकल्याणाख्यः प्रशस्तो योगः | | 17 | 279 |
| मूलार्थे प्रमाणम् | | 17 | 279 |
| शुभवारर्क्षयोगः | | 18-19 | 280 |
| मूलार्थे गुरुवचनोदाहरणम् | | 18-19 | 280 |
| अमृतयोगाः | | 20-21 | 281 |
| गुरुवचनोपन्यासः विशेषार्थश्च | | 20-21 | 281-282 |
| वारयोगाः | | 22 | 282 |
| मूलार्थे गुरुवचनं प्रमाणं, मतभेदास्तत्प्रमा- | | 22 | 282-284 |
| णानि च | | 22 | 282-284 |
| पूर्वोक्तयोगेषु वक्तव्यविशेषः | | 23 | 285 |
| मतान्तरं प्रमाणं च | | 23 | 286 |
| अमृतघटिका | | 24 | 286-287 |
| तत्र प्रमाणं | | 24 | 288 |
| अमृतघटीफलम् | | 25 | 288 |
| कालगुणः | | 26 | 288-289 |
| तत्र प्रमाणं विशेषार्थश्च | | 26 | 289 |
| सप्तवर्गगुणः | | 27 | 289 |
| मूलविवरणं प्रमाणोपन्यासः विशेषार्थश्च | | 27 | 289-295 |
| सप्ताङ्गगुणनिरूपणोपसंहारः | | 28 | 296 |
| निमित्तगुणाः | | 29 | 296 |
| सप्रमाणं सप्रपञ्चं च तत्तदर्थविवरणं | | 29 | 296-304 |

| विषयः— | व्या. मू. | सू. | पृष्ठसङ्ख्याः |
|--|-----------|-----|---------------|
| दैवज्ञप्रशंसा | | 30 | 304 |
| मूलार्थे गुरुवचनं प्रमाणं ... | .. | 31 | 305 |
| दैवज्ञसत्कारतदभावाभ्यां साद्रूप्यवैगुण्ये | | 31 | 306 |
| सप्रपञ्चं मूलविवरणं | ... | 31 | 306-318 |
| लोकसंतोषाय दैवज्ञेन लग्नतदधिपादिबलादि- | | | |
| शुभचिह्नकथनावश्यकता | | 32 | 318 |
| मूलार्थविवरणं प्रमाणं मतान्तरं च | ... | 32 | 319-321 |
| गुणाध्यायोपसंहारः | | 33 | 321-322 |
| अथ बलाबलाध्यायः पञ्चमः | | | 323-380 |
| बलाबलपरिज्ञानस्यावश्यकत्वम् | | 1 | 323 |
| तिथिबलं | | 2 | 323-324 |
| प्रमाणं | | | 324 |
| पूर्वोक्तार्थे मतान्तरं ... | | 3 | 324 |
| सविमर्शं सप्रमाणं च मूलविवरणं | | | 324-325 |
| तिथिप्राबल्यविषये श्रीपतिमतं | | 4 | 326 |
| मूलार्थे भरद्वाजमतं प्रमाणं च | | | 326-327 |
| पूर्वोक्तार्थे स्वाभिमतं गुरुमतं | | 5 | 327 |
| प्रमाणोपन्यासः शङ्कापरिहारौ च | | | 327-328 |
| निसर्गजं पञ्चाङ्गबलं ... | | 6 | 328 |
| मूलविवरणं | | | 329 |
| तात्कालिकं पञ्चाङ्गबलम् | | 7 | 329-330 |
| राशिग्रहाणां बलं | | 8 | 330-331 |
| भरद्वाजवचनं मूलार्थे प्रमाणं | | | 331 |
| पूर्वोक्तग्रहराश्यादिबलदूषणम् | | 9 | 331 |
| षडङ्गेषु ताराप्राबल्यं ग्रहादन्यूनबलता च | ... | 10 | 332 |
| ,, ताराप्राबल्ये ऐतिह्यं प्रमाणं | | 11 | 332-333 |
| ताराप्राबल्यसाधकतयोक्तेऽर्थे ग्रहोदयबलेना- | | | |
| न्यथासिद्धिं शङ्कमानं प्रत्युत्तरं | | 12 | 333 |
| तिथ्यादित्याज्यताया अपवादः परिहारं निद- | | | |
| र्शनीकृत्य शङ्कमानं प्रति समाधानम् | .. | 13 | 334 |

| विषयः— | व्या. | मू. | श्लो. | पुटसङ्ख्याः. |
|---|-------|-----|---------|--------------|
| राश्यादिप्राबल्योपयोगस्थलप्रदर्शनं | | ,, | 14 , | 334 |
| मूलार्थे प्रमाणं | | ,, | |335-336 |
| पञ्चाङ्गबलेषु मिथो बलाबलनिर्णयः | .. | ,, | 15 , | 336 |
| नांशसिद्धादयो धीगाः | | ,, | 16 , | ... 337 |
| मूलोक्तयोगेषु शुभाशुभत्वे | | ,, | |337-338 |
| राश्यादिवलं | | ,, | 17 , | 338 |
| तत्र प्रमाणं | | ,, | | , |
| राशिबलविषये तत्तन्मतप्रतिपादनप्रतिज्ञा | ... | ,, | 18 , | , |
| धराहमिहिरमतेन राशिबलं | ... | ,, | 19-20 , | 339 |
| मूलार्थे प्रमाणं तदुक्तबलानयनोपयोगिगणितं | | | | |
| तत्र प्रमाणं च | | ,, | |339-341 |
| श्रीपतिसंमतं स्थानबलं | | ,, | 21 , | 341 |
| श्रीपत्यादिवचनोपन्यासेन मूलविवरणं | ... | ,, | |341-342 |
| श्रीपतिमतेन ग्रहबलं | | ,, | 22 , | 343 |
| बलसंख्यापरिमाणे | | ,, | 23 , | , |
| चेष्टाबलं | | ,, | 24 , | 344 |
| वराहमिहिरादिवचनोदाहरणेन मूलविवरणम् | ,, | | |344-345 |
| कालबलम् | | ,, | 25 , |345-346 |
| श्रीपत्यादिवचनोदाहरणेन मूलविवरणं | | | | |
| विशेषार्थश्च | | ,, | | ... 346-348 |
| दृग्बलस्थानबले | | ,, | 26 , |349-351 |
| सप्रमाणं तद्विवरणं | | ,, | |349-351 |
| चेष्टाबलयोगेन स्थानबलवृद्धिः | | ,, | 27 , | ... 351-352 |
| स्थानबलयोगेन नैसर्गिकस्य वृद्धिः | | ,, | 28 , | 352 |
| गुरुवचनं मूलार्थे प्रमाणं | | ,, | | 353 |
| बलानां प्राधान्यमुपसर्जनता च | | ,, | 29 , | , |
| मित्रशत्रुकृतप्राबल्यदौर्बल्यविभागः | | ,, | 30 , | , |
| शुभानां विषयभेदेन बलविशेषः | | ,, | 31 , | 354 |
| गुरुशुक्रयोः सकलदोषपरिहारकत्वे स्तुत्यर्थवादः | ,, | ,, | 32 , | 355 |

| विषयः— | व्या. मू. | श्लो. | पुटसङ्ख्याः. |
|---|------------|-----------|--------------|
| गुर्वादिवचनं तत्र प्रमाणं.... | | ,, |355-356 |
| चन्द्रबलप्रशंसा | | ,,33-34,, |356-359 |
| विशदं तद्विवरणं . . | | ,, |356-359 |
| दैवज्ञलक्षणं | | ,, 35 ,, | 360 |
| विशदं तद्विवरणं | | ,, |360-364 |
| प्रहावस्थाः | ... | ,,36-37,, |364-365 |
| ग्रहैर्दीयमानानां फलानां परिमाणानि | ,, | 38 ,, | ... 365-366 |
| वराहमिहिरादिवचनोपन्यासेन विशदं मूल- विवरणम् | | ,, |366-369 |
| प्रहाणां लम्बादिभावेषु विशेषफलानि .. | ,, | 39 ,, | 369 |
| प्रमाणं मूलार्थनिष्कर्षश्च | ,, | | 370 |
| प्रहाणां प्राबल्यमात्रमादाय कर्मानुष्ठानप्रसङ्ग- शङ्कापरिहारः | ,, | 40 ,, | |
| महादोषाः | ,,41-43 ,, | | 371 |
| मूलार्थस्य सर्वसिन्ध्वादिवचनोपन्यासपूर्वकं विवरणम् | | ,, | ...372-373 |
| गुणदोषबलाबलस्य अपवादाध्यायतो निणर्तित्वम् ,, | 44 ,, | | 373 |
| गुणदोषविप्रतिषेधे निर्णयः | ,, | 45 ,, | 374 |
| प्रधानकर्मणां शुभमुद्वर्तैऽनुष्ठानेऽपि तत्पूर्वोत्तराङ्ग- कर्मणां यथासंभवानुष्ठानोपपत्तिः | ,, | 46 ,, | 375 |
| तत्र भरद्वाजवचनं मानम् | ,, | | ,, |
| गुणदोषबलसंख्यादि | ,, | 47 ,, | 376 |
| गुरुवचनोपन्यासपूर्वकं मूलविवरणम् | ,, | ,, |376-379 |
| शुभाक्रियार्हःकालः | ,, | 48 ,, | .. 379 |
| गुर्वादिवचनोपन्यासेन मूलविवरणम् | ,, | | 379-380 |
| बलाबलाध्यायोपसंहारः मूलटीकयोः १.... | | | 380 |

संख्याख्यस्य विद्यामाधवीयस्याशुद्धपाठशोधनम्.

| पृष्ठ | पाङ्क्ति. | अशुद्धम्. | शुद्धम्. |
|-------|-----------|------------------------------|---|
| 1 | 9 | समुदितम् | समुदितम् |
| 2 | 17 | संसाद्यते | संसाध्यते |
| 5 | 13 | यजुषा | याजुषी |
| 7 | 9 | जगत्प्रसूतिः | जगत्प्रसूतिः |
| „ | 16 | निषादि | निमेषादि |
| 10 | 17 | शास्व | शास्त्र |
| 11 | 5 | बिभेऽति | बिभेति |
| 14 | 6 | देवता | देवता |
| 20 | 8 | रिफप | रिफ |
| 21 | 11 | कर्मव्यय | कर्माव्यय |
| 22 | 12 | संभव | संभव |
| 23 | 2 | द्विष्टेषु | द्विष्टेषु |
| „ | 11 | योग्यो | ... योग्यो |
| 24 | 2 | क्षयि | क्षीय |
| 25 | 2 | त्रिद्वेक | त्रिद्वयेक |
| „ | 12 | ग्रह | ग्रह |
| „ | 19 | यत्रावि | यात्र वि |
| 28 | 16 | स्थिरचरो | स्थिरतरो |
| 30 | 16 | चापादिषु चतुर्षु चतुर्षुसमि. | (चापादिषुसमि) चापादिषु चतुर्षु त्रिकेषु. |
| 31 | 10 | बुधैर्दृष्टं | बुधैर्दृष्टम् |
| „ | 11 | वक्तुमुप | वक्तुमुप |
| „ | 19 | ग्रहणा | ग्रहाणा |
| „ | 22 | वीर्यान्विष्वन्द्र | वीर्यान्वितश्चन्द्र |
| 32 | 4 | ग्रहा | ग्रहा |

| सू. | पङ्क्ति. | अशुद्धम्. | शुद्धम्. |
|-----|----------|-----------------------------|--|
| 32 | 20 | ग्रहा | ग्रहा |
| 34 | 15 | चन्द्रो | चन्द्रो |
| „ | 22 | रोहुकत्वो | राहुकेत्वो |
| 35 | 14 | तेषामपि | तेषामपि |
| „ | 16 | ग्रह | ग्रह |
| 39 | 2 | ज्योति | ज्योति |
| 43 | 8 | दिननलादि | ... दिगनलादि |
| 47 | 9 | त्वाद्याः | त्वाद्या |
| 49 | 21 | समग्रं | समग्रं |
| 50 | 5 | पश्यन्ती | पश्यन्ती |
| „ | 7 | ग्रह | ग्रह |
| 56 | 5 | 20 | 30 |
| 59 | 2 | शक्रांश्री | शक्रांश्री |
| „ | 19 | विशाखाक्षत्रस्य | विशाखानक्षत्रस्य |
| 60 | 4 | पुराभि | पुराऽभि |
| 63 | 14 | सामिजन्ति | सामिजिन्ति |
| „ | 18 | वाऽस्त्रियां | वास्त्रियां |
| 72 | 6 | स्वभावाः | स्वभावाः |
| „ | 12 | बुधसारौ | बुधसौरी |
| 78 | 13 | 49 | 48 |
| „ | 19 | विद्यामाधवीये मुहूर्तदर्शने | विद्यामाधवीयव्याख्यायां मुहूर्तदीपिकायां |
| 80 | 5 | शून्यादिग्रहयुक्त | शून्यानि ग्रहमुक्त |
| „ | 6 | मासाब्दावसती | मासाब्दावसिती |
| „ | 7 | 6 | 3 |
| 85 | 18 | चक्रादथस्मिन् | चक्रादथास्मिन् |
| 88 | 12 | रविरूप | रविरूप |
| „ | 11 | किमनेनांशांशी | किमनेनांशांशीति |
| 93 | 19 | संख्ये | संख्ये |

| पुट | पङ्क्ति. | अंशुद्धम्. | शुद्धम्. |
|-----|----------|--------------------|--|
| 94 | 13 | गुरुणा— | गुरुणा — भूदेस्वरांभोधकड- मिवसुरूपकां । या मदि .. कंसंख्यातां क्रमातिथ्यर्थं वि- ष्टत्रिति इति पाठः पुस्तका- न्तरे |
| 104 | 17 | स्त्वृक्षलचि (जि) | स्त्वृक्षलुञ्छ |
| 106 | 3 | वशिष्टमृग | ... वळिष्टमृग |
| 107 | 4 | वारक्षयोगो | वारक्षलमयोगो |
| 109 | 2 | 37 | 27 |
| „ | 7 | तिथिकारककूपनिम्न | तिथितारककूपनाम |
| 119 | 13 | चक्रांशुविष्णु | चक्राम्बुविष्णु |
| 121 | 19 | भ्रमात् | श्रवणात् |
| 129 | 20 | स्तदा | स्तदा |
| 146 | 22 | चान्द्रैस्तु | चान्द्रैस्तु |
| 149 | 1 | जैवाब्दस्यान्तयोः | जैवाब्दस्यान्तयोः |
| 155 | 21 | विशोध्या | विशोध्या |
| 161 | 11 | द्वया | द्वया |
| 168 | 17 | दिग्वाप्यदृष्ट | दिग्वाप्यदृष्ट |
| 177 | 11 | परिमहः | परिमहः |
| 183 | 6 | भानं | ... भानां |
| 185 | 6 | अत्र | अन्यत्र |
| „ | 20 | द्वितीयस्थेदयं | द्वितीयस्थो वक्रचारक्षेदयं |
| 199 | 19 | स्वोच्चसहस्रदृष्टे | स्वोच्चसहस्रदृष्टे |
| 214 | 9 | तास | तासां |
| 215 | 7 | मध्याह्नाख्यास्त | मध्याह्नाख्यास्त |
| 232 | 6 | कौशलके | कौशलके (इति मुहूर्तमार्ता- ण्डे । पा) |
| 235 | 21 | अनुक्तमज्ञानां | अनुक्तमज्ञानां |
| 238 | 10 | कर्तव्यं | कर्तव्यं |
| 239 | 17 | शशिनि | शशिनि |

| पुट. | पङ्क्ति. | अनुद्धम. | शुद्धम. |
|------|----------|---------------------|-------------------------------|
| 256 | 23 | जाति | शीत |
| 265 | 15 | लग्न | लग्न |
| " | 20 | तैलि | तौलि |
| 273 | 10 | तस्तु | तैस्तु |
| 286 | 8 | संज्ञा | संख्या |
| " | 4 | ग्रहवौ | ग्रहैवीं |
| 290 | 4 | ततम्बन्धिनि | ततम्बन्धिनि |
| 291 | 9 | सुखस्थान | शुभस्थान |
| " | " | अनुक्ताःशुभ | अनुक्ताशुभ |
| " | 21 | नाशः | वाच्यः |
| 294 | 19 | ज्ञात्वा | ज्ञात्वा |
| " | 23 | वराहमिहिरः | वराहमिहिरः |
| 295 | 7 | पाकाधिपा | पाकाधिप |
| " | " | सुहृदनष्टक | सुहृदनष्टक |
| 297 | 1 | यातुमनु | यातुरनु |
| 299 | 12 | ग्रहादेयम् | ग्रहोदेयम् |
| 303 | 14 | बीज | बीज |
| " | 18 | साधयेद्योगं | साधयेद्योगं |
| 304 | 21 | यद्वाह्यण | यद्वाह्यण |
| 305 | 3 | मौहूर्तिको | मौहूर्तिको |
| " | 5 | सूर्यादयः | सूर्यादयः |
| 311 | 16 | तदधिककलोदयवेधं | तदधिककलोदयवधं |
| 313 | 19 | घटीपात्रमेव | घटीपात्रमेव |
| 315 | 2 | गन्ध | गन्ध |
| 320 | 6 | सम्भृतः | संभृतः |
| 321 | 17 | ग्रन्थ | ग्रन्थः |
| 325 | 2 | सा अखण्डेत्यत्राहुः | सा अखण्डेति । अत्राहुः |
| " | 4 | ज्ञेया | ज्ञेयाश्चाद्वाध्यनकर्मसु |
| 327 | 3 | ग्रहः | ग्राहुः |
| 332 | 15 | मुक्त | युक्त |

| पुट. | पङ्क्ति. | अशुद्धम्. | शुद्धम्. |
|------|----------|-------------------|--------------------|
| 336 | 7 | रभियोगः | रधियोगः |
| „ | 22 | भलाब्जौ | बलाब्जौ |
| 337 | 15 | स्यादेतत् | स्यादेतत् |
| „ | 17 | सूरभिः | सूरिभिः |
| 338 | 2 | बलाबलवत्त्वं | बलाबलवत्त्वं |
| 340 | 3 | लिप्ताभिज्ञान | लिप्ताभिज्ञान |
| 341 | 1 | द्विघ्नो | द्विघ्नो |
| 348 | | द्विबलं | द्विबल |
| 350 | 3 | मित्रग्रहवत् | मित्रगृहवत् |
| „ | 11 | बलमस्तित्याह | बलमस्तीत्याह |
| „ | 17 | शत्रुत्व | शत्रुत्व |
| 351 | 12 | विशेषणाभिधानार्थः | विशेषाभिधान |
| 353 | 22 | स्थितायां | स्थितायां |
| 361 | 22 | ज्ञातात्पो | ज्ञातेष्टपा |
| 364 | 23 | 37 | 36 |
| 365 | 4 | 38 | 37 |
| „ | 22 | 39 | 38 |
| 372 | 10 | बार्हस्पत्ये | बार्हस्पत्ये |
| „ | 23 | बुधानां | बुधानां |
| 373 | 6 | रभावतां | रभावताम् |
| „ | 8 | सिन्धौः | सिन्धौ |
| 376 | 6 | संयोगैश्च | संयोगैश्च |
| 377 | 23 | संपत् क्षेम | संपत्क्षेम |
| 378 | 1 | भिरतिरति | भिरति |
| „ | „ | बुद्धया | बुद्धया |
| 379 | 1 | दानश | दानश |
| „ | 9 | गुणेषु | गुणेषु |
| „ | 17 | स्वापवाद्यै | स्वाप्वादौ |
| „ | 21 | फलापेक्षया | फलापेक्षया |



विद्यामाधवीयम्



विष्णुसूरिविरचिता

तद्व्याख्या मुहूर्तदीपिका च.



स्वस्ति श्रीगुरुपादाब्जपांसवः प्रदिशन्तु नः ।

भवन्ति भववाराशेर्ये सुखोत्तारसेतवः ॥

पुरातनाचार्यसमीरितागमान्विचार्य तद्वाक्यशतैस्समर्थयन् ।

उदीरितं चानुदितं समर्पयन्निमां विधत्ते मुमुहूर्तदीपिकाम् ॥

ज्योतिश्शास्त्रमहार्णवं मतिमथा निर्मथ्य यन्निर्मलं

विद्यामाधवसूरिणा सुमुदितं सदृत्तरत्नोज्ज्वलम् ।

स्वालोक्य मुहुर्मुहूर्तमुकुरं होराविलासाश्रित्य-

इश्रेयो दीपयितुं यतेऽद्य तदहं वाग्भातिभिर्भूरिभिः ॥

मुहूर्तदीपिका.

. ।

षु प्रशमनमनसा सूर्ध्व येनाऽर्धचन्द्रः ।

प्राबन्धि स्वर्गसिन्धुप्रकटपारिलसत्सैकताऽङ्काऽनुकारी

द्वैमातृत्वे ॥

भाति स्फुटं विघटिताखिलविघ्नसङ्घो

विघ्नाधिपः स दिशतादनिशं श्रियं वः

तत्रादौ तावदाचार्यः प्रारिप्सितस्य प्रकरणस्याऽनन्तरायेण परि-
समाप्तये लोके प्रसरणाय च स्वेष्टदेवता ¹ नमस्कारपूर्वकं ² जय-
तिपदेन नमः ³ सकलज्ज्योतिश्शास्त्राभिधेयाधिकरणभूतग्रहाधिपतिं
सूर्यमाभिष्टौति—

जयस्यमेयांशुनिधिर्जगन्नयीप्रबोधहेतुस्साविता
त्रयीमयः । न सर्वदर्शित्वमितो विना भवेदिति व
यं नेत्रमधत्त शङ्करः ॥ १ ॥

जयतीति । साविता सकलजगत्प्रसूतिशीलः सूर्यः जयति
सर्वस्मादुत्कर्षेण वर्तते । सर्वतेजांस्युपसर्जनीकृत्य स्वयं प्रधानत-
या वर्तते इत्यर्थः । तथा च भल्लटः—

अम्भोजसम्भवमुखाम्बुजमुग्धभृङ्गी

शृङ्गारधामसितधामविभासिचूडा ।

. दिव्यदेहा

वाग्देवता वसतु नो रसनाग्ररङ्गे ॥

यद्वत्या समयोऽप्यनादिनिधनो नाना परिच्छिद्यते

पुंसामद्भुतभूरनक्षविषयो बोधश्च सम्पद्यते ।

नृणां कर्मफलानुभावनविधिर्विष्टम्भ्य संसाद्यते

ते देयासुरमी चिराय खचराः श्रेयांसि भूयांसि वः ॥

वसिष्ठवार्गीश्वरगार्ग्यमुख्यान् महामुनीन् नौमि महानुभावान् ।

यदाज्ञया खेऽद्यति खेटपाळी मोक्ता च लोकः सदसत्फलानाम्

वन्दे विद्यामाधवं देशिकेन्द्रं लभ्यावासं संश्रयं षड्गुणानाम्

यद्वक्त्राब्जावासमैच्छत् सपत्नीसेवादैन्यं हातुकामेव वाणी ॥

¹ नामस्मरणपूर्वकम्.

² अत्र ग्रन्थपातः.

³ ग्रन्थपातः.

“पङ्क्तौ ¹ विशान्ति गणिताः प्रतिलोमवृत्त्या
पूर्वे भवेयुरियताऽप्यथवा त्रपेरन् ।
सन्तोऽप्यसन्त इति चेत्प्रतिभान्ति भानो-
र्भासाऽऽवृत्ते नभसि शीतमयूखमुख्याः” ॥ इति ॥
यद्वा—परञ्जचोतीरूपस्सविता तमःपारे वर्तत इति । तथा
सूर्यसिद्धान्ते—

“आदित्यो ह्यादिभूतत्वात् प्रसूत्या सूर्य उच्यते ।
परञ्जचोतिस्तमःपारे सूर्योऽयं सवितेति च” ॥ इति ॥

तदङ्घ्रिसेवासमवासविद्यो विभाति नारायणपूज्यपादः ।
विजह्नुर्धनुषं विमुक्तवैरे चिराय वाणीकमले समेते ॥
श्रीमन्मल्लः भूपः स जयति जगतीभूषणीभूतधामा
पारावारावगाढक्षितिधरशिखरप्रस्फुरत्कीर्तिपूरः ।
किं ब्रूमोऽस्य प्रतापं सुरपतिचकिताद्रीन्द्ररक्षातिदक्षः
श्रीभर्तुर्वासभूमिर्वितरति जलधिर्यस्य रत्नानि नित्यम् ॥
यः क्षात्रीमनुषाङ्गिणीमनुपमां ब्राह्मीमजिह्वां निजां
लक्ष्मीं साधु विभर्ति संश्रितजगत्सङ्कल्पकल्पद्रुमः
वैरिघातवधव्रती तदयशःपङ्काङ्कभूषाळिका-
मातन्वन् वसुधां स्वकीर्तिविशदालेपोज्ज्वलां सोज्ज्वलाम् ॥
वीरश्रीधरबुक्कभूपतिमहासाम्राज्यलक्ष्मीकरा—
लम्बोदारचरित्रविक्रमरसस्त्रैयम्बकालम्बनः ।
नीत्या निर्जितदैत्यनिर्जरगुरुप्रोद्दण्डदण्डद्विष-
न्मुण्डोत्खण्डनचण्डपाण्डितकरः क्षमामण्डलाऽऽखण्डलः ॥

पित्रादीनामपि सवितृत्वसम्भवात्तेभ्योऽस्य विशेषणान्याह—अमे-
यांशुनिधिरिति । अमेयानां असङ्ख्येयानां अपरिमितानां अंशूनां
रश्मीनां निधिः ¹ न्यासस्थानं, अमेया अंशवो निधीयन्तेऽस्मि-
न्निति तथा, सहस्रांशुरिति यावत् । जगत्रयीप्रबोधहेतुः त्रयाणां

शिवागमाचारविशुद्धचुष्टुः सदाऽऽत्मविद्यापरिरञ्जकन्धरः ।

समस्तसम्पत्कुलसंश्रयोऽयं भूपः क्षितिं रक्षति रामसृष्टाम् ॥

तदा तदास्थानगतो भुवि श्रुतः सुधीस्सुधीरो धरणीसुराग्रणीः ।

गुणानुरागी गुणवत्यधीश्वरप्रसादसम्पादितसम्पदुद्भवः ॥

पुरातनाचार्यसमीरितागमान् विचार्य तद्वाक्यशतैस्समर्थयन् ।

उदीरितं चानुदितं समर्पयन्निमां विधत्ते सुमुहूर्तदीपिकाम् ॥

ज्योतिःशास्त्रमहार्णवं मतिमथा निर्मथ्य यन्निर्मलं

विद्यामार्धवसूरिणा समुदितं सद्दृत्तरत्नोज्ज्वलम् ।

स्वालोकाय मुहुर्मुहूर्तमुकुरं होराविलासश्रियः

श्रेयो दीपयितुं यतेऽद्य तदहं वाग्मूतिभिर्मूरिभिः ॥

तत्राऽऽदौ तावदाचार्यः प्रारिप्सितस्य प्रकरणस्य अनन्त-
रायेण परिसमाप्तये लोकप्रसरणाय च स्वेष्टदेवतानमस्कारपूर्वकं जय-
तिपदेन ॥ विशेषणान्याह । अमेयांशुनिधिः.

अमेयानामसङ्ख्येयानामपरिमितानामंशूनां निधिः रश्मीनां निधिः
न्यासस्थानं । अमेया अंशवो निधीयन्तेऽस्मिन् इति

यावत् । जगत्त्रयीप्रबोधहेतुः त्रयाणां समाहारस्त्रयी जगतां त्रयी
जगत्त्रयी तस्याः प्रबोधहेतुः त्रैतन्योन्मेषकारणभूतः त्रैलोक्यवा-
सिनां निभृतानां त्रैतन्योन्मेषनिमेषकारणमित्यर्थः । यतो जगन्ति

समाहारस्त्रयी जगतां त्रयी जगत्रयी तस्याः प्रबोधहेतुः चैत-
न्योन्मेषकारणभूतः, त्रैलोक्यवासिनां भूतानां चैतन्योन्मेषनिमेषका-
रणमित्यर्थः । यतो जगन्ति सूर्यास्ते निस्संज्ञानि, पुनस्तदुद्रमे
संज्ञां प्रपद्यन्ते । तथा च श्रूयते—

सूर्यास्ते निस्संज्ञितानि पुनस्तदुद्रमे संज्ञां प्रपद्यन्ते तथाच श्रूयते ।
'योऽसौ तपन्नुदेति । स सर्वेषां भूतानां प्राणानादयोदेति ।
असौ योऽस्तमेति । स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायास्तमेति' इति ।
त्रयीमयः वेदत्रयमयः । ऋग्यजुस्तामभिः कल्पितमण्डलाद्यात्मा ।
तथाच सूर्यासिद्धान्ते ।

ऋचोऽस्य मण्डलं सामान्यस्य मूर्तिर्यजुषि च ।

त्रयीमथोऽयं भगवान् कालात्मा कालकृद्भिः । इति ॥

तथाच श्रूयते ।

'ऋग्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः सर्वा गतिर्यजुषी हैव शश्वत् ।

सर्वं तेजः सामरूप्यं हि शश्वत् सर्वं ह्येदं ब्रह्मणा चैव सृष्टम् ।

इति । शिवस्यापि सर्वज्ञत्वमेतन्निबन्धनमित्याह ।

इतः सवितुः विना स्वकीयं सर्वदार्शित्वं सर्वज्ञत्वमन्यथा न भवे-
दिति मत्वेव स्वनाम्नोऽन्वर्थताऽऽपादनाय शङ्करः शिवः सूर्य
नेत्रभूतं धृतवान् । शिवस्य दक्षिणेनेत्रं सूर्य इति प्रसिद्धिः । शिव-
स्य सर्वज्ञत्वं सूर्यनेत्रधारणात् अन्वर्थमासीदित्युत्प्रेक्षा अन्योऽ-
प्यर्थोऽस्ति ॥

यथा मञ्चाः क्रोशन्तीति लक्षणया मञ्चस्थाः पुरुषा इति
गम्यते तथेहाऽपि सवितेति सवितृमण्डलमध्यस्थः पुरुषो गृह्यते ।

“योसौ तपन्नुदेति । स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायो-
देति । असौ योऽस्तमेति । स सर्वेषां भूतानां प्राणानादाया-
स्तमेति” इति ।

त्रयीमयः वेदत्रयमयः ऋग्यजुस्सामभिः कल्पितमण्डलाद्यात्मा ।
तथा च सूर्यसिद्धान्ते—

तत्र अमेयश्चासावंशुनिधिश्चेति द्वन्द्वः । अमेयः प्रमाणापारिच्छेद्यः
अंशुनिधिः तेजस्समूहः प्रकाशरूप इत्यर्थः । जगत्त्रयीति विश्वं
गृह्यते । प्राति स्वात्मभावेन पूरयतीति जगत्त्रयीप्रः, तादृग्वोधस्य
ज्ञानस्य हेतुः निमित्तं विश्वपूरणीसंविन्निमित्तभूतः तत्प्रयोजक इत्यर्थः ।
विश्वात्मभावज्ञानप्रद इति वा । त्रयीमयः त्रिषु कालेषु त्रिवेदमयः ।
तथाच श्रूयते—

‘ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते, यजुर्वेदे तिष्ठति मध्य अह्नः ।
सामवेदेनास्तमये महीयते, वेदैरशून्य स्त्रिभिरेति सूर्यः ।

इति । यद्वा गुणत्रयात्मा यतोऽग्नीषोमौ सूर्यादभिन्नौ
स्तः । तथा च श्रूयते—

‘उद्यन्तं (वा) वाऽऽदित्यमग्निरनुसमारोहति’ सुषुप्तः सूर्य
रश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व, इति ।

अपिच । इतः सावित्राक्षेत्रात् । एना अन्यनेत्रेण सर्वदृ-
शित्वं न सम्भवेदिति यतो हेतो रूपविषयादिक्रिया चक्षुषा
साध्यते चक्षुश्च स्वाधिभूततेजस्सन्निधानेनैव स्वक्रियायां व्याप्तिरिति
स दृग्ग्यारोऽपि चक्षुर्नियमितप्रदेशे सम्भवेत् न तु वि-
प्रकृष्टमात्रे कुत एव सर्वपदार्थदर्शित्वं, तथासाति सर्वप्रकाशक-

“ऋचोऽस्य मण्डलं सामान्यस्य मूर्तिर्यजूंषि च”

त्रयीमयोऽयं भगवान् कालात्मा कालकृद्विभुः ॥

तथा च श्रूयते—

त्वान्नेत्रस्य विश्वमपि चक्षुनिमित्तमेवेति सर्वत्र दृग्व्यापारस्संभवे-
दित्यभिप्रायेण यं नेत्रमधत्त । इवशब्द उत्प्रेक्षाव्यञ्जकः । स-
वितुस्तेजस्त्रयीमयत्वाच्छिवस्य नेत्रत्रय्यपि तद्वयेऽपि? युज्यते । ‘चन्द्र-
सूर्याग्रयस्तस्य नेत्राण्यासन् महात्मनः’ इति । अनेन? सूर्यास्तद्वच-
नेनैव ज्योतिश्शास्त्रं? ज्योतिस्तम् ।

तथा चास्यार्थमाहुः—सविता चगत्प्रसूतिः कालो जयति ।

विश्वं विजयते । सर्वान् पराभावयतीत्यर्थः । यथोक्तं—

कालः पचति भूतानि कालः पिबति शास्ति च ।

कालस्सर्वास्थानभूति.... काल मतिवर्तत इति ।

स चामेयांशुनिधिः अपरिमितानामंशूनां निधिः विष्णुलि-
ङ्गवदवभासमानानां हायनायनर्तुमासदिवसाद्यवयवानां स्थानभूतः ॥
यथोक्तं विष्णुपुराणे ।

कलाकाष्ठानिषादिदिनत्वयनहायनैः ।

कालस्वरूपो भगवानपरो हरिरव्ययः ॥

इति । यद्वा । अमेयश्चासावंशुनिधिश्चेति द्वन्द्वसमासः । अमेयः
प्रमाणापरिच्छेद्यः अनाद्यन्त इत्यर्थः ॥ यथोक्तं विष्णुपुराणे ।

अनादिर्भगवान्कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते ।

अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्त संयमाः ॥ इति ॥

तथा अंशुनिधिः अंशूनां अंशुमतां सूर्यादीनां ग्रहाणां निधिरा-

ऋग्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः सर्वागतिर्यजुषि हैव शश्वत् ।
सर्वं तेजस्तामरूप्यं हि शश्वत् सर्वं होदं ब्रह्मणा चैव सृष्टम् ॥ इति ॥

शिवस्यापि सर्वज्ञत्वमेतन्निबन्धनमित्याह—इतः सवितुः वि-
ना स्वकीयं सर्वदर्शित्वं सर्वज्ञत्वं अन्यथा न भवेदिति मत्वेव स्वनाम्नोऽ-
न्वर्थतापादनाय शङ्करः शिवः सूर्यं नेत्रभूतं धृतवान् । शिवस्य

धारभूतः, यतस्तेषां सञ्चारः कालाश्रयः प्रवर्तते । अनाद्यन्तोऽपि
ग्रहगत्या परिच्छिन्न इत्यर्थः । तथाचार्यभटः—

युगवर्षमासादिवसाः समं प्रवृत्तास्तु चैत्रशुक्लादेः ।

कालोऽयमनाद्यन्तो ग्रहभैरनुमीयते क्षेत्रे ॥ इति ॥

तथाच जगत्रयस्य च स्वकृतशुभाशुभसंज्ञानस्य हेतुः, यतः सर्वेषां
प्रादुर्भावसमयादेव शुभाशुभज्ञानमुपलभ्यते । यद्वा जगतां त्रय्यु-
क्तक्रमावगमस्य हेतुः, एतत्प्रतिपादकशास्त्रस्य वेदाङ्गत्वात् ॥ यथो-
क्तम् श्रीपतिना—

क्रतुक्रियार्थं श्रुतयः प्रवृत्ताः कालाश्रयास्ते क्रतवो निरुक्ताः ।

शास्त्रादमुष्मात् किल कालबोधो वेदाङ्गताऽमुष्य ततः प्रसिद्धा ॥ इति ॥

त्रयीमयः भूतभाविभवतोपाधिभेदत्रयवान् । वेदस्वरूपिणः शिवस्य
ज्योतिश्शास्त्रनेत्रत्वेन हेतुत्वमुत्प्रेक्षते । सर्वान् दर्शान् दर्शपूर्णमा-
सानाचष्ट इति सर्वदर्शी, तद्भावाः सर्वदर्शित्वं, तादितः काला-
द्विना न स्यादिति मत्वेव दर्शपूर्णमासाद्याभिधानंसिद्धये शंकरः
वेदस्वरूपी शिवः ज्योतिश्शास्त्रमयं नेत्रमधत्त वेदस्य यज्ञप्रवृत्ति-
सिद्ध्यर्थं ज्योतिश्शास्त्रं नेत्रीकृतमित्यर्थः । तथाच श्रीपतिः—

दक्षिणेनेत्रं सूर्य इति हि प्रसिद्धिः । शिवस्य सर्वज्ञत्वं सूर्ये-
त्रधारणादन्वर्थमासीदिति उत्प्रेक्षा ।

अथाऽभिधेयं प्रतिजानीतेऽन्त्यकुळकेन श्लोकत्रयेण ।

छन्दः पादौ शब्दशास्त्रं च वक्त्रं कल्पः पाणी ज्योतिषं चक्षुषी चां
शिक्षा घ्राणं श्रोत्रमुक्तं निरुक्तं वेदस्याङ्गान्याहुरेतानि षट् च ॥

इति ॥ यद्वा सवित्रादेश्वाराभिधायि शास्त्रं सवितेत्युच्यते । ज्योति-
शशास्त्रमुत्कृष्टतया जयति यतः प्रत्यक्षफलमिदं शास्त्रं । यथोक्तं
ब्रह्मयामके—

ज्योतिषां परमं ज्ञानं सद्यः प्रत्ययकारणम् ।

प्रत्यक्षं सर्वविद्यानां उत्तमं मुक्तिमुक्तिदम् ॥

इति । ज्योतिशशास्त्रमप्यमेयस्य अव्यक्तादिगणितस्य अंशो रश्म्यादि
दशागणितस्य च स्थानं जगतां शुभाशुभमिश्राख्यफलत्रयस्य
ज्ञापकं । तथा गणितहोरासंहिताख्यस्कन्धत्रयात्मकम् । तथाच
नारदः—

सिद्धान्तसंहिताहोरारूपस्कन्धत्रयात्मकम् ।

वेदस्य निर्मलं चक्षुः ज्योतिशशास्त्रमनुत्तमम् ॥

इति । तथा सर्वस्मिन् देशे काले वा दर्शित्वं ज्ञानत्रयं ज्योति-
शशास्त्राद्विना अन्यशास्त्रान्न सम्भवेदिति । अतो ज्योतिशशास्त्रं वेदेन
नैत्रं मुख्यमङ्गं धृतं, यतः सर्वस्मादङ्गान्नेत्रं मुख्यमाहुः तथाचोक्तम्—

मुखमर्धं शरीरस्य सर्वं वा मुखमुच्यते ।

तत्रापि नासिका श्रेष्ठा श्रेष्ठे तत्रापि चक्षुषी ॥ इति ॥

तस्मात् षडङ्गेषु ज्योतिषमेव प्रधानम् । यथोक्तं श्रीपतिना—

स्वकीयशास्त्रे बहुशोऽपशब्दानमी वदन्तीति
जगत्प्रसिद्धम् । सुदुस्सहं तत्परिवादशल्यं मौहूर्तिका-
नामपहर्तुकामः ॥ २ ॥ वसिष्ठवागीश्वरगार्ग्यमुख्यै-
र्महर्षिभिर्विस्तरतः कृतेषु । शास्त्रेषु बुद्ध्या परि-
गृह्य सारं लोकोपकाराय च कीर्तये च ॥ ३ ॥
श्रुताऽखिलव्याकरणोऽहमुत्तमैः पदैरदोषैः कृतपद्य
गुम्भनम् । विचित्रवृत्तं लघु सम्प्रतं सतामिदं
विधास्यामि मुहूर्तदर्शनम् ॥ ४ ॥

अमो मौहूर्तिकाः ज्योतिर्विदः स्वकीयशास्त्रे स्वकीयेषु
मुहूर्तप्रतिपादकशास्त्रेषु अपशब्दान् असाधून् व्याकरणादिलक्षण-
विरुद्धान् शब्दान् बहुशः पुनः पुनः वदन्तीति जगत्प्रसिद्धं ।
तथाचाहुः—

“वैयाकरणकिरातैरपशब्दमृगाः क यान्ति सन्त्रस्ताः ।

नटविटभटगणकमिषक्छोत्रियमुखकन्दराणि यदि न स्युः” ॥

वेदस्य चक्षुः किल शास्त्रमेतत् प्रधानताऽङ्गेषु ततोऽस्य याता ।

अङ्गैर्यतोऽन्यः परिपूर्णमूर्तिः चक्षुर्विहीनः पुरुषो न कश्चित् ॥

इति । एवं ज्योतिश्शास्त्रस्य वेदाङ्गत्वं, तत्रापि प्राधान्यं प्रतिपाद्य
अथ प्राक्तनप्रोक्तेषु शास्त्रेष्वेव सत्सु किमन्यप्रकरणप्रणयन
प्रयत्नेनेत्याशङ्कामनवकाशयन् तेभ्यो विशेषमुन्मेषयन् स्वाभिधेयं
प्रतिजानीते अन्त्यकुळकन श्लोकत्रयेण ।

इति । जगत्ख्यातमत एव सुदुस्सहं अत्यसहं । तथा खलु क्वचित्
स्खलनं महते न दोषाय । यतः क्वचित् महाकवयौऽपि स्खलन्ति ।
एते तु पदे पदे स्खलन्तीति जगत्प्रासिद्धस्यापवादस्याऽत्यसह्यता
स्यादेव । तथा चाहुः—

“विद्वान् विभेऽति पुरुषस्सदा लोकाऽपवादतः” इति ।

मौहूर्तिकानां ज्योतिर्विदां सम्बन्धि तत् परिवादशल्यं अत्यसह्य-
त्वात् परिवाद एव शल्यत्वेन रूढ्यते । तत् अपशब्दकथनजातं
अपवादशल्यं अपहर्तुकामः निरपशब्दकरणं प्रकरणं प्रणीय शल्य-
मिव तमपवादमुद्धर्तुमनाः यथा यदि ज्योतिर्विदोऽपशब्दान् प्रयुञ्जते
तत् किमिह विद्यामाधवीये प्रबन्धे नापशब्दाः प्रादुर्भवन्ति । न-
न्विहापि हिबुकदुश्चिक्क्रेकाणादयः कथं व्युत्पाद्यन्ते । अमी तु
संज्ञा शब्दाश्चतुर्थादिस्थानाभिधायितया रूढत्वान्न व्युत्पत्तिमपेक्षन्ते ।
ये पुनर्गौणास्त एव प्रकृतिप्रत्ययविभागकल्पनया व्युत्पाद्यन्ते यथा
खेचरादयः । तस्मात् ज्योतिर्विदोऽपशब्दान् वदन्तीति नायं नियमः ।

नन्वपशब्दवन्त्यपि पूर्वशास्त्राण्यनाश्रित्य ज्योतिश्शास्त्रस्य
स्वातन्त्र्येण पृथक्कथनं निषिध्यते । तथाचोक्तं—

आयुर्वेदं चिकित्सां च ज्योतिषं धर्मनिर्णयम् ।

विना शास्त्रेण यो ब्रूयात्तं विद्याद्रूढघातकम् ॥ इति ॥

अपि च नैकसंज्ञाप्रचुरस्य ज्योतिश्शास्त्रस्य सङ्ख्यासंज्ञाप्रामाण्याल्लि-
ङ्गविभक्त्यादिव्यत्ययो न दुष्यति । तथा चास्ति—

‘आख्यातसंहितालिङ्गविभक्त्यव्यत्यादिकम् ।

न दूष्यं तदशिष्यं हि भानां संज्ञाप्रमाणतः” ॥ इति ॥

तदसत् । यद्यपीह सङ्ख्यादिप्राधान्यमिष्टं, तथाऽपि तद्वाचकानां शब्दानां तत्र रूढवाञ्छिब्बविभक्त्यादिकमपीष्टमेव । अतस्तद्व्यत्यय-
स्सर्वत्रापि दूष्यत एवेति ॥ स्वातन्त्र्येण विरचितमिदं प्रकरणमनादर-
णीयमित्याशङ्कयामाह—वसिष्ठेत्यादि—

वसिष्ठवागीश्वरगार्ग्यभारद्वाजनारदात्रिप्रभृतिभिर्महर्षिभिर्विस्तरतः
गुणदोषतदपवादानामेकत्रैव सङ्ग्रहणं विना प्रतिक्रियं पुनः पुनस्तेषां
प्रवचनं विस्तरतस्तथा कृतेषु बार्हस्पत्यादिषु पूर्वशास्त्रेषु सारं वि-
स्तरपुनरुक्तादि फल्गु परिहाय सारभू (तमुपादिषां) तां शं स्वबुद्ध्या परि-
गृह्य सङ्ग्रह्य श्रुताखिलव्याकरणः श्रुतान्यखिलानि व्याकरणानि
येन स तथा अधीतपाणिनीयशाकटायनादिशब्दशास्त्रो विद्यामाधव
नामा अहं इदं वक्ष्यमाणं मुहूर्तदर्शनं नाम प्रकरणं दृश्यन्ते
प्रकाश्यन्ते मुहूर्तान्यनेनेति मुहूर्तदर्शनं मुहूर्तानां प्रदर्शनादन्वर्थ-
मित्यर्थः । विधास्यामि करिष्यामि । मुहूर्तदर्शनं नाम प्रकरणं
मया करिष्यत इत्यर्थः । किमर्थोऽयं संग्रह इत्यत्राह—लोकोप-
काराय च कीर्तये चेति । लोकाः शुभकर्मचिकीर्षवः तेषां तदु-
चितकालकथनेनोपकर्तुम् । यद्वा लोकाः लग्नकालमादिदिक्षवो मौहूर्-
तिकास्तेषां परस्परविसंवादिविविधमुनिमतप्राबल्यनिश्चयकातरचेतसां ल-
ग्नकालमानेतुमादेष्टुमप्यपर्याप्तुवतां, अपि च बहुग्रन्थपठनवारणपर्या-
लोचनायासमसहमानानामल्पग्रन्थेन मुनिमतविप्रतिषेध विषये मुन्नि-
मतप्राबल्यकथनेन परोपकारं कर्तुं चिरस्थायियशःफलाय च,
चञ्चब्दात् पुरुषार्थचतुष्टयाऽवाप्तये प्रीतये चायं सङ्ग्रह इत्यर्थः ।
तथाचोक्तं—

“एकदशब्दसम्यग्ज्ञातस्मुष्टु प्रयुक्तस्त्वर्गे लोके कामधुग्भवति ।”

इति । उक्तं च भोजराजेन—

“ निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।

इह लोके कविः कुर्वन् प्रीतिं कीर्तिं च विन्दति ” ॥ इति ।

सापशब्दानां पूर्वशास्त्राणां सङ्ग्रहस्त तादृश एव । यथा मृदुपादाना घटी मृदेवेत्यत्राह—उत्तमैः प्रसादमाधुर्यादिगुणयुक्तैः प्रासिद्धैर्वा अदोषैः असाधुत्वाऽनर्थक्यादिदोषरहितैः अल्लिष्टैर्वा पदैः कृतपद्यगुम्भनम् विचित्रवृत्तं विविधानि विचित्राणि वृत्तानि श्रवणमनोहराणि मात्रामसार्धसमपादादीनि यत्र नत्तथा । नानाविधरमणीयवृत्तमित्यर्थः । लघु ग्रन्थतोऽल्पं तथाऽपि ¹ प्रकाशिताभिधेयसाकल्याभिधेयतया निर्दोषतया गुणवत्तया च विदुषां सम्मतं सम्यगभिमतं इदं मुहूर्तदर्शनमिति सम्बन्धः । अनेन सत्सम्मतत्वेनास्य गुणाधिक्यमुक्तम् । यथाऽऽह काळिदासः—

“ तं सन्तश्श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः ।

हेम्रस्संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिश्श्यामिकाऽपि वा ॥ ” इति ।

नन्वत्राधिकारिसम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि वक्तव्यानि तान्यप्यत्रोक्तान्येव यथा—ज्योतिर्ज्ञानकामोऽधिकारी । सै च लोकोपकारायेत्यत्र लोकशब्देनोक्तः । वेदेन सहाङ्गाङ्गिभावः सम्बन्धः, स च प्रागुक्तः । शुभक्रियाकालनिरूपणमभिधेयं, तच्च मुहूर्तदर्शनमित्यनेनोक्तम् । जगत्संशुभज्ञानं विदुषा पुमर्थचतुष्टयावासिश्च प्रयोजनम् । तच्च लोकोपकाराय च कीर्तये वेत्यनेनोक्तम् । उक्तं च नारदेन—

“ अस्य शास्त्रस्य सम्बन्धं वेदाङ्गमिति कीर्तितम् ।

अभिधेयं च जगतश्शुभाऽशुभनिरूपणम् ॥

¹ प्रकाशिताभिधेयसाकल्यतया,

यज्ञाध्ययनसङ्क्रान्तिश्चेह षोडशकर्मणाम् ।

प्रयोजनं च विज्ञेयं तत्तत्कालविनिर्णयः ॥ .

विनैतदखिलं प्रोक्तं स्मार्तं कर्म न सिद्ध्यति ।

तस्माज्जगद्धितार्थाय ब्रह्मणा निर्मितं पुरा ॥ ” इति ।

ननु चात्रादौ जगणप्रयोगः कथं “जस्मूर्यो रुजमातनोति”
इति स्मरणात् । उच्यते—जगणस्य सूर्यदैवताकत्वादस्य शास्त्रस्थ
तच्चारोऽभिधायित्वात् साधुरिति ।

अभिधेयं प्रतिज्ञाय सङ्केतप्रचुरस्यास्य शास्त्रस्यार्थावगति
स्तत्तत्सङ्केतावगमादृते न स्यादिति संज्ञां वक्तुमुपक्रमते—

**क्रमेण राशिग्रहतारकादेस्संज्ञां वयं तावदिहा-
भिदध्मः । शास्त्रार्थबोधः खलु तस्य तस्य संज्ञा-
मविज्ञाय जनस्य न स्यात् ॥ ५ ॥**

इह शास्त्रे वयं तावत् आदौ क्रमेण राशिग्रहतारकादेः
राशयो मेषाद्या लग्नादिभावाश्च, ग्रहाः सूर्याद्याः, तारका आश्वि-
न्याद्याः, आदिशब्देन तिथिवारयोगकरणानि गृह्यन्ते । राशि-
भावग्रहनक्षत्रतिथिवारयोगकरणानां संज्ञां अभिदध्मः ब्रूमः ।
“आत्मनि गुरुषु बहुवचनं” इति आत्मैकत्वेऽपि बहुवचन
प्रयोगः । किमर्थं संज्ञाभिधानमित्यत आह—शास्त्रार्थबोधः शास्त्र-
र्थानां राश्यादीनां बोधः शास्त्राभिधेयराश्याद्यवगतिः श्रोतुः जनस्य
तस्य तस्य राश्यादेस्संज्ञां सङ्केतनाम अविज्ञाय न स्यात् खलु
यस्मात् तस्मात् शास्त्रार्थावगमाय संज्ञाऽभिधीयत इत्यर्थः ।
अथवा गुरूपदेशादृते जनस्य काव्यादिवत् स्वधियाऽधीयानस्य

तत्तत्संज्ञामविदित्वा एतच्छास्त्रार्थबोधो न भवतीति ज्योतिशास्त्रस्य
आचार्योपदेशगम्यतां प्रतिपादयितुं संज्ञा अभिधीयत इत्यर्थः ।

अथ राशीनां संज्ञामाह—

अजाख्यमाद्यं प्रवदन्ति मेषं राशिर्वृषो गो-
वृषभाभिधानः । वीणायमाख्यं मिथुनं नृयुग्मं
स्यात्कर्कटः कर्कटकश्च कर्की ॥ ६ ॥ सिंहं च
कन्यां च निजाऽभिधानैः प्राहुस्तुलां तौलिवणिक्प-
दाभ्याम् । कीटालिसंज्ञामथ वृश्चिकस्य धनुर्हयाङ्गं
च धनुर्वरं च ॥ ७ ॥ मृगश्च नक्रो मकरो मृगास्यो
द्वौ कुम्भमीनौ निजनामवाच्यौ । पर्यायनामानि
वदन्ति चैषां कथ्यन्त एते प्रथमादिशब्दैः ॥ ८ ॥

आद्यं द्वादशराश्यात्मके क्षेत्रे प्रथमं राशिं द्वादशभागं
अजाख्यं अजस्य छागस्याख्यैवाख्या यस्य तं अजाभिधानवा-
च्यमित्यर्थः । मेषं च मेषाख्यं च वदन्ति । केचिदेवं योजयन्ति
मेषं राशिमाद्यं अजाख्यं च वदन्ति । मेषस्याद्यसंज्ञानं वृषादीनां
द्वितीयादिसंज्ञानस्योपलक्षणमिति । तदसत् । यतो वक्ष्यति 'कथ्यन्त
एते प्रथमादिशब्दैः' इति । तेन पौनरुक्त्यं प्रसज्येत । तस्मात् प्रा-
क्तमेव व्याख्यानं साध्विति । वृषो द्वितीयो राशिः गोवृषभाभि-
धानः गौश्च वृषभश्च गोवृषभौ तयोरभिधानमस्येति । यद्वा—
गोवृषभशब्दाविधाने वाचकावस्येति बहुव्रीहिः, गोवृषभशब्दवाच्य

इत्यर्थः । एवं सर्वत्र विग्रहो द्रष्टव्यः । मिथुनं तृतीयो राशिः
 नृयुगसंज्ञः । वीणाशब्देन यमशब्देन च वाच्यः । यमौ यमलौ
 तद्वाच्यः । कर्कटकश्चतुर्थो राशिः कर्कटः कर्की च स्यात् । सिंहं च
 पञ्चमराशिं कन्यां षष्ठराशिं च निजाभिधानैराहुः सिंहं सिंह
 नामभिः कन्यां कन्यानामभिरित्यर्थः चशब्दस्त्रीपर्यायमात्रस्यापि
 ग्रहणार्थः । तुलां सप्तमराशिं तौलिशब्देन वणिक्पदशब्देन
 च कथयन्ति तौलिस्तुला वणिक्पदमापणम् । अपिच तौलिशब्देन
 वणिकृच्छब्देन च वदन्ति । वृश्चिकस्याष्टमराशेः कीटाकिसंज्ञां
 कीटश्च अकिश्च कीटाळी तत्संज्ञां कीटसंज्ञामाकिसंज्ञां चाथ
 कात्स्न्येनाहुः । यद्यपि शास्त्रान्तरे कर्कटकस्यापि कीटसंज्ञाऽस्ति
 तथाऽपि वृश्चिकस्य कृत्स्नशास्त्रेष्वपि साऽस्तीति कात्स्न्यार्थमथशब्दः ।
 धनुः नवमराशिं हयाङ्गं चशब्दात् हयं च धनुर्धरं चशब्दादध्या-
 रोहं च प्राहुः । मकरो दशमराशिः मृगः नक्रः मृगास्यः
 इति नामभिर्वाच्यः । कुम्भमीनौ द्वौ एकादशद्वादशौ राशी नि-
 जनामभिः वाच्यौ स्तः । एकादशराशिः कुम्भनामभिर्वाच्यः, द्वा-
 दशराशिः मीननामभिर्वाच्यः । मेषादीनां यद्येतावन्त्येव नामानि
 कथं तर्हि चापहरिणाननादीनां ग्रहणमित्यत्राह—पर्यायनामानि
 वदन्ति चैषां इति । मेषादिराशिवाचकानामजादिशब्दानां स्वस्व
 पर्यायपठितानि च नामानि संज्ञात्वेन वदन्ति । यथा अजः
 छागो वस्तः । वृषः पुङ्गवः ककुद्मान् । मिथुनं वीणा वल्लकी ।
 सिंहो मृगेन्द्रः केसरी । कन्या कुमारी स्त्री योषिद्युवतिः । तुला
 घटः । वृश्चिकः अकिः भृङ्गः । धनुश्चापः हयस्तुरगः धनुर्धरो
 धन्वी । मकरो मृगो हरिणः नक्रश्शिशुमारः मृगास्यो हरिणा-
 ननः । कुम्भः पयोधरो घटः । मीनो जलपशव इत्यादीनि ।

तथैव एते मेषाद्याः प्रथमादिभिः प्रथमद्वितीयादिद्वादशपर्यन्तैश्श-
ब्दैः कथ्यन्ते। यथा मेषः प्रथमः, वृषो द्वितीयः, मिथुनं तृतीयं, इत्यादि।
राशीनां संज्ञान्तरमाह—

संज्ञाभिः क्रियलेयजूकजतुमाः¹ कोर्पिः कुळीर-
स्तथा हृद्रोगेत्थसितौक्षिकाश्च कथिताः पाथोनक-
स्ताबुरुः । आकोकेर इतीह मेषमृगपौ तौळिर्नृ-
युग्माळिनौ कर्की कुम्भझषौ धनुर्युवतिगोनक्राः
क्रमाद्राशयः ॥ ९ ॥

इह शास्त्रे मेषाद्याः द्वादश राशयः पाठानुक्रमेण क्रिय
इत्यादिसंज्ञाभिः कथिताः । यथा—मेषः क्रिय इति, मृगपः सिंहो लेयः,
तौळिर्नृकः, नृयुग्मं जतुमः, अळिर्वृश्चिकः कोर्पिः, कर्की कर्कटकः
कुळीरः, कुम्भो हृद्रोगः, झषः मीनः इत्थासिः, धनुः तौक्षिकः,
युवतिः कन्या पाथोनकः, गौः वृषभः ताबुरुः, नक्रो मकरः आको-
केर इति संज्ञया कथिता इत्यर्थः ॥

राशीनां सामान्यसंज्ञामाह—

स्थानं क्षेत्रमिति द्वे गृहस्य पर्यायनाम निखि-
लमपि । राशीनां नाम स्याद्भ्रमृक्षमिति राशि-
तारयोरुभयोः ॥ १० ॥

स्थानं क्षेत्रमिति द्वे नामनी, गृहस्य निखिलं पर्यायनाम मन्दिरालयास्प-
दानिकेतनाद्यपि द्वादशानां राशीनामपि नाम सामान्याभिधानं स्यात् ।

तथा भमृक्षमिति द्वे राशिनक्षत्रयोर्द्वयोरप्यभिधेययोः स्तः । यथा भं राशिः भं नक्षत्रं, ऋक्षं राशिः ऋक्षं नक्षत्रमिति । नन्विह राशि सामान्यस्य गृहसंज्ञाऽभिहिता । उपरि चतुर्थभावस्य च वक्ष्यति । तत् गृहमित्युक्ते (कतरस्येह ग्रहणमिति) कथमध्यवसेयम्, उच्यते— यत्र स्वामिसंङ्ख्याभावसंयोगस्तत्र राशिसामान्यस्य, यथा भौमगृहं-षष्ठं गृहं सुतुगृहमिति । यत्र तु स नास्ति तत्र चतुर्थस्थानस्य, यथा गृहे सूर्यो मानहेति ।

अथ भावशब्दवाच्यानां राशीनां संज्ञामाह—

होरात्मकल्यतनुमूर्त्यभिधं तु लग्नं स्थानं कुटुम्बधननाम परं तृतीयम् । दुश्चित्कविक्रमसहोदर संज्ञमन्यत्पातालबन्धुहिबुकाम्बुसुखालयाख्यम् ॥

धीपुत्तप्रतिभाभिधानमपरं षष्ठं क्षतार्याह्वयं जामित्रास्तकळत्रमन्मथमद्यूनाभिधं सप्तमम् । रन्ध्रायुर्मरणं पराभवमृतिस्थानं वदन्त्यष्टमम्, गुर्वाख्यं नवमं बुधैरिह शुभं धर्मस्तपश्चोच्यते ॥

स्यादाज्ञास्पद¹मान कर्मगगनव्यापारमेषूरणं प्रख्यातं दशमं परं तु कथयन्त्यायं भवं चागमम् । स्थानं द्वादशमामनन्ति मुनयो रिप्फव्ययाख्या-

नितं लग्नादिष्वभिधीयते च निखिलं पर्यायना-
मान्तरम् ॥ १३ ॥

लग्नं इष्टराशयुदयः । 'राशीनामुदयो लग्नम्' इत्यमरः । होरा-
त्मकलयतनुमूर्त्यभिधं होरा आत्मा कल्यं तनुमूर्तिरित्येता अभिधाः
अभिधानानि यस्य तत्, प्राग्लग्नं होरादिपञ्चसंज्ञं भवतीत्यर्थः ।

ननु 'लग्नादिष्वभिधीयते च निखिलं पर्यायनामान्तरं' इति
वक्ष्यति, किं पुनरिहैकार्थानामात्मतनुमूर्तिशब्दानां त्रयाणां ग्र-
हणमिति, एवं मन्यते—आत्मशब्दस्तावत् लग्नस्य शुभाशु-
भज्ञाननिमित्तां सर्वभावोत्कृष्टतां च दर्शयितुं गृहीतः । तथा
हि—आत्मशब्दस्सर्वकारणे परमात्मनि सर्वोत्कृष्टे जीवात्मनि च
वर्तते । मूर्तिशब्दस्त्वेकाभिधेये पर्यायप्राचुर्येऽपि । लोकप्रासिद्ध्यैव
पर्यायनामान्तरं प्रयोक्तव्यमिति । तथा च वराहमिहिरः—'प-
र्यायमन्यदुपलभ्य वदेच्च लोकात्' इति । लग्नात्परं द्वितीयं स्थानं
कुटुम्बधननाम कुटुम्बाख्यं धनाख्यं च स्यात् । तृतीयं स्थानं
दुश्चिन्तादिसंज्ञात्रययुक्तं स्यात् । अन्यच्चतुर्थं स्थानं पातालादि
संज्ञाषट्कयुक्तं स्यात् । अपरं पञ्चमं स्थानं धीपुत्रप्रतिभाभिधानं
वदन्ति । षष्ठं स्थानं क्षतशत्रुद्विसंज्ञायुतम् । सप्तमं जामित्रादि
संज्ञाषट्कयुक्तं स्यात्, अष्टमं स्थानं रन्ध्रादिचतुष्टयसंज्ञायुतं वद-
न्ति । रन्ध्रायुर्मरणमिति समाहारे द्वन्द्वैकवद्भावः । नवमं स्थानं
ज्योतिश्शास्त्रविद्विर्गुर्वादिसंज्ञाचतुष्टयान्वितमुच्यते । दशमं स्थानमा-
ज्ञादिसंज्ञासप्तकयुतं स्यात्, यद्यपीहास्पदशब्देन^१ गृहपर्यायः, त-

^१ आस्पदशब्दो गृहपर्याय इति युक्तं स्यादिति भाति.

थाऽपि चतुर्थस्थानवाचकतया लोकप्रसिद्ध्यभावाद्दशमस्थानवाचकत्वमेव प्रसिद्धम्, न तु तत्पर्यायस्य । अत एवोक्तं प्रख्यातमिति । दशमं स्थानं आज्ञादिशब्दसंज्ञामात्रयुक्तं, न तु तत्पर्यायसंज्ञं प्रसिद्धं स्यात् । परं त्विति तु शब्दसंसहावलोकनन्यायेन परावृत्य प्राक् सम्बध्यते । तेनायं विशेषस्तिष्यति । यद्यप्याज्ञादीनां पर्यायनामग्रहणं नास्ति, तथाऽपि गगनमित्याकाशपर्यायो गृह्यते । परमेकादशं स्थानमायादिसंज्ञा(त्रया)न्वितं कथयन्ति । द्वादशं स्थानं रिपुषं व्यय इति द्वाभ्यामाख्याभ्यां युक्तमामनन्ति आहुः । एवमुक्ताः संज्ञाः पूर्वैरेवाभिहिताः न तु मया स्वधियैव कृता इति द्योतयितुमामनन्ति मुनय इत्युक्तम् । एवमभिहितेषु लग्नादिषु सर्वं पर्यायनामान्तरं तन्वादिपर्यायनामाभिधानमपि यथासम्भवमभिधीयते मुनिभिरिति शेषः । सति सम्भवे पर्यायनामापि स्यादित्यर्थः । तदर्थं चशब्दः । तथा हि—होराहिबुकदुश्चित्कमेषूरणादीनां पर्यायानां सन्ति । तत्र तावत् लग्नहोराकल्याणां पर्यायान्तरस्याप्रसिद्धिः । तनोस्तु 'अङ्गं प्रतीकोऽवयवोऽपघनोऽथ कळेवरम् । गात्रं वपुस्संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः । कायो देहः क्लीबपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः' । इत्यमरः । आत्मा देह इति च । अत्र प्रतीकसंहननादीनां तनुपर्यायत्वेऽपि लोकप्रसिद्ध्यभावाद्वृत्तिर्नास्ति । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । धनस्य पर्यायशब्दाः अर्थस्ववित्तवसुद्रव्यद्विणादयः । सहोदरस्य भ्रातृसहजसहोत्पसोदरादयः । पातालस्य रसातालयाः । बन्धोः बान्धवमुहृन्मित्राद्याः । अम्बुनः तोयपयस्सलिलाम्भोवारिनीराद्याः । मुखस्य शर्मसौख्याद्याः । गृहस्य सद्मसदनमन्दिरालयवसतिनिकेतनाद्याः । धियः मतिबुद्ध्याद्याः । पुत्रस्य तनयतनुजात्पत्यात्मजसुताद्याः । शत्रोः सपत्नद्विषदरिवैरिद्वेषिप्रत्यर्था

द्याः । कळत्रस्य दारपत्नीप्रियाभार्याजायाद्याः, स्त्रीपर्यायाश्च । मन्म-
थस्य स्मरकाममारमदनमनसिजाद्याः । रन्ध्रस्य सुषिरविवरत्रिलाद्याः ।
मरणस्य मृतिमृत्युनिधनान्ताद्याः । गुरोः देशिकाचार्याद्याः । शुभस्य
कल्याणमङ्गळाद्याः । धर्मस्य वृषसुकृताद्याः । गगनस्य खाभ्रद्यु-
व्योमाम्बरनभोऽन्तरिक्षवियदाकाशाद्याः । आयस्य लाभगमाद्याः ।
व्ययस्य हान्याद्याः प्रसिद्धाः । होराहिबुकदुश्चित्कजामित्रघ्नूनमे-
षूरणरिप्पशब्दानां पर्याया न सन्ति प्रायेणान्येषामप्रसिद्धा इतीह
ग्रन्थविस्तरभीत्या नाभिहिताः । यदि कचिदन्येऽपि सन्ति ते तत्र
तत्रैवाभिधास्यन्ते ।

अथ के पुनरेते भावा नाम, ये तनुधनसहजबन्धुसुतरिपुदार-
रन्ध्रशुभकर्मव्ययसंज्ञाः ज्योतिर्विद्विः कल्पित्वा उच्यन्ते, भावयन्ति
उत्पादयन्ति नृणां शुभाशुभानीति भावाः । यद्वा भावयन्ति निरूपयन्ति
शुभाशुभानि एभिरिति भावाः राशयः । शुभाशुभज्ञानाय ज्योतिर्विद्विः
कल्पिताः तन्वादिसंज्ञिताः क्षेत्रविशेषाः । ते यावन्तं कालं
पूर्वहरितमारभ्योद्गच्छन्ति स कालो लग्नादिसंज्ञितः । तदानयनाय
स्वेष्टकालिकात् स्वायनांशसहितात् स्फुटार्कात् उदयलग्नं साधयेत् ।
यथोक्तं रत्नेन—

भोग्यात् सहस्रकिरणेन गृहस्य भोगान्
सन्ताडयेत् तदुदयेन हरेत्स्वरागैः ।
लब्धं त्यजेदसुसमूहमभीप्सितेभ्योऽ-
सुभ्यः क्षिपेद्दिनकरेऽपि च राश्यभुक्तम् ॥
यावन्त एवमुदया निपतन्त्यसुभ्यो
राशीन् क्षिपेत्तदनु तावत् एव सूर्ये ।

शेषात्स्वरामगुणितादविशुद्धलब्ध

भागादिकाच्च भवतीष्टविलग्नमेवम् ॥ इति ॥

दिने गतघटीभिरं लग्नं साधयेत् । रात्रावप्येवं राशिगतघटिका-
भिलग्नं संसाध्य राशिषट्कं क्षिपेत् । तथा च रल्लः—

उद्गच्छतः परिमितिर्भवनस्य या स्या

दस्तं यतो जलपतोर्दिशि साऽस्तराशेः ।

कृत्वेष्टकालिकमिनं द्युगतेर्विधेयं

काले विलग्नमथ भाऽर्धयुतं रजन्याम् ॥ इति ।

एतदेव षड्राशियुतमस्तलग्नं स्यात् । तथाचोक्तमनेन—

चक्रार्धयुक्तमिदमस्तविलग्नमाहुः इति ।

अथ धनव्ययादिभावानां निरसोदयानीतमध्यलग्नपाताळलग्न
प्रत्यासत्तिवशात्तृशङ्कागावच्छिन्नराशिक्षेत्रत ऊनाधिकभावसंभवात्ताव-
न्मध्यलग्नानयनाय प्राङ्मनतकालानीतं राश्यादिकमर्काद्विशोधयेत् ।
प्रत्यङ्मनतकालानीतमर्के योजयेत् । मध्यलग्नं भवति । यथाऽऽह
भास्करः—

¹ लग्नोदयानतावासानवगम्य रवेरसून् ।

तिथिमध्यान्तरासुभ्यो हित्वा शोध्यं गतं ततः ।

शेषेऽपि यावतां सन्ति व्युत्क्रमात्तावतस्त्यजेत् ॥

भागान् लिप्ताश्च पूर्वाह्ने मध्यलग्नमुदाहृतम् ।

अपराह्णे च यः कार्यो गन्तव्यादेर्विवस्वतः ॥ इति ।

² एतदेव सषड्भं पाताळलग्नं भवति । तथाच श्रीधरः³—

सषड्भं मध्यलग्नं तु पाताळं प्रोच्यते बुधैः । इति ।

¹ लङ्कोदया । लङ्कोदयानुपातासान् । ² एतावदेव । ³ श्रीपतिः.

एवमानीतेषु चतुर्षु लग्नादिषु द्वयोर्द्वयोनिरन्तरयोरन्तरं न्यस्य त्र्यंशं पृथ-
गेकेन द्वाभ्यां च सङ्गुण्य लग्नादिषु द्विष्टेषु निक्षिपेत् । तत्तत्समनन्तरभा-
वा भवन्ति । एतेऽष्टौ लग्नादीनि चत्वारोति द्वादश भावा आनीयन्ते ।
एभिरेव द्वादशभिर्भावैस्सर्वैः शुभाशुभं निरूपणीयम् ।

तथाच श्रीपतिः—

लग्नं चतुर्थाद्विबुक्कं कलत्राज्जामित्रभम्भध्यविलग्नतश्च ।

खभं विलग्नञ्च विशेष्य शेषं तत्त्रयंशमेकं द्विगुणं निदध्यात् ॥

लग्नम्बुजामित्रनभोगृहेषु तदन्तरालोद्भवभावसिद्धयै ।

सिध्यन्ति भावा द्विगुणाषड्वेवं शुभाशुभं चिन्त्यमशेषमेभिः । इति

आनीता एते द्वादश भावमध्यास्युः । तदाद्यन्तावगमाय निरन्तरयो-
रुभयोर्योग्योर्भावं विधायाऽर्धितं यावद्वाश्यादिके प्रदेशे तयोस्सन्धिः
पूर्वस्यान्त उत्तरस्यादिश्च भवति तत्र स्थितो ग्रहः उभयभावाना-
श्रयणादफलः । भावसन्धेरूनो ग्रहः पूर्वभावगतमाधिकं उत्तरभावगतं
फलं प्रयच्छति । तथाच जातकपद्धतौ—

वदन्ति भावैक्य¹दलं हि सन्धिस्तत्र स्थितस्स्यादफलो ग्रहेन्द्रः ।

ऊनस्तु सन्धेर्गतभावजातमागामिजं चाभ्यधिकं करोति ॥

इति ॥ एवं भावकल्पनया ग्रहाणामेकराशिगतानामपि भावभेदात्
फलभेदस्स्यात् । भिन्नभराशिगतानामप्येकभावाश्रयणात् फलैक्यं स्या-
त् । तथा च नारदः—

लग्नस्य र्थेऽशाम्युदिताः तत्सङ्ख्येषु स्थितो ग्रहः ।

²लग्नाद्भावफलं दत्ते तानतीतो द्वितीयजम् ।

फलं स्थानेषु शेषेषु चैवमेवं प्रकल्पयेत् । इति ।

(अत्र) भावारम्भादुपक्रम्य क्रमादुपचीयमानं फलं भावमध्ये पूर्णं स्यात् । तस्मात् क्रमेण क्षयमाणं भावान्ते शून्यं भवतीति भावफलं भावमध्यसमे ग्रहे पूर्णं स्यात् । तदूने तदधिके च त्रैराशिकेन फलं प्रकल्पयेत् । तथा च श्रीपतिः—

भावप्रवृत्तौ हि फलप्रवृत्तिः पूर्णं फलं भावसमांशकेषु ।
 द्वाप्तक्रमाद्भावविरामकाले फलस्य नाशः कथितो मुनीन्द्रैः ॥
 भावांशतुल्यः खलु वर्तमानभावोद्भवं पूर्णफलं विधत्ते ।
 भावोनके चाप्यधिके च खेदे त्रैराशिकेनात्र फलं प्रसाध्यम् ॥

इति । ननु यद्येवं भावफलं कल्प्यते आदौ पूर्णफलं स्यात् मध्ये मध्यफलकरं लग्नमवसाने अल्पफलं स्यादिति लग्ननिश्चयः कार्य इति रङ्गेनोक्तमनेन विरुध्यते, न, यतो रङ्गवचनं राशिविषयम् तथा हि—राशेः फलं प्रथमद्वेकाणे पूर्णं, मध्ये मध्यमन्त्येऽल्पं च भवति । ननु राशिभावयोरभेदात् भावस्यापि राशिवत् फल कल्पना किं न स्यात्, एवं मन्यते, राशीनामेकैकग्रहाधिपत्यानियमात् सुकरः फलदेशः । भावानां तु तथाऽऽधिपत्यनियमाभावात् फलदेशो दुष्करस्स्यात् । तथाहि—कदाचिद्वाशिद्वयव्यापिनो लग्नादेरेकैकस्य भावस्य तद्वाशिद्वयस्याधिपती द्वावप्याधिपत्यमभिलषतः कदाचिदाद्यराश्यधिपतिरेव न तथेष्यते । भावमध्ये फलं संपूर्यत इत्यत्र तु यस्मिन् राशौ भावमध्यं स्यात् तद्वाश्यधिपतिरेव भावाधिपतिरिति सुकरः फलदेशः । तस्मादिदमेव श्रेय इति एवमपि सुबोधकृतोक्तं विरुध्यत एव । तथाच ¹तद्वाक्यम्—

अशुभं च शुभं चोद्यन्नुदेष्यन्नुदितो ग्रहः ।

त्रिद्वेकगुणमाधत्ते लग्नादिस्थानमाश्रितः ॥ इति ।

एतत् ग्रहविषयमस्य सम्मतमेव । तद्यथा—लग्नादिभावस्थितो ग्रहस्तद्भावमध्यमश्चेत् तद्भावोक्तं स्वफलं त्रिगुणं करोति, तद्भावमध्यादधिकश्चेत् ताद्विगुणं, तद्भावमध्यादूनश्चेत् तदेकगुणं यथाप्राप्तमेव करोति । एवमनयोस्सम्प्रतिरेव । अत्रेयमुपपत्तिः—भावमध्यसमे ग्रहे लग्नग्रहयोरुभयोर्भावमध्यसंयोगात् फलस्य त्रैगुण्यं स्यादेव । तदूने तु लग्नभावफलस्य प्रवृत्तेर्ग्रहभावफलस्य द्वासाच्च ¹ तत्रैकमेव फलं । तथा तदधिके ग्रहभावफलस्य प्रवृत्तेः लग्नभावफलस्य द्वासात् तत्राप्येकमेव । तच्च ग्रहस्यादृश्यार्धावस्थानाद्विगुणं स्यादिति । सर्वत्रैवमेव शुभाशुभफलं वदेत् । तच्च षड्विधं—ग्रहजं भावजं राशिजं ग्रहभावजं ग्रहराशिजं योगजं चेति । तत्र स्वतन्त्रेण ग्रहैर्दीयमानं ग्रहजं, तथा भावैर्भावजं, राशिभिराशिजम् । तथा ग्रहैर्भावनिवन्धनं दीयमानं ग्रहभावजं, ग्रहैराशिनिबन्धनं दीयमानं ग्रहराशिजं, ग्रहैः राशिभावनिवन्धनं दीयमानं योगजमिति । तेषु राशिजमेव रत्नमतस्य विषयः । अन्यानि श्रीपतिमतस्य विषया इति । सर्वासु शुभक्रियास्वेवमेव भावाः प्रकल्पनीयाः । तथाच श्रीधरः—

यत्राविवाहादिषु शोभनेषु कार्येष्वथान्येषु च जन्मकाले ।

भावान्प्रकुर्याद्वचनादिदृष्टानुक्तान् मया शिष्यहितार्थमिच्छम् ।
इति । एवं भावानयनमनादृत्य राश्याद्यन्तयोरिष्टकालयोरपि राशिमध्य एव भावमध्यत्वेन कल्पिते वैषम्यात् भावफलं न सम्भवेत् ।
यथाऽऽह श्रीपतिः—

¹ तत्रैवमेव.

जन्मप्रयाणव्रतबन्धचौल्लतृपाभिषेकादिकरग्रहेषु ।

एवं हि भावाः परिकल्पनीयास्तैरेव भावोत्पन्नफलानि¹ यस्मात् ॥

इति । तथा फलवैषम्ये सत्यनुभवविसंवादात् प्रमाणचतुष्टयविरोधश्च जायते । तस्मादस्मदुक्तमेव भावानयनं ग्राह्यामित्यलमतिप्रसङ्गम् ॥

अथ ग्रन्थलाघवात् केषांचित् स्थानानां समुदायव्यापिनीं प्रत्येकव्यापिनीं च संज्ञामाह—

लग्नात्सुतं च नवमं च विदुस्त्रिकोणं तस्माच्च-
तुर्थ²निधने चतुरश्रसंज्ञे । प्रत्येकमस्तसुखकर्मविल-
ग्नभानां स्यात्केन्द्रकण्टकचतुष्टयनामधेयम् ॥ १४ ॥

लग्नात् पञ्चमनवमौ राशी त्रिकोणमित्याहुः । तथा लग्नाच्चतुर्था-
ष्टमस्थाने चतुरश्रमाहुः । सप्तमचतुर्थदशमलग्नराशीनां केन्द्रादिना-
मत्रयमपि स्यात् । सप्तमादीनां प्रत्येकं केन्द्रादिसंज्ञा स्यात् । प्रत्येकं
स्यादिति वा । एतास्संज्ञास्सप्तमादिस्थानसमुदायस्य प्रत्येकमेकैकस्था-
नस्य च स्युरित्यर्थः ॥

केन्द्रात्परं पणपरं कथयन्त्यापोक्लिबं ततश्च
परम् ।³ रिपुविक्रममेषूरणभवभवनान्युपचयाभि-
धानानि ॥ १५ ॥

केन्द्रात्—लग्नचतुर्थसप्तमदशमस्थानेभ्यः परं द्वितीयपञ्चमाष्टमैक-
दशस्थानानि पणपरसंज्ञानि कथयन्ति । ततः—पणपरस्थानात् परं
तृतीयषष्ठनवमद्वादशस्थानानि आपोक्लिबसंज्ञानि । आपोक्लिबमित्य-
न्ये । तथाचात्रिः—

¹ योयोत्यफलानि.

² मरणे.

³ ऋतु.

तृतीयनवषष्ठान्त्या आपो क्षिमा इति स्मृताः । इति ।
षष्ठतृतीयदशमैकादशस्थानान्युपचयसंज्ञानि । इह त्रिषड्दशैकादशस्था-
नानामुपचयसंज्ञाभिधानात्तदन्यान्यष्टौ स्थानान्यनुपचयसंज्ञानीत्यर्थादेव
सिद्धम् । तथा च ब्रह्मिहिरः—

त्रिषडेकादशदशमान्युपचयसंज्ञान्यतोऽन्यानि । इति ।
ननु कचिदुपचयपणपरसंज्ञाद्वयसन्निपातात् कचिदुपचयपणपरत्रिकोणा-
दिसंज्ञात्रयसन्निपातात् किन्निबन्धनमिदं फलं ग्राह्यमिति संशय-
स्यात्, न, यदा पणपरत्वेन फलं निर्दिश्यते तदा पणपरमेव,
यदा तूपचयत्वेन तदोपचयं, यदा त्रिकोणत्वेन तदा त्रिकोणमे-
वेति । किञ्च—

अयुगोजाख्यं विषमं स्थानं युग्मसंज्ञितं तु
समम् । संख्यास्तु लोकसिद्धाः क्षितिरसबाणान-
लादिवस्तूनाम् ॥ १६ ॥

विषमं स्थानं प्रथमतृतीयादि विषमसङ्ख्यो मेषाद्यो राशिर्लघ्ना-
दिभावश्च अयुक्संज्ञ ओजसंज्ञश्च स्यात् । द्वितीयचतुर्थीदिसमसङ्ख्यः
वृषभाद्यो राशिः धनाद्यो भावश्च युक् संज्ञः युग्मसंज्ञश्च स्यात् । अथ
संख्यानिर्देशे कर्तव्ये लाघवेन सौष्ठवेन चाभिधातुं भूतसङ्ख्याप्र-
सिद्धिमाह—सङ्ख्यास्तु लोकसिद्धा इति । क्षितिः भूमिरैका, रसाः
मधुरादयः षट्, बाणाः पञ्च सम्मोहनादयः, अनलाः बह्वस्त्रयोऽ-
न्वाहार्याद्याः^१ आदिशब्देन शैलसमुद्रादयो गृह्यन्ते । क्षित्यादिवस्तूनां
सङ्ख्या एकत्वाद्याः लोकप्रसिद्धा एव । त इह नोच्यन्त इति

^१ गार्हपत्याद्याः.

शेषः । वक्ष्यमाणाः सित्यादिशब्दाः एकादिसंख्यावाचकाः लोक-
प्रसिद्धचैव ग्राह्या इत्यर्थः । यथा भूरेका । अश्विनौ द्वौ । वह्नय-
स्त्रयः । समुद्राश्चत्वारः । बाणाः पञ्च । रसाण्यष्ट । शैलास्सप्त ।
वसवोऽष्टौ । नन्दा नव । दिशो दश । रुद्राः एकादश । आदित्याः
द्वादश । विश्वे त्रयोदश । मनवश्चतुर्दश । तिथयः पञ्चदश । नृपा-
ण्योऽष्टदश । अत्यष्टयस्सप्तदश । पुराणान्यष्टादश । अतिधृतयः एको-
नविंशतिः । ¹नखाः विंशतिः । समिध एकविंशतिः आकृतिर्द्वाविं-
शतिः । विकृतिस्त्रयोविंशतिः । जिनाश्चतुर्विंशतिः । ²अभिकृतिः पञ्च-
विंशतिः । उत्कृतिष्ण्ड्विंशतिः । नक्षत्राणि सप्तविंशतिः । दन्ताः
द्वात्रिंशत् । देवास्त्रयस्त्रिंशत् । इत्यादिलोकप्रसिद्धत्वादिह नोच्यन्ते ॥

अथ प्रश्नलभ्यात् कार्यासिद्धयसिद्धिज्ञानाय राशीनां शीर्ष
पृष्ठोभयोदयत्वमाह—

धनुःप्रथमकर्कटौ वृषमृगौ च पृष्ठोदया-
स्त एव सयमा निशाबलभृतोऽथ मूर्धोदयाः ।

परे दिनबला द्विधा झष उदेत्यथाजादयो

नृत्योषिदभिधाश्चरस्थिरचरोभयाख्याः क्रमात् ॥ १७

धनुर्मेषकर्कटवृषमकराः पञ्च राशयः पृष्ठोदयाः पृष्ठेनोद्यन्ती-
त्यर्थः । सयमाः मिथुनसहिताः त एव धनुराद्याः रात्रिबलवन्तः ।
धनुर्मेषवृषकर्कटमकरमिथुनाः षड्राशयो रात्रिबलोदया इत्यर्थः ।

अथ—कात्स्न्येन । सर्वे परे—उक्तेभ्योऽन्ये राशयश्शीर्षोदया
दिनबलाश्च भवन्ति । (तत्र) पृष्ठोदयेभ्योऽन्ये सिंहकन्यातुलाकीटकुम्भ-
मीनराशयः शीर्षोदयाः, रात्रिबलेभ्योऽन्ये सिंहकन्यातुलाकीटकुम्भ-
मीनाण्यष्टाशयो दिनबलाः, द्विधा झषः—मीनो द्विधा शीर्षपृष्ठाभ्या-

मुदेति । मीनस्त्वितरेतराविपर्याश्लिष्टमीनद्वयात्मकः । तयोरेकश्चिरसा
अन्यः पृष्ठेनोदेति । अतस्स उभयोदयः । तथा च वराहमिहिरः—

गोलाश्विकर्कमिथुनास्समृगा निशाख्याः पृष्ठोदया वि-
मिथुनाः कथितास्त एव । शीर्षोदया दिनबलाश्च भव-
न्ति शेषा लग्नं समेत्युभयतः पृथुरोमयुग्मम् । इति ।

इह राशीनां निशादिनबलत्वकथनं संज्ञामात्रसम्पादकम् । तेषां तु
बलस्योत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वात् । संज्ञानप्रयोजनं चोक्तं कृष्णेन—

पृष्ठोदये तु सिध्यत्यशुभं मूर्धोदये शुभं कार्यम् ।
उभयोदये विमिश्रं ग्रहरहितेभ्यः फलं वाच्यम् ॥ इति ।

द्वितीयोऽथशब्दसंज्ञान्तरारम्भार्थः । मेषादयस्सर्वे नरयोषि-
त्संज्ञाः क्रमात् षडावृत्त्या भवन्ति । विषमाः पुंसंज्ञाः । समाः
स्त्रीसंज्ञा इत्यर्थः । तेषु पुराणयः क्रूराः । स्त्रीराण्यः सौम्या-
स्स्युः । अपि च मेषाद्यास्त्रयस्त्रयः क्रमात् चतुरावृत्त्या चरस्थिरो-
भयाख्या भवन्ति । तथाच वराहमिहिरः—

क्रूरसौम्यः पुरुषवनिते ते चरागाद्विदेहाः । इति ।

अत्र चरग्रहणं चरस्थिरौ द्वावेव प्रकृती इति प्रदर्शनाय ।
तथाहि—उभयस्तूभयात्मकः । तस्य पूर्वमर्धं स्थिरमन्यच्चरम् ।
तथा च—स्थिरवत्प्रथमेऽर्धे स्यात् न परे चरराशिवत् सर्वम् ॥ इति ।

अथ राशीनामूर्ध्वमुखादि संज्ञामाह श्लोकार्धेन—

मुक्तारूढयियासितानि भवनान्युष्णात्विषोपर्य-
धस्तिर्यग्भूतमुखान्यथैवमपरे प्राहुश्चरादीन्यपि ।

रविणा भुक्तोज्झिताक्रान्तबुभुक्षितानि भवनानि ऊर्ध्वधस्ति-
र्यङ्मुखानि प्राहुः । अर्केण भुक्तोज्झितो राशिरूर्ध्वमुखः । आक्रान्तो
राशिरधोमुखः । भोज्यस्तिर्यङ्मुखः इत्यर्थः । अथानन्तरमप्येवं त्रीणि
तौण्यूर्ध्वधस्तिर्यङ्मुखानि स्युरिति शेषः । तथा च कृष्णः—

ऊर्ध्वमुखो रविमुक्तो राशिर्युक्तस्त्वधोमुखो ज्ञेयः ।

अभिलषितस्तिर्यास्यस्तेषां केन्द्राश्च तत्संज्ञाः ॥ इति ।

तत्प्रयोजनं च तेनैवोक्तं—

ऊर्ध्वमुखो यदि राशिर्होरा लग्ने नरस्य सिद्धिकरी ।

¹ अन्यौ विफलं वदतश्शुभयुतदृष्टौ शुभाख्यौ च ॥ इति

अपरे—यवनेश्वरादयश्चरस्थिरोभयान्यप्यूर्ध्वधस्तिर्यङ्मुखानि प्राहुः । च-
रराशिरूर्ध्वमुखः । स्थिरराशिरधोमुखः । उभयस्तिर्यङ्मुख इत्यर्थः ।

अथार्धेन राशिषु पुष्करांशानाह—

भागान् भेषु विदुस्समिन्मनुजिनक्षमाभृन्मि-
तान् पुष्करान् शैलाङ्गान् शरपावकान् वसुरसान्
क्षमाग्नीन्निवांशानपि ॥ १८ ॥

राशिषु मेषसिंहचापादिषु चतुर्षु चतुर्षु समिन्मनुजिनक्षमाभृन्मितान्
एकविंशतिचतुर्दशचतुर्विंशतिसप्तसङ्ख्यानं भागान् पुष्करांशान्विदुः ।
मेषसिंहचापेष्वेकविंशोऽंशः । वृषकन्यामृगेषु चतुर्दशोऽंशः । युग्मतुला-
कुम्भेषु चतुर्विंशोऽंशः । कर्किकीटमीनेषु सप्तमः । एते पुष्कर-
संज्ञा भागा इति । तथा च सर्वसिद्धौ—

भूतोत्तरस्तत्त्वांशा सञ्चिकोणे ज सागरे ।

निन्दिताः पुष्करांशास्तास्समिन्मनुजिना ॥ इति ॥

तथा राशिष्वेतानंशान् नवांशानपि पुष्करानाहुः । यथा—मेष
सिंहचापेषु सप्तमनवमौ । वृषकन्यामृगेषु पञ्चमतृतीयौ । मिथुन
तुलाकुम्भेष्वष्टमषष्ठौ । कर्किकीटमीनेष्वाद्यतृतीयौ । एते पुष्करसंज्ञा
नवांशा इत्यर्थः । तथाचोक्तं—

मेषे सप्तमनवमौ वृषभे च तृतीयपञ्चमावंशौ ।

षष्ठाष्टमौ च मिथुने कर्किण्याद्यं तृतीयं च ॥

यद्यद्वाशौ प्रोक्तं तदेव तस्मात्तु पञ्चमे नवमे ।

एतत्सर्वं विद्यात् पुष्करदेशं बुधैर्दृष्टम् ॥ इति ॥

एवं राशिसंज्ञामुक्त्वा ग्रहसंज्ञां कर्तुमुपक्रमते —

प्रकाशकौ द्वौ प्रथमौ ग्रहाणां

ताराग्रहाः पञ्च परे ततो द्वौ ।

तमोग्रहौ तेषु शुभास्तु मध्ये

त्रयो बलीन्दुश्च परे तु पापाः ॥ १९ ॥

ग्रहाणां प्रथमौ द्वौ सूर्येन्दू प्रकाशकसंज्ञौ स्तः । ताम्ब्यां
परे पञ्च कुजबुधगुरुशुक्रमन्दाः ताराग्रहसंज्ञाः । तेभ्यः परौ द्वौ
राहुकेतू तमोग्रहसंज्ञौ । एवं त्रिविधा ग्रहा इत्यर्थः । केचिदेवं व्या
चक्षते—प्रकाशकौ ग्रहणामाद्यौ द्वौ स्तः । ताराग्रहाः पञ्च ततः परे
स्युः । ततस्तमोग्रहौ द्वौ स्तः । एवं नव ग्रहा इति । तेषु नवग्र-
हेषु त्रिधाकृतेषु मध्यत्रिकगताः बुधगुरुशुक्रास्त्रयः । बली चेष्टा
स्थानवीर्यान्विश्चन्द्रश्च एते चत्वारश्शुभसंज्ञाः । उक्तेभ्योऽन्ये

सूर्यकुजमन्दराहुकेतवः सक्षीणचन्द्राष्वडेते पापसंज्ञाः । तु शब्दो
बुधस्य पापयोगेन पापत्वाभिधानार्थः । यथाह वराहमिहिरः—

क्षीणेन्द्रर्कमहीसुतार्कतनयाः पापा बुधस्तैर्युतः ॥ इति ।

(इह)यवनेश्वरेण चतुर्विधा ग्रहा उक्ताः । क्रूरपापसौम्यमिश्रा
इति । तथा च तद्वाक्यं—

क्रूरग्रहोऽर्कः कुजसूर्यजौ च पापौ शुभाश्शुक्रशशङ्क
जीवाः । सौम्यस्तु सौम्यो व्यतिमिश्रितोऽन्यैर्वर्गैस्तु तुल्यः
प्रकृतित्वमेति ॥ इति ।

कैश्चित्रिविध एव । तथा च भरद्वाजः*—

पापग्रहौ द्वौ विज्ञेयौ लोहिताङ्गशनैश्चरौ ।
आदित्यो-दारुणोऽत्यन्तं शेषास्सर्वे शुभावहाः ॥ इति ।

कैश्चित् द्विविधा एवेति । तथा च स एव (भरद्वाजः)—

गुरुशुक्रबुधास्सौम्याः क्रूरास्सौरारभास्कराः ।
द्वैषाभावश्शशङ्कस्य इति केचिद्वचवस्थिताः ॥ इति ।

अत्रैतदुक्तं भवति—ग्रहाणां द्वे एव प्रकृती—सौम्यता पापता
चेति । क्रूरत्वं पापत्वगतभावविशेष इति तत्रैवान्तर्गतम् । मिश्र-
त्वमुभयोरपि, यदा सौम्यस्तदा न पाप इति, यदा तु पापस्तदा न
सौम्य इति । यतस्तयोर्विरुद्धधर्माश्रययोर्युगपत्प्राप्तिरनुपपन्ना, तस्मात्
द्वे एव ग्रहाणां प्रकृती इति स्थितम् ॥

नन्विह नवैव ग्रहा इति-निगदितं । अन्यैस्तु सप्त महा-
ग्रहाः पञ्च तमाग्रहा इत्युक्तम् । तथा च भरद्वाजः ॥

(क्षीणेन्द्रर्कयमाराः पापास्तैस्संयुतस्सौम्यः । इति)

सूर्यो निशाकरश्शुक्रो लोहिताङ्गश्चरः ।

सोमपुत्रो गुरुश्चेति नित्यं सप्त महाग्रहाः ॥

राहुः केतुस्तथा रेखाः परिवेषश्च कार्मुकम् ।

ग्रहास्तु पञ्च विज्ञेया अप्रकाशेन सञ्चराः ॥ इति ।

इह राहादीनां फलस्य कादाचित्कत्वात् ग्रहत्वमनियतमिति सूर्या-
दयस्सप्तैव महाग्रहा इत्युपपन्नम् । तथा चायमेव

लोकस्य विपरीतार्थं दृश्यन्ते गूढसञ्चराः

अप्रकाशे फलं नास्ति प्रकाशे तु महत् फलम् ।

प्राधान्यं भास्कराद्येषु सप्तस्वेव प्रतिष्ठितम् । इति ।

सिद्धान्तेष्वपि सप्तैव ग्रहाः कथिताः । तथाच सूर्यसिद्धान्ते ग्रहसर्ग-
द्वारेणोक्तं—

अग्नीषोमौ भानुचन्द्रौ भूतान्यङ्गारकादयः ।

तेजोभूखाम्बुवातेभ्यः क्रमशः पञ्च जज्ञिरे । इति ।

ग्रहकक्ष्याश्च सप्तानामेवाभिहिताः । तथाचोक्तम्—

ब्रह्माण्डमध्यपरिधिर्व्योमकक्ष्याऽभिधीयते ।

तन्मध्ये भगणं भानां तदधोऽधः क्रमादमी ।

मन्दामरेडचभूपुत्रसूर्य¹शुक्रबुधेन्दवः ।

परिभ्रमन्त्यधोऽधस्तात् सिद्धविद्याधरा घनाः । इति

किञ्च राहुकेतोः पातोच्चत्वमेव ग्रहगतिकारणम् । तथाचोक्तं—

अदृश्यरूपाः कालस्य मूर्तयो भगणाश्रिताः ।

शीघ्रमन्दोच्चपाताख्या ग्रहाणां गतिहेतवः । इति ।

¹ शुक्रेन्दुजेन्दवः.

सूर्यकुजमन्दराहुकेतवः सक्षीणचन्द्राषडेते पापसंज्ञाः । तु शब्दो
बुधस्य पापयोगेन पापत्वाभिधानार्थः । यथाह वराहमिहिरः—

क्षीणेन्द्रकर्महीमुतार्कतनयाः पापा बुधस्तैर्युतः ॥ इति ।

(इह)यवनेश्वरेण चतुर्विधा ग्रहा उक्ताः । क्रूरपापसौम्यमिश्रा
इति । तथा च तद्वाक्यं—

क्रूरग्रहोऽर्कः कुजसूर्यजौ च पापौ शुभाश्शुक्रशशाङ्क
जीवाः । सौम्यस्तु सौम्यो व्यतिमिश्रितोऽन्यैर्वर्गैस्तु तुल्यः
प्रकृतित्वमेति ॥ इति ।

कैश्चिन्निविध एव । तथा च भरद्वाजः^१—

पापग्रहौ द्वौ विज्ञेयौ लोहिताङ्गशनैश्चरौ ।

आदित्यो-दारुणोऽत्यन्तं शेषास्सर्वे शुभावहाः ॥ इति ।

कैश्चित् द्विविधा एवेति । तथा च स एव (भरद्वाजः)—

गुरुशुक्रबुधास्तौम्याः क्रूरास्तौरारभास्कराः ।

द्वैधीभावश्शशाङ्कस्य इति केन्द्रिद्वचवस्थिताः ॥ इति ।

अत्रैतदुक्तं भवति—ग्रहाणां द्वे एव प्रकृती—सौम्यता पापता
चेति । क्रूरत्वं पापत्वगतभावविशेष इति तत्रैवान्तर्गतम् । मिश्र-
त्वमुभयोरपि, यदा सौम्यस्तदा न पाप इति, यदा तु पापस्तदा न
सौम्य इति । यतस्तयोर्विरुद्धधर्माश्रययोर्युगपत्प्राप्तिरनुपपन्ना, तस्मात्
द्वे एव ग्रहाणां प्रकृती इति स्थितम् ॥

नन्विह नवैव ग्रहा इति-निगदितं । अन्यैस्तु सप्त महा-
ग्रहाः पञ्च तमोग्रहा इत्युक्तम् । तथा च भरद्वाजः ॥

(क्षीणेन्द्रकर्ममाराः पापास्तैस्संयुतस्सौम्यः । इति)

सूर्यो निशाकरशुक्रो लोहिताङ्गश्चैश्वरः ।
 सोमपुत्रो गुरुश्चेति नित्यं सप्त महाग्रहाः ॥
 राहुः केतुस्तथा रेखाः परिवेषश्च कार्मुकम् ।
 ग्रहास्तु पञ्च विज्ञेया अप्रकाशेन सञ्चराः ॥ इति ।

इह राह्वादीनां फलस्य कादाचित्कत्वात् ग्रहत्वमनियतमिति सूर्या-
 दयस्सप्तैव महाग्रहा इत्युपपन्नम् । तथा चायमेव
 लोकस्य विपरितार्थं दृश्यन्ते गूढसञ्चराः
 अप्रकाशे फलं नास्ति प्रकाशे तु महत् फलम् ।
 प्राधान्यं भास्कराद्येषु सप्तैव प्रतिष्ठितम् । इति ।
 सिद्धान्तेष्वपि सप्तैव ग्रहाः कथिताः । तथाच सूर्यसिद्धान्ते ग्रहसर्ग-
 द्वारेणोक्तं—

अग्नीषोमौ भानुचन्द्रौ भूतान्यङ्गारकादयः ।
 तेजोभूखाम्बुवातेभ्यः क्रमशः पञ्च जज्ञिरे । इति ।

ग्रहकक्ष्याश्च सप्तानामेवाभिहिताः । तथाचोक्तम्—

ब्रह्माण्डमध्यपरिधिर्व्योमकक्ष्याऽभिधीयते ।
 तन्मध्ये भगणं भानां तदधोऽधः क्रमादमी ।
 मन्दामरेडचभूपुत्रसूर्यशुक्रबुधेन्दवः ।
 परिभ्रमन्त्यधोऽधस्तात् सिद्धविद्याधरा वनाः । इति

किञ्च राहुकेत्वोः पातोच्चत्वमेव ग्रहगतिकारणम् । तथाचोक्तं—

अदृश्यरूपाः कालस्य मूर्तयो भगणाश्रिताः ।
 शीघ्रमन्दोच्चपाताख्या ग्रहाणां गतिहेतवः । इति ।

¹ शुक्रेन्दुजेन्दवः.

अपि च होराशास्त्रेषु सूर्यादीनां सप्तानामेव वर्गाधिपत्यं, सप्ता-
नामेव दशापरिग्रहश्च । तस्मात् सप्तैव ग्रहा इति सुव्यक्तम् । अथ
केचिदनुमानेन तयोर्ग्रहत्वं समर्थयन्ति । यथा—राहुकेतू ग्रहौ,
गतिमत्त्वात्, कुजादिवत्, यो गतिमान् स ग्रहः, यथा कुजादयः, तथा-
चर्मौ, तस्मात् ग्रहावेवेति । अयमपि गतिमत्त्वस्य साधनस्य विपक्षे
कुजपातोच्चादौ सत्त्वादनैकान्तिको नाम हेत्वाभासः । तस्माद-
नुमानेनापि तयोरग्रहत्वमेव । यथा—राहुकेतू न ग्रहौ, चन्द्रपातोच्च-
त्वात्, कुजादिपातोच्चवादिति । यद्वा प्रसंगद्वारेणाप्यग्रहत्वं, यदि
राहुकेतोर्ग्रहत्वं, तत् कुजपातोच्चयोरपि ग्रहत्वं स्यादेव, उभ-
येषां पातोच्चत्वस्याविशेषादिति । तस्मात् सप्तैव ग्रहा इति स्थितम् ॥

अत्रोच्यते—यदुक्तं प्रसङ्गद्वारेणाग्रहत्वं, नैतत्, यदि राहु-
केतोश्चन्द्रपातोच्चत्वादग्रहत्वमुच्यते, तर्हि सूर्यस्यापि कुजादिशीघ्रोच्च-
त्वादग्रहत्वं स्यात् । तस्मिन्नुभयलक्षणोपपन्नत्वेनोभयविषयत्वं तुलायां
प्रमाणप्रमेयव्यवहारवत् स्यादिति चेत्, तदनयोः केन वार्यते ।
अपिच—चन्द्रोच्चपातौ केतुराहुग्रहौ स्तः, उभयलक्षणोपपन्नत्वात्,
सूर्यवत् । य उभयलक्षणसम्पन्नस्त ग्रहः, यथाच सूर्यः, तथाच
राहुकेतू, तस्मात्तौ ग्रहावेवेति । यच्च—वर्गाधिपत्याभावात् तयोरग्र-
हत्वमुक्तं, तदसत्—यदि राश्यादीनां षण्णां समुदायस्य वर्गसंज्ञा
तर्हि सूर्येन्द्रोरपि वर्गाधिपत्याभावः । अथैकैकस्य, तदाधिपत्यस्य
प्राचुर्यात् कुजादीनां प्राधान्यं स्यात् । सूर्येन्द्रोराधिपत्याल्पत्वाद-
प्राधान्यं च । तस्मान्न वर्गाधिपत्यनिबन्धनं ग्रहत्वम् । नापि दशा-
धिपत्यात्, लग्नस्यापि ग्रहत्वप्रसङ्गात् । अथवा—रोहुकेतोरपि दशा-
धिपत्यमस्त्येव । यतस्तयोरपि नक्षत्रदशापिण्डदशदिष्वन्तर्दशा चास्ति ।

नापि कक्ष्यावन्वात्, ऋक्षाणामपि ग्रहत्वप्रसङ्गात् । अथवा तयोरपि कक्ष्याऽस्त्येव । गतिमतां सर्वेषां कक्ष्याभिधानात् । तथाचोक्तं—

इष्टग्रहस्य भगणैर्गगनस्य वृत्तं

भङ्गत्वाथ तस्य परिधिं लभते समन्तात् । इति ।

यच्च सूर्यादिभिस्सह सर्गाभावात् तयोरग्रहत्वमुक्तं, नैतत्सारं-
यतः पश्चाच्छब्धसर्गयोरपि तयोर्देवप्रसादासादितं ग्रहत्वं किं न स्यात् ?
यथा तारागणेन सहासृष्टानामपि तपःप्रभावादवासतत्स्थानानां अग-
स्त्य^१मृगव्याधादीनां तारात्वं न हीयते । अत्र नारदः—

अमृतास्वादनाद्धेतोशिशरश्छिन्नोऽपि नो मृतः ।

विष्णुना तेन चक्रेण तथाऽपि ग्रहतां गतः ।

वरेण धातुरर्केन्दू अस्ते सर्वपर्वसु ।

विक्षेपावनतिवशात् राहुर्दूरगतस्तयोः । इति.

यच्च कादाचित्कफलत्वादग्रहत्वमुक्तं, तदप्यसत्, कुजादीना-
मप्यग्रहत्वप्रसङ्गात्, यतस्तेषामपि कादाचित्कफलत्वमस्ति । यथाऽऽ-
ह रङ्गः—

नीचस्था ग्रहविजिता अभिभूता विरश्मयो ह्रस्वाः ।

उरगा इव मन्त्रहता भवन्त्यकार्यक्षमा लग्ने ।

इति । भरद्वाजेनापि तयोः प्रकाशाप्रकाशयोः प्राबल्यदौ-
र्बल्ये उक्ते । न ग्रहत्वाग्रहत्वे ।

यदपि परिवेषादीनां ग्रहत्वमभ्यधायि, तत् केतूनाम-
नेकेषां मध्ये तेषां ^२प्राधान्यख्यापनार्थम् । न तु ग्रहाणां द्वादशत्व-

सिद्धये । तेन राहोः भगणार्धवर्ती केतुरेक एव ग्रहत्वभाक् । अन्येऽपि तज्जातिमात्रभूतो बहवस्सन्ति । न तेषां पृथक् ग्रहत्वमस्ति, ते सर्वे तद्भेदाः । यथोक्तं नरपतिना—

ऋक्षाधानगतो राहुर्यत्र ऋक्षे व्यवस्थितः ।

तस्मात्पञ्चदशे ऋक्षे पुच्छं तस्य विनिर्दिशेत् ॥

एकोत्तरं शतं यत्र केतवः समुपस्थिताः ।

व्याप्नुवन्तो जगत्सर्वं सहस्रार्कसमत्विषः ॥ इति ।

पञ्चदशे ऋक्षे इत्युपलक्षणम् । तेन चतुर्दशे पञ्चदशे वा यत्र भे भगणार्धं भवति तत्र केतुरित्यर्थः । स्यादेतत्—चन्द्रोच्चस्य अग्रहत्वं प्रतिज्ञाय राहोर्भगणार्धवर्तिनो ग्रहत्वं निगमितमिति प्रतिज्ञाहानिस्स्यात्, नैष दोषः, प्रागपि केतोर्ग्रहत्वं प्रतिज्ञातं तदेव निगमितम् । अपि तु केतुसामान्यविशिष्टत्वेन चन्द्रोच्चमपि पक्षत्वेन कक्षीकृत्य यद्दूषणमभ्यधाय, तदेव निरासीति न प्रतिज्ञाहानिः । तस्मात् नवैव ग्रहा इति सिद्धम् ।

तेषु शुभपापानां संज्ञामाह—

असत्क्रूराह्वयाः पापाश्शुभास्सत्सौम्यसंज्ञिताः ।

सन्तः शुभाः, तेभ्योऽन्ये असन्तः अशुभाः क्रूराः पापाः इत्यभिन्नार्थाः । शुभाः सन्तः सौम्या अपापाः इत्येकार्था इत्यर्थः । श्लोकार्धेनाभिधेयस्वरूपमाह—

कालश्शुभक्रियायोग्यो मुहूर्त इति कथ्यते॥

विवाहादिशुभकर्मविधानयोग्यः प्राणाविघटीघटिकादिः मुहूर्त इत्युच्यते । ननु कथं त्रुट्यादिः काल इति वक्तव्ये प्राणादिरि-

त्युक्तम्, उच्यते—कालस्तावद्विविधः—मूर्तोऽमूर्तश्च । तत्र प्राणा-
दिमूर्तः । स स्थूलः । त्रुव्यादिरमूर्तः । स सूक्ष्मः । तथा च श्रीपतिः—

कालः स्थितिप्रलयसर्गनिमित्तभूतः स्थूलाणुरूपपरिकल्पन-
या द्विधाऽसौ । त्रुव्यादिकोऽणुरनणुस्त्वसुपूर्वकस्स्यात्
सूक्ष्मो ह्यमूर्त इतरः कथितोऽत्र मूर्तः ।

इति ।

तत्र स्थूल एव कालो दैवज्ञैरदिष्टुं शक्यः । सूक्ष्मस्तु स्वनि-
यतपुराकृतसुकृतैकलभ्यत्वात् न केन चिदिष्टुं शक्यः । तथा च
नारदः—

स्वस्थे नरे सुखासीने यावत् स्पन्दति लोचनम् ।

तस्य त्रिंशत्तमो भागस्तत्पलः परिकीर्तितः ॥

तत्पलात् शतमो भागस्त्रुटिरित्यभिधीयते ।

त्रुटेस्सहस्रभागो यो लग्नकालस्स उच्यते ।

देवोऽपि तन्न जानाति किं पुनः प्राकृतो जनः ।

स कालोऽप्यन्यकालो वा पूर्वकर्मवशाद्भवेत् ।

निमित्तमात्रं दैवज्ञः तद्वशाच्च शुभाशुभम् ॥ इति ।

यदि लग्नकालः पुराकृतसुकृतैकलभ्यत्वात् दैवज्ञैरनादेश्यः,
कुतः तर्हि दैवज्ञैस्तत्काललग्नानयनगुणदोषनिरूपणादेरादरः ।

यास्मिन्देशे च काले च यन्मुहूर्ते च यद्दिने ।

हानिर्वृद्धिर्यशो लाभस्तत्तथा न तदन्यथा ॥ इति ।

लब्धव्यानेव लभते गन्तव्यान्येव गच्छति ।

प्राप्तव्यान्येव चाप्नोति दुःखानि च सुखानि च ।

इति वचनान्यनुसृत्य मुहूर्तनिरूपणमन्तरेणैव शुभाक्रियाः कार्याः। ततश्चास्य शास्त्रस्य वैयर्थ्यं प्रसज्येत । अत्रोच्यते—यद्यपि लग्नकालः स्वसुकृतलभ्यः, तथापि दैवज्ञैः कालनिरूपणमवश्यमादरणीयं श्रुतिस्मृत्युक्तत्वात् । स्वविहितनित्यकर्माचरणवत् । तथा च तत्कर्मसु कालमिधानं श्रूयते—

‘यां कामयेत दुहितरं प्रिया स्यादिति तां निष्टचयां दद्यात् । यं कामयेतानपजय्यं जयेदिति तमेतस्मिन्नक्षत्रे यातयेत् । वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत । कृत्तिकास्वाग्निमादधीत । यान्येव देवनक्षत्राणि तेषु कुर्वीत । यत्कारी स्यात्’ इत्यादि । तथा च स्मर्यते—

ऋतावुपगमश्शस्तः स्वपत्न्यामवनीपते ! ।

पुनरर्क्षे शुभे काले श्रेष्ठं युग्मासु रात्रिषु ॥ इति ।

याज्ञवल्क्येनाप्युक्तं—

एवं गच्छन् स्त्रियं क्षामां मखां मूलं च वर्जयेत् ।

सुस्थ इन्दौ सकृत् पुत्रं लक्षण्यं जनयेत्पुमान् ॥ इति ।

बोधायनेन कन्यावरणे काल उक्तः—

‘उदगयन् आपूर्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रे युग्मान् ब्राह्मणान् वरः प्रहिणोति’ इति । अपि च रोहिणीमृगशीर्षमुत्तराफल्गुनीस्वातीति विवाहस्य नक्षत्राणि । पुनर्वसुतिप्यहस्तश्रोणारेवतीत्यन्येषां भूतिकर्मणां यानि चान्यानि पुण्योक्तानि । गृह्यकारेणाप्युक्तम्—

प्रयोगशास्त्रविहितः कालो यत्र न कश्चन ।

विधत्ते ज्योतिषं तत्र विहितेऽत्र विरोधि तत् ॥

इत्यादि श्रुतिस्मृतिपुराणगृह्यशास्त्रेषु शुभक्रियाणां कालनि-
रूपणतया विहितत्वात् कालाभिधायिनो ज्योतिश्शास्त्रस्य न वैय-
थ्यप्रसङ्गः । अपि च यदीदं शास्त्रं न प्रारम्भ्यत तत् कथं
कालज्ञानं समपत्स्यत । तदज्ञाने क्रिया न प्रपत्स्यन्ते । प्रवृत्तां
वा न फलाय कलिष्यन्ते । तदप्रवृत्तौ देवो न वार्षिष्यति । तद-
वर्षणे ओषधयो न प्रादुष्युः । तदप्रादूर्भावे प्रजा न प्राण्यासुः ।
ततश्च विश्वमेव अमत् स्यात् इति महदनिष्टमापद्येत । किञ्च
कालाज्ञाने लोकस्वाचारात् प्रभ्रश्येत । स्वाचारप्रभ्रष्टस्य दूष्प्रजा
प्रजायेत । प्रजादोषात् दुर्गतिं यास्यति । दुर्गतेः पाप्मानं करि-
ष्यति । पाप्मना नरकमाप्नुयादित्यपि महदनिष्टं प्रसज्येत । ततश्च
नैव वैयर्थ्यप्रसङ्गः । यद्वा प्राचीनजन्मोपचितसदसत्कर्मफलविपा-
काभिव्यञ्जनमेव ज्योतिश्शास्त्रेणानुशिष्यत इति । यथोक्तं लघु-
जातके—

यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः पक्तिम् ।

व्यञ्जयति शास्त्रमेतत्तमासि ब्रूयाणि दीप इव । इति ।

अन्यत्रापि—

नक्षत्राणि ग्रहाश्चैव शुभाशुभनिवेदकाः ।

मानवानां महाभागे न तु कर्मकरास्स्वयम् ॥

प्रजानां तु हितार्थां शुभाशुभविधिं प्रति ।

अनागतमातिक्रान्तं ज्योतिश्चक्रेण वेद्यते । इति ।

कर्मविपर्यासस्तु केनापि दुष्करः । स्वकृतस्य कर्मणोऽवश्यभो-

क्तव्यत्वात् । तथाचोक्तं—

इति वचनान्यनुसृत्य मुहूर्तनिरूपणमन्तरेणैव शुभाक्रियाः कार्याः।
ततश्चास्य शास्त्रस्य वैयर्थ्यं प्रसज्येत । अत्रोच्यते—यद्यपि लग्न
कालः स्वमुकृतलभ्यः, तथापि दैवज्ञैः कालनिरूपणमवश्यमादर-
णीयं श्रुतिस्मृत्युक्तत्वात् । स्वविहितनित्यकर्माचरणवत् । तथा च
तत्कर्मसु कालमिधानं श्रूयते—

‘यां कामयेत दुहितरं प्रिया स्यादिति तां निष्टचयां दद्यात् ।
यं कामयेतानपजय्यं जयेदिति तमेतस्मिन्नक्षत्रे यातयेत् । वसन्ते
ब्राह्मणोऽग्निमादधीत । कृत्तिकास्वाग्निमादधीत । यान्येव देवनक्षत्राणि
तेषु कुर्वीत । यत्कारी स्यात्’ इत्यादि । तथा च स्मर्यते—

ऋतावुपगमश्शस्तः स्वपत्न्यामवनीपते ! ।

पुन्नरक्षे शुभे काले श्रेष्ठं युग्मासु रात्रिषु ॥ इति ।

याज्ञवल्क्येनाप्युक्तं—

एवं गच्छन् स्त्रियं क्षामां मखां मूलं च वर्जयेत् ।

सुस्थ इन्दौ सकृत् पुत्रं लक्षण्यं जनयेत्पुमान् ॥ इति ।

बोधायनेन कन्यावरणे काल उक्तः—

‘उदगम्यन आपूर्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रे युग्मान् ब्राह्मणान्
वरः प्रहिणोति’ इति । अपि च रोहिणीमृगशीर्षमुत्तराफल्गुनीस्वा-
तीति विवाहस्य नक्षत्राणि । पुनर्वसुतिष्यहस्तश्रोणारेवतीत्यन्येषां
भूतिकर्मणां यानि चान्यानि पुण्योक्तानि । गृह्यकारेणाप्युक्तम्—

प्रयोगशास्त्रविहितः कालो यत्र न कश्चन ।

विधत्ते ज्योतिषं तत्र विहितेऽत्र विरोधि तत् ॥

इत्यादि श्रुतिस्मृतिपुराणगृह्यशास्त्रेषु शुभक्रियाणां कालनिरूपणतया विहितत्वात् कालाभिधायिनो ज्योतिःशास्त्रस्य न वैयर्थ्यप्रसङ्गः । अपि च यदीदं शास्त्रं न प्रारम्भ्यत तत् कथं कालज्ञानं समपत्स्यत । तदज्ञाने क्रिया न प्रपत्स्यन्ते । प्रवृत्तां वा न फलं कल्पिष्यन्ते । तदप्रवृत्तौ देवो न वार्षिष्यति । तद्वर्षणे ओषधयो न प्रादुष्युः । तदप्रादूर्भावे प्रजा न प्राण्याभुः । ततश्च विश्वमेव असत् स्यात् इति महदनिष्टमापद्येत । किञ्च कालाज्ञाने लोकस्वाचारात् प्रभ्रश्येत । स्वाचारप्रभ्रष्टस्य दूष्प्रजा प्रजायेत । प्रजादोषात् दुर्गतिं यास्यति । दुर्गतेः पाप्मानं करिष्यति । पाप्मना नरकमाप्नुयादित्यपि महदनिष्टं प्रसज्येत । ततश्च नैव वैयर्थ्यप्रसङ्गः । यद्वा प्राचीनजन्मोपचितसदसत्कर्मफलविपाकाभिव्यञ्जनमेव ज्योतिःशास्त्रेणानुशिष्यत इति । यथोक्तं लघुजातके—

यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः पक्तिम् ।

व्यञ्जयति शास्त्रमेतत्तमासि द्रव्याणि दीप इव । इति ।

अन्यत्रापि—

नक्षत्राणि ग्रहाश्चैव शुभाशुभनिवेदकाः ।

मानवानां महाभागे न तु कर्मकरास्त्वयम् ॥

प्रजानां तु हितार्थं शुभाशुभविधिं प्रति ।

अनागतमातिक्रान्तं ज्योतिश्चक्रेण वेद्यते । इति ।

कर्मविपर्यासस्तु केनापि दुष्करः । स्वकृतस्य कर्मणोऽवश्यमो-

क्तव्यत्वात् । तथाचोक्तं—

अवश्यमनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ॥ इति ।

यादि स्वकृतमेव नृभिरनुभूयते न ग्रहकृतमिति, कथं तर्हि ग्रहवैषम्ये फलमशुभमनुभूयते, ग्रहसाम्ये शुभं फलमिति । अत्रोच्यते— पुंसां सत्कर्मपाककाले ग्रहसाम्यं स्यात् । दुष्कर्मपाककाले ग्रहवैषम्यं (प्रसज्येत) संपद्येतेति अत्राहुः—

किन्तु तत्र शुभं कर्म सद्ग्रहैस्तु नियुज्यते ।

दुष्कृतं वा शुभैरेव समवायो भवेदिति ॥

तस्माद्धि ग्रहवैषम्ये विषमं कुरुते जनः ।

ग्रहसाम्ये शुभं कुर्यात् जाल्या जाल्या पुराकृतम् ॥

केवलं ग्रहनक्षत्रं न करोति शुभं यदि ।

सर्वमात्मकृतं कर्म लोकवादो ग्रहा इति ॥

ग्रहैरपि पुंसां स्वकर्मविपर्यासः कर्तुं न शक्यते । तर्हि स्व-
कर्माभिव्यञ्जनमप्यसुकरम् । तथाऽप्यशुभं कर्मफलमनुभवतः शुभ
काले कर्म कुर्वतोऽपि शुभफलानुभवो न सम्भवति । शुभं कर्मफ-
लमनुभवतो दुष्काले कर्म कुर्वतोऽपि शुभफलानुभव एव दृश्यते ।
नैतदस्ति । तत्र शुभोऽपि लग्नकालः प्रबलैः प्राचीनासत्कर्मभिर-
शुभत्वमानयते । तथा दुष्कालोऽपि सत्कर्मभिश्शुभत्वमुपनीयते । तथा
च विवाहाध्याये वराहमिहिरेणोक्तं—

उद्ग्राहे नियतिर्नयत्यतिबला बलां समं प्राक्फलैः । इति ।

ननु 'बली पुरुषकारो हि दैवमप्यतिवर्तते' इति वचनात्
शास्त्रार्थानुभवकौशलयादिभिश्शुभलग्नकाल एव निरूपयितुं शक्यः ।

तथा छायाम्बुयन्त्रादिपुरुषकारपरीक्षाकारेण विदग्धैर्दैवज्ञैः कथं चित् यथोक्तो लग्नकाल एव ग्रहीतुं शक्यते । तथाचोपनयन-प्रकरणे नारदेनोक्तं—

जन्मनः प्रथमस्येह कालो दैवेन चोदितः ।

तस्मात् स एव दैवज्ञैः शुभः कर्तुं न शक्यते ॥

द्वितीयजन्मनः कालः शक्यते ज्ञानिनो बलात् ।

शुभः कर्तुमतो नृणां सर्वसंपत्समृद्धये ॥ इति ।

अत्रोच्यते—दैवादृते केवलपुरुषकारेण सत्कालो नावाप्यते, नापि पुरुषकारमन्तरेण दैवेनैव । यथा—वृष्ट्या विना केवलं पुरुषकृतया कृष्या न फलसिद्धिः । नापि कृषिमन्तरेण दैवकृतया वृष्ट्यैव फलसंपत्स्यात् । तस्मात् यथा—सत्यां दैवकृतायां वृष्टौ कर्षतः पुरुषस्य कृषिवृष्टिसमायोगात् फलसिद्धिस्संपत्स्यते । तथा दैवपुरुषकाराभ्यां संसृष्टाभ्यामेवार्थसिद्धिराप्यते । तथा च बाद-रायणः—

विना वा मानुषं दैवं दैवं वा मानुषं विना ।

न च निर्वर्तयत्यर्थमेकारणिरिवानलम् ॥

सिद्ध्यन्ति सर्वे आरम्भाः संयोगात्कर्मणोर्द्वयोः ।

दैवात्पुरुषकाराच्च न त्वेकस्मात्कथंचन ॥ इति ।

तस्मात् शास्त्रार्थानुभवादिना शुभं लग्नकालं निरूप्य छायादि-परीक्षाप्रयत्नेन प्राणादिकं लग्नकालं संपाद्य सूक्ष्मशुभलग्नकालासिद्ध्यै दैवं प्रतीक्षितव्यम् । तथा च वराहमिहिरः—

यत्नेन संपाद्य मनुष्यकारं यत्नावकाशे पुरुषो निरुन्धे ।

प्रतीक्षते दैवमतन्द्रितो यस्तमापदो नात्मकतास्स्पृशन्ति ॥ इति ।

VIDYAMADAVIAM

यदा पुनर्देवाविरोधात् दैवज्ञवैदग्ध्यात् बलवता प्रयत्नेन लग्न-
कालः कश्चिद्गृहीतः तदा पुराकृतमप्यातिशय्य स्वफलं दत्ते । तत्रापि
कर्तुः कर्मप्राबल्ये विफलं दत्ते । कर्तुरतिप्रबलविरोधिकर्मानुरोधे
सति तत्पुत्रादौ फलं दत्ते । तथा दैवानुगुण्येऽपि दैवज्ञदौर्विद-
ग्ध्यादिनानादरेण दुष्कालो गृहीतस्तदाऽपि दुष्फलं मुहूर्तजं परि-
णमत्येव । तथा च सर्वसिन्धौ—

सुखदुःखकरं कर्म शुभाशुभमुहूर्तजम् ।

कालान्तरेऽपि वा कुर्यात् फलं तस्यान्वयेऽपि च ॥ इति ।

तस्मात् दैवानुरोधात् मुहूर्तमपि स्वफलं दत्त एवेत्यलमति-
प्रसङ्गेन ॥

अथ बलाबलादिज्ञानाय स्वोच्चनीचानाह—

आदित्याद्यजगोमृगास्यवनिताः कर्की च मी-
नस्तुला स्वाच्चक्ष्ण्यथ तेषु दिध्युतवहानष्टोत्तरां
विंशतिम् । तिथ्यंशान् शरसप्तविंशतिकृतीनत्यु-
च्चकांशान् विदुस्तेभ्यस्सप्तमराशयोंऽशक्युताः
नीचा ग्रहाणां क्रमात् ॥ २१ ॥

आदित्यप्रभृति ग्रहाणां सप्तानां क्रमेण मेषादयः सप्त राशयः
स्वोच्चसंज्ञाः । तेषु स्वोच्चराशिष्वपि दशमादिभागानत्युच्चांशानाहुः ।
तद्यथा—आदित्यस्य मेषः स्वोच्चराशिः, तत्र दशमो भागः अत्यु-
च्चांशः । चन्द्रस्य वृषभे तृतीयो भागः । कुजस्य मकरेऽष्टाविंशः ।
बुधस्य कन्यायां पञ्चदशः । गुरोः कर्कटके पञ्चमः । शुक्रस्य

मीने सप्तविंशः । शनेस्तुलायां विंशो भागोऽत्युच्चांश इत्यर्थः ।
स्वोच्चराशिभ्यः सप्तमराशयः सूर्यादीनां नीचराशयः । तेषु तत्त-
त्सङ्ख्यांशकाः अतीव नीचांशकास्त्युः । यथा—आदित्यस्य तुला
नीचराशिः, तत्र दशमो भागोऽतिनीचांशः । चन्द्रस्य वृश्चिके
तृतीयो भागः । कुजस्य कर्कटकेऽष्टाविंशः । बुधस्य मीने पञ्च-
दशः । गुरोर्मकरे पञ्चमः । शुक्रस्य कन्यायां सप्तविंशः । शने-
र्मेघे विंशो भागोऽतिनीचांश इत्यर्थः । इह दिगादिशब्दानां
दशादिसामान्यसङ्ख्याभिधायिनामपि दिग्नलदिसङ्ख्यापूरकार्थविशेषग्र-
हणं ज्योतिश्शास्त्रप्रसिद्ध्या न दुष्यतीत्येवं सर्वत्र द्रष्टव्यम् ॥

त्रिकोणांशानाह—

सिंहे विंशतिरादितो गवि परे सर्वेऽशकास्तुङ्ग-
तो मेषे द्वादश पञ्च योषिति परे तुङ्गाङ्ग्याङ्गे दश ।
जूके पञ्च घटे तु विंशतिरमी मूलत्रिकोणाख्याः
सूर्यादेः क्रमशो ग्रहस्य गदिताः शेषास्स्वराश्यं-
शकाः ॥ २२ ॥

सूर्यादिग्रहाणां क्रमेण सिंहादिराशिष्वमी भागा मूलत्रि-
कोणा इत्युक्ताः । सूर्यस्य सिंहराशावादितः आरभ्य विंशति-
र्भागाः । इन्दोर्वृषभे स्वात्युच्चसंज्ञात् तृतीयभागात् परे सर्वे सप्त-
विंशतिर्भागाः । कुजस्य मेषे आदितो द्वादश भागाः । बुधस्य क-
न्यायां स्वात्युच्चसंज्ञात् पञ्चदशभागात् परतः पञ्चदश भागाः ।
गुरोर्धनुषि आदितो दश भागाः । शुक्रस्य तुलायामादितः पञ्च भागाः ।
शनेः कुम्भे आदितो विंशतिर्भागाः, मूलत्रिकोणाख्याः । शेषा

मूलत्रिकोणांशेभ्यः परतः परिशिष्टा भागाः स्वराश्यंशकाः स्वरा-
शिसंबन्धिनो भागाः अर्वाचीनाः स्वोच्चांशका इत्यर्थः । उक्तं च
सारावल्यां—

विंशतिरंशास्सिंहे त्रिकोणमपरे स्वभवनमर्कऽस्य ।
उच्चं भागत्रित्रयं वृष इन्दोः स्वत्रिकोणमपरंऽशाः ॥
द्वादश भागा मेषे त्रिकोणमपरे स्वभं च भौमस्य ।
उच्चफलं कन्यायां बुधस्य तुङ्गांशकैस्सदा चिन्त्यम् ॥
परतस्त्रिकोणजातं पञ्चभिरंशैस्स्वराशिजं परतः ।
दशभिर्भागैश्चापे त्रिकोणमपरे स्वभं च गुरोः ॥
शुक्रस्य तु त्रिकोणं विषया जूके परे स्वराश्यंशाः ।
कुम्भे त्रिकोणनिजमे रविजस्य रवेर्यथा सिंहे ॥ इति ।

वराहमिहिरेण राशीनामेव त्रिकोणसंज्ञाभिहिता—

सिंहो वृषः प्रथमषष्ठहयाङ्गुर्तोलिकु-

म्मास्त्रिकोणभवनानि भवन्ति सूर्यात् ॥ इति ।

तथा सति सिंहादिराशिस्थानां स्वराश्युक्तं त्रिकोणोक्तं वा त-
दुभयं वा फलं ग्राह्यमिति । चन्द्रस्य वृषभस्थस्य त्रिकोणजं स्वो-
च्चजं वा तद्वयं वा । बुधस्य कन्यास्थस्य स्वोच्चजं त्रिकोणजं
वा स्वराशिजं त्रितयं वेति सन्देहस्स्यात् । तन्निरासायायं स्वो-
च्चत्रिकोणस्वराश्यादि विभागोऽभिहितः ॥

अथ ग्रहाणां वर्गनाह—

क्षेत्रं च होरा द्रेकाणो नवांशो द्वादशांशकः ।
त्रिंशांशकश्च षड्वर्गा ग्रहाणां वर्गसंज्ञिताः ॥ २३ ॥

क्षेत्रं—त्रिंशद्भाग्वात्मको राशिः । होरा—राश्यर्धम् । द्रेक्काणः—राशे-
स्तृतीयो भागः । नवांशो—राशेर्नवमांशः । द्वादशांशकः—राशेर्द्वा-
दशांशकः । त्रिंशांशकः—राशेर्त्रिंशो भागः एते षड्वर्गसंज्ञाः । तत्र
नारदः—

त्रिंशद्भाग्वात्मकं लग्नं होरा तस्यार्धमुच्यते ।

लग्नत्रिभागो द्रेक्काणो नवांशो नवमांशकः ।

द्वादशांशो द्वादशांशस्त्रिंशांशस्त्रिंशदंशकः ॥ इति ।

एषु राश्यादिर्यो यस्य संबन्धी स तस्य वर्गसंज्ञ इत्यर्थः ।
तथा च स्वल्पजातके—

ग्रहहोराद्रेक्काणद्वादशत्रिंशन्नवांशभेदश्च ।

वर्गः प्रत्येतव्यो ग्रहस्य यो यस्य निर्दिष्टः ॥ इति ।

चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन सप्तांशानामपि ग्रहणं । अपि-
शब्दः पक्षान्तरद्योतनार्थः सप्त वा वर्गसंज्ञा इति ॥

तथा च श्रीपतिः—

एवमेव खलु सप्त वर्गजाः ।

यद्वा सप्तांशग्रहणेऽपि षडेव वर्गा इति, यतः सूर्येन्द्रोः
त्रिंशांशा न सन्ति । भौमादीनां होरा नास्ति । तस्मात् षडेव
ग्रहाणां वर्गा इत्युक्तम् ॥

राश्यादीनामधिपतीनाह—

भौमः काव्यबुधेन्द्रिनङ्गकविभूपुत्रार्यमन्दार्क-
जा जीवश्च प्रथमादिरांशिपतयस्तेषां ग्रहास्ते क्र-
मात् । मेषैणाननतौलिकर्कटपतिप्रिष्ठा नवांशाधि-

पाः तत्तत्स्वामिमुखास्त एव च पुनस्तद्वादशांशे
श्वराः ॥ २४ ॥

भौमादयो द्वादश मेषादीनां पतयो भवन्ति । कुम्भमकरयोर्मन्दः ।
मीनधनुषोर्जीवः । मेषवृश्चिकयोः कुजः । वृषमतुलयोश्शुक्रः । मिथु-
नकन्ययोर्बुधः । कर्कटस्य चन्द्रः । सिंहस्य सूर्यः स्वामी । तेषां
मेषादिराशीनां संबन्धिनो ये नवांशाः सत्र्यंशत्रिभागात्मकाः ते-
षामीश्वराश्च मेषमकरतुलाकर्कटाद्यास्तदधिपतिपुरोगाश्च प्रागुक्तास्त
एव नव नव क्रमेण भवन्ति । यथोक्तं बृहज्जातके—

अजमृगतौलिचन्द्रभवनादि नवांशविधिः । इति ।

मेषस्य संबन्धिनो धनुरन्ता नव नवांशाः, तेषां भौमाद्या गुर्व-
न्ता नव स्वामिनः । वृषमस्य मकराद्याः कन्यान्ताः नव नवांशाः,
तत्पतयश्च मन्दाद्या बुधान्ता नव । मिथुनस्य तुलाद्या युग्मान्ता
नव नवांशाः, तदधिपाः शुक्राद्या बुधान्ता नव । कर्कटस्य क-
र्क्याद्याः मीनान्ताः नव नवांशाः, तदधिपाः चन्द्राद्या जीवान्ता
नव स्युः । एवं सिंहादिचतुष्टयस्य धन्यादिचतुष्टयस्य च नवां
शास्तदधिपाश्चावगन्तव्याः । नव कृत्व आवर्तिताः द्वादश राशय
एव तत्संबन्धिनः अष्टोत्तरशतं नवांशा भवन्ति । तदधिपतयश्च
तावन्तः । अथ मेषादीनां द्वादश सार्धद्विभागात्मकाः तदधिपा-
श्च तत्तत्स्वामिमुखास्तद्वाश्याद्यास्तद्वाश्यधिपाद्याश्च त एव प्रागुक्ता
राशयो ग्रहाश्च भवन्ति । यथा—मेषस्य मेषाद्या मीनान्ता द्वा-
दशांशकाः, तदधिपाश्च भौमादयो जीवान्ता द्वादश ग्रहाः ।
वृष(म)स्य वृषादयो मेषान्ता द्वादशांशाः, तदधिपाः कान्यादयो

भौमान्ता द्वादश इत्यादि । मिथुनमपि द्रष्टव्यम् । तथा च वरा-
हमिहिरः—

‘भवनसमांशकाधिपतयः स्वगृहात् क्रमशः’ इति ।

एवं मेषादीनां चतुश्चत्वारिंशदुत्तरशतं द्वादशांशास्तदाधिपाश्च-
तावन्तस्संभवन्ति ॥

एकैकं भवनं दशांशतनवो द्रेक्काणसंज्ञास्त्रय-
स्तेषां तद्गृहतत्तनूजनवमस्थानेश्वरास्स्वामिनः ।
होरार्धं भवनस्य सूर्यशशिनोरोजेऽन्यथा ते समे-
त्वाद्याः क्षेत्रपतेस्तदागमपतेरन्येति चान्ये जगुः ॥

एको राशिः दशभागात्मकास्त्रयस्त्रयो द्रेक्काणसंज्ञा भवन्ति ।
राशेस्तृतीयभागास्त्रयो दशभागात्मका द्रेक्काणा इत्यर्थः । तेषां प्रथ-
मद्वितीयतृतीयद्रेक्काणानां तद्वाशेस्स्वाधिपतिस्तत्पञ्चमाधिपस्तत्रवमाधि-
पश्च त्रयस्स्वामिनो भवन्ति । यद्वाशिसंवन्धी द्रेक्काणस्तस्य प्रथमस्य
तदधिपतिरेव, द्वितीयस्य तत्पञ्चमराश्याधिपतिः, तृतीयस्य तत्रवमरा-
श्याधिपतिः स्वामीत्यर्थः । तथा च बृहज्जातके—

द्रेक्काणास्स्यस्वभवनसुतस्वत्रिकोणाधिपानाम् ॥ इति ।

राशेरर्धं होरा । एको राशिः पञ्चदशभागात्मके द्वे होरे स्त
इत्यर्थः । तथा च वराहमिहिरः—

होरोति लग्नं भवनस्य चार्धम् ॥ इति ।

ते होरे मेषमिथुनादौ विषमराशौ सूर्येन्द्रोः स्वाम्ये स्तः । समे

वृषकर्क्यादौ राशौ शशिसूर्ययोः स्वाम्ये स्तः । विषमराशौ प्रथम-
होरायां सूर्यस्वामी द्वितीयायाश्चन्द्रः । समराशौ प्रथमायाः शशी,
द्वितीयायास्सूर्यस्वामीत्यर्थः । तथाचोक्तं—

मार्ताण्डेन्द्रोरयुजि समभे चन्द्रभान्वोश्च होरे । इति ।

अन्ये यवनेश्वरादयः एवमाहुः—यद्वाशिसंबन्धिनी होरा सा
आद्या तद्वाश्यधिपतेः, द्वितीया तस्मादेकादशराश्यधिपतेरिति । तथा
च यवनेश्वरः—

आद्या तु होरा भवनस्य पत्युरेकादशक्षेत्रपतेर्द्वितीया । इति ।
तु शब्दो द्रेक्काणानामप्याधिपत्यविकल्पप्रदर्शनार्थः । आद्यो राश्य-
धिपतेः, द्वितीयो द्वादशराश्यधिपतेः, तृतीय एकादशराश्यधिपते-
रिति । तथा च स एव—

स्वद्वादशैकादशराशिपानां द्रेक्काणसंज्ञाः क्रमशस्त्रयोऽत्र ।
इति । एवं द्रेक्काणाः षट्त्रिंशत् होराश्चतुर्विंशतिः तदधिपाश्च ता-
वन्तः ॥

कुजरविसुतजीवसौम्यशुक्रादशरशरनागगिरी-
षुभागनाथाः । अयुजि युजि तदंशकाश्च तेषाम-
धिपतयश्च विपर्ययेण गण्याः ॥ २६ ॥

विषमराशौ कुजादयः पञ्च शरादित्रिंशद्भागसमुदायपञ्चकस्य
स्वामिनः । समराशौ भागास्तदधिपतयश्च विपर्ययेण गण्यन्ते ।
शुक्राद्याः इष्वादित्रिंशद्भागसमुदायानां स्वामिन इत्यर्थः । इदमुक्तं
भवति—एको राशिस्त्रिंशद्भागः । विषमराशावाहितः पञ्चानां भागानां

कुजः । ततः षष्ठादीनां पञ्चानां मन्दः, एकादशादीनामष्टानां जीवः,
एकोनविंशादीनां सप्तानां बुधः, षड्विंशादीनां पञ्चानां शुक्रः स्वामी,
समराशौ प्रथमतः पञ्चानां शुक्रः, षष्ठादीनां सप्तानां बुधः, त्रयो-
दशादीनामष्टानां जीवः, एकविंशादीनां पञ्चानां मन्दः, षड्विंशा-
दीनां पञ्चानां कुजः स्वामीति । अत्र श्रुतकीर्तिः—

पञ्चाथ पञ्च चाष्टौ सप्त च पञ्चैव विषमभवनेषु ।
धरणिमुतमन्दसुरगुरुबुधशुक्राणां क्रमेणांशाः ॥
पञ्चाथ सप्त चाष्टौ पञ्च च पञ्चैव युग्मभवनेषु ।
भागा भार्गवशशिमुतसुरेज्यशानिभूमिपुत्राणाम् ॥ इति।

त्रिंशांशानां षष्ठ्युत्तरत्रिंशत्, तदधिपानां षष्टिश्च संपन्ना ।
सप्तांशाधिपास्तु कल्याणवर्मणोक्ताः—

मेषादिमिथुनमृगहरिमीनतुलावृषभचापधरकर्की ।
घटभृत्कन्यापूर्वाः सप्तांशानां भवन्तीशाः । इति ।

साधिकसप्तमांशल्लिप्ताश्रतुर्भागाः सप्तांशाः, तेषां विषमराशौ
तद्वाश्यधिपप्रमुखाः सप्त ग्रहाः स्वामिनः । समराशौ सप्तमाधिपाद्याः
सप्तेति चतुरशीतिस्सप्तांशाः तदधिपाश्च तावन्तः ॥

ग्रहदृष्टिकृतफलनिर्णयाय तद्वृष्टिमाह—

सौरिस्तृतीयदशमौ गुरुस्त्रिकोणं कुजस्तु चतु-
रंश्रम् । पश्यति समग्रमितरे चरणाविवृद्धयाथ-
सप्तमं सर्वे ॥ २७ ॥

त्रिदशादिस्थानद्वन्द्वानि मन्दाद्यास्त्रयः समग्रं पश्यन्ति ।
मन्दस्तृतीयदशमौ, तत्स्थग्रहांश्च पूर्णदृष्ट्या पश्यति । तदन्ये पाद-

दृष्ट्या । गुरुः पञ्चमनवमौ पूर्णदृष्ट्या, तदन्ये द्विपाददृष्ट्या, कुजः चतुर्थाष्टमौ पूर्णदृष्ट्या, तदन्ये षट् त्रिपाददृष्ट्या । सर्वेऽपि सप्तमं पूर्णदृष्ट्या पश्यन्ति । अथशब्दः कात्स्न्य-वाची, सप्तमं अथ—कृत्स्नया दृष्ट्या पश्यन्ति । अनुक्तानि स्थानानि न पश्यान्तीत्यर्थसिद्धम् । तथा च कृष्णः—

षष्ठं द्वितीयभवनं द्वादशमेकादशं न पश्यन्ति ।

स्वस्थानाद्वीक्षन्ते ग्रहास्तथान्यानि भवनानि ॥ इति ।

अत्रेयमुपपत्तिः—ग्रहाणां स्वस्थानात् सप्तमे पूर्णा दृष्टिः । ततः क्रमेण क्षीयमाणा एकादशे शून्या सप्तमादुत्क्रमात् ह्रसति, षष्ठे शून्यापि च । स्वस्थानात् चतुर्थे पादोना दृष्टिः । तस्मात् क्रमेण हीयमाना पञ्चमेऽर्धोना । षष्ठे शून्या । चतुर्थादुत्क्रमेणापचायमाना तृतीये त्रिपादोना । द्वितीये शून्या भवति । षष्ठद्वितीयैकादशद्वादशानि भावमध्ये दृष्ट्यभावात् ग्रहा न पश्यन्तीत्युक्तम् । एतद्दृष्ट्या नयनायेदं गणितमुक्तं भवति । द्रष्टृग्रहं दृश्याद्विशोध्य शिष्टं दृष्टिकेन्द्रं, तस्मिन्नेकराश्यूने दशराश्यधिके च न पश्यति । तत्र पञ्चाधिके दक्षिणा दृष्टिः, पञ्चराश्यूने वामा दृष्टिः स्यात् । दृष्टिकेन्द्रं षड्राश्यधिकं राशिदशकाद्विशोध्य शिष्टं लिप्तीकृत्य ज्ञानरथैर्विभजेत् । लब्धा दृष्टिः । अथ पञ्चराश्यधिकं चेत्, राशिपञ्चकमपास्य ज्ञानोदयैर्विभजेत् । राशिचतुष्काधिकं चेत्, राशिपञ्जकाद्विशोध्य शिष्टं ज्ञानतुङ्गैर्विभजेत् । राशित्रयाधिकं चेत्, राशिचतुष्कान्निहत्य शिष्टं लिप्तीकृतं ज्ञानतुङ्गसहितं ज्ञानरथैर्विभजेत् । राशिद्वयाधिकं चेत् राशिद्वयमपास्य शिष्टं कलीकृतं ज्ञानधीयुतं ज्ञानतुङ्गैर्विभजेत् । अथ एकराश्यधिकं चेत् राशिमपास्य शिष्टं ज्ञानरथैर्विभजेत् । लब्धा दृष्टिस्स्यात् । उक्तं च श्रीपतिना—

दश्यो द्रष्टा विरहिततनुः षडग्रहेभ्योऽधिकश्चेत्
दिग्भ्यश्शोध्यो विहितकलिकः स्वाभ्रपक्षाद्विभक्तः ।

दृष्टिस्सा स्याद्यदि शरगृहेभ्योऽधिकः पञ्चहीनो

लिप्तीभूतो धृतिशतद्वतस्स्याच्चतुर्भाधिकश्चेत् ॥

त्यक्त्वेषुभ्यः खखरंसगुणैर्वाह्निभेभ्योऽधिकश्चेत्

शोध्योऽब्धिभ्यः तदनुकलितषष्ठिकृत्यासमेतः ।

भक्तो द्व्यश्रैश्शतविनिहतै राशियुग्माधिकोऽपि

द्वाभ्यामूनो नवशतयुतः षष्ठिकृत्यासमेतः¹

एकोनितश्चैकगृहाधिकश्चेत्

कलीकृतो द्व्यश्रशतैर्विभक्तः ।

एवं स्फुटाः खेचरदृष्टयस्स्यु-

र्दिग्भ्योऽधिकां पश्यति न ग्रहेन्द्रः ॥ इति ।

यस्मादिह मन्दादीनां तृतीयदशमादिदृष्टिषु पादादिदृष्टयः

त्वानीताः, तस्मात् तद्दृष्टिसामग्र्यापादनाय त्रिपादादिदृष्टयो² निधेयाः।

तथा च श्रीपातिः—

त्रिद्व्येकपादाः क्रमशो(भि)निधेयाः शनैश्चराचार्यमहीमुतानाम् ।

त्रिकर्मणोर्ध्वसुतयोश्च रन्ध्रबन्ध्वोःस्थितानामिह पूर्वदिक्षु । इति ।

मन्दादीनां तृतीयदशमादिषु पादवृद्ध्योदितानीता दृष्टिरेव

पूर्णा कार्येत्यन्ये । तथा च श्रीधरः—

दशमत्रयादिके स्थाने पादवृद्ध्योदिता हि या ।

सूरसौरिकुजाः पूर्णा दृष्टिं कुर्वन्ति तां क्रमात् ॥ इति ।

यथा त्रिदशादिस्थानेषु सामान्येनोदिताः पादादिदृष्टयः कचि-

त्प्रदेशे युक्ता व्यवस्थापिताः, एवं त्रिदशादिस्थानेषु सामान्येनोदि-

¹ विभक्तः.

² अभिधेयाः.

तास्त्रिपादादिक्षेप्यदृष्टयोऽपि तदनुसारेण व्यवस्थापनीया इत्यन्ये,
तथा च सूर्यदेवः—

यथा दशमस्थानस्योक्ता पाददृष्टिः दृष्टिशून्यं दशमरा-
श्यन्तमुपक्रम्य प्रातिलोभ्येन दशमादौ भवति । तथा तत्स्था-
नस्योदिता त्रिपाददृष्टिरपि दृष्टिशून्यदशमराश्यन्तात् क्रमेण
दशमादौ भवितुमर्हति । एवं पञ्चमदशमादौ गणितानीता पाददृष्टि-
रपि पूर्णा भवतीति । एवं त्रयः पक्षाः । तेषु श्रीपतिमतं तदुक्त-
वदानीताया दृष्टेः रूपाधिक्यस्यापि क्वचित्संभवान्न साधु । नापि श्री-
धरमतम्, तदुक्तवदानीतानां त्रिदशादिस्थानेषु सामान्येनोदितानां
पूर्णदृष्टीनां राश्यादिमध्यान्तेषु सामान्यदर्शनात् । सप्तमस्थाने तु
सर्वेषां सामान्येनोदितायाः पूर्णदृष्टेः राश्यादिमध्यान्तेषु वैषम्यदर्शनाच्च ।
सूर्यदेवमतं तु त्रिदशादिस्थानेषु त्रिपादादिक्षेप्यदृष्टिः फलराशि राशि
लिप्ताप्रमाणराशि तत्तद्भाश्यन्तत्तत्स्थानग्रहान्तरलिप्ता इच्छाराशि पति
कल्प्य, त्रैराशिकेणानीतं गणितसिद्धपादादिदृष्टिषु क्षिपेत् । एवं
राश्यादिमध्यमान्तेषु साम्यं । रूपाधिक्यं च न स्यादिति युक्तं ।
नैतच्च सारं, एकस्मिन्नेव भागान्तरेऽतिवैषम्यदर्शनात् । तथाहि—
मन्दस्य दशमराश्यारम्भे पूर्णा दृष्टिः । नवमराश्यन्ते पाददृष्टि
रेवेत्येकस्मिन्नेव भागान्तरे महद्वैषम्यमापद्यते । यथा सप्तमनिबन्धः
पूर्णा दृष्टिष्षष्ठभावमध्यमुपक्रम्य प्रवृत्ता क्रमेण वर्धमाना सप्तममध
पूर्णा भवति । ततस्तस्मादारभ्य क्रमेण क्षयिमाणाष्टममध्ये शून्या
एवं त्रिदशादिस्थाननिबन्धनाः पादादिदृष्टयोऽपि तत्पूर्वभावमध्या
प्रवृत्ताः तत्तद्भावमध्ये भवन्ति, तदुत्तरभावमध्ये शून्याश्च । तत्तद-
न्तराले गणितेन पूर्वोत्तरदृष्ट्यनुसारेण दृष्टयो व्यवस्थापिताः । ए

त्रिपादादिक्षेप्यदृष्टयोऽपि तत्प्राग्भावमध्यात्प्रवृत्ताः त्रिदशादिभावमध्ये पूर्णाः तदूर्ध्वभावमध्येऽवसिता यथा स्युस्तदनुसारेण निधेयाः । इहापि त्रिपादादिदृक्क्षेप्यदृष्टिं फलराशिं राशिलिप्ताप्रमाणराशिं तत्तद्भावमध्यतत्तत्स्थदृश्यग्रहान्तरलिप्ता इच्छाराशिं परिकल्प्य त्रैराशिकेणाप्तं क्षेप्यदृष्टिषु विशोध्य शिष्टं गणितानीतदृष्टिषु क्षिपेदित्येषा सुगमा युक्तियुक्ता च दृष्टिः । ननु द्वितीयषष्ठयोर्दृष्ट्यभावः कैश्चिदुक्तः, श्रीपत्यादिभिस्तयोर्युक्त्या दृष्टिर्व्यवस्थापितेति विरुद्धं, न, श्रीपत्यादिभिर्दृष्टारं दृश्याद्विशोध्य तत्केन्द्रराशिभिर्दृष्टिर्व्यवस्थापिता । पूर्वैर्दृष्टाक्रान्तराशिप्रदेशं भावमध्ये कृत्वा तद्भावमध्ययोः दृष्ट्यभाव उक्तः । इति ॥ ग्रहाणां मित्रामित्रभावमाह—

ज्ञेया जीवकुजेन्दवो रविबुधौ गुर्वर्कशीतांशवः
शुक्राकौ कुजविध्विनाः शनिबुधौ शुक्रेन्दुजौ च
क्रमात् । अर्कादेस्सुहृदस्समास्तु शशिजः सर्वे च
काव्यार्कजौ मन्दाचार्यकुजाश्शनिर्गुरुकुजौ जीवः
परे शत्रवः ॥ २८ ॥

जीवकुजेन्दव इत्यादिपदक्रमेण कथिताः सूर्यादीनां सुहृदः मित्राणि भवन्ति । अथ शशिज इत्यादिपदक्रमादुक्ताः समाः उदासीनाः । सर्व इति । रविबुधयोर्मित्रत्वात् तदन्ये—कुजगुरुशुक्रमन्दा इत्युच्यन्ते । परे मित्रेभ्यस्समेभ्यश्चान्ये शत्रवो भवन्ति । एतदुक्तं भवति बृहज्जातके—

शत्रू मन्दसितौ समश्शशिसुतो मित्राणि शेषा रवेः
तीक्ष्णांगुर्हिमरश्मिजश्च सुहृदौ शेषास्समाश्शतगोः ।

जावन्दूष्णकराः कुजस्य सुहृदा ज्ञाऽरास्सताका समा
मित्रे सूर्यसितौ बुधस्य हिमगुशत्रुस्समाश्रपरे ।
सूरेस्तौम्यसितावरी रविसुतो मध्योऽपरे त्वन्यथा
सौम्यार्का सुहृदौ समौ कुजगुरू शुक्रस्य शेषावरी ।
शुक्रज्ञौ सुहृदौ समस्सुरगुरुः सौरस्य चान्येऽरयो
ये प्रोक्तास्सुदस्त्रिकोणभवनात्तेऽमी मया कीर्तिताः ।

इतीदं सत्यमतम् । यवनमते शत्रुमित्रे द्वे एव निसर्गजौ, न समः । तथ
च तत्रैव—

जीवो जीवबुधौ सितेन्दुतनयौ व्यर्का विभूजाः क्रमा-
दिन्द्रार्कादिकुजेन्द्रिनाश्च सुहृदः केषांचिदेवं मतम् ।
सत्योक्ते सुहृदस्त्रिकोणभवनात् स्वात् स्वान्त्यधीधर्मपाः
स्वोच्चायुस्सुखपाश्च लक्षणविधेर्नान्ये विरोधादिति ।

इह यवनमतात्सत्यमतस्य साधुत्वापादनायायं लक्षणविधिः ।
तथाहि—ग्रहस्य स्वत्रिकोणराशेः द्विचतुःपञ्चाष्टनवद्वादशसङ्ख्य-
राशीनां स्वोच्चराशेश्चाधिपत्यकृता मित्रता । तस्मात् तृतीयषष्ठ-
सप्तमदशमैकादशराश्याधिपत्यकृता शत्रुता । ग्रहास्तु मित्रत्वयोगात्
मित्राणि, शत्रुत्वयोगात् शत्रवः, उभययोगान्मध्या भवन्ति । सूर्य-
सोमौ स्वाम्यद्वयाभावात् मित्रे शत्रू वा स्तः, न समाविति लक्षणासिद्धत्वात्
अनेकाचार्याभिमतत्वाच्च सत्यमतमेव श्रेयः, न यवनेश्वरमतमिति तद-
नादृत्य सत्यमतमाश्रितमाचार्येण । लोकेऽपि शत्रवोऽपि कदाचिन्मित्रौ
भवन्ति, मित्राण्यपि शत्रूभवन्ति, ग्रहा अपि तद्वदिति ॥

तात्कालिकशत्रुमित्रतामाह—

मेषूरणाम्बुसहजायधनव्ययेषु

यो यस्य तिष्ठति स तस्य सुहृत्तदानीम् ।

अन्येषु वैर्युभयथारिसुहृत्वयोगात्

ज्ञेयो ग्रहोऽधिसुहृदध्यसुहृत्समश्च ॥

यस्य ग्रहस्य दशमतुरीयतृतीयैकादशद्वितीयद्वादशेषु यस्तिष्ठति स तत्स्थो ग्रहस्तस्यावधिभूतस्य ग्रहस्य तदानीं तत्काले मित्रं भवति । अन्येषु दशमादिव्यतिरिक्तेषु प्रथमसप्तमपञ्चमनवमषष्ठाष्टमेषु स्थितः तत्काले शत्रुर्भवति । तथा तत्स्थग्रहस्य सोऽपि मित्रं शत्रुश्च स्यात् । तावुभावन्योन्यमित्रे अन्योन्यशत्रू च स्तः इत्यर्थः । उभयथा—नैसर्गिकेण तात्कालिकेन च । अरिश्च सुहृच्च अरिसुहृदौ । तयोर्भावोऽरिसुहृच्चं, तद्योगात् अरिसुहृत्तद्योगाच्च हेतोरित्यर्थः । स ग्रहोऽधिसुहृदध्यसुहृत् समश्च ज्ञेयः । चकारस्समुच्चयार्थः । तौ सुहृन् असुहृच्चेति । एतदुक्तं भवति—यो यस्य नैसर्गिकसुहृत्, स तात्कालिकसुहृत्वयोगादधिसुहृत् भवति, तात्कालिकारित्वयोगात् समः, यो नैसर्गिकशत्रुः स तात्कालिकारित्वयोगादधिशत्रुः, तात्कालिकसुहृत्वयोगात्समः । यो नैसर्गिकस्समः, स तात्कालिकसुहृच्चयोगात् सुहृत्, तात्कालिकारित्वयोगादारिश्च भवति । तथाच वराहमिहिरः—

अन्योन्यस्य धनव्ययायसहजव्यापारबन्धुस्थिता-

स्तत्काले सुहृदस्त्वतुङ्गभवनेऽप्येकेऽरयस्त्वन्यथा ।

द्वेचकानुक्तभपान् सुहृत्समरिपून् सञ्चिन्त्य नैसर्गिकान्

तत्काले च पुनस्तु तानधिसुहृन्मित्रादिभिः कल्पयेत् ॥ इति ।

यो यस्य स्वोच्चराशौ तिष्ठति, स तस्य तात्कालिकमित्रमित्येत-

चार्येण युक्तचयुक्तमिति नोक्तम् । यस्मादुच्चस्थस्य मित्रत्वे नीचस्थेन शत्रुणा भाव्यमिति ॥

कालहोराधिपानाह—

दिनद्वादशांशो मतः कालहोरा
पतिस्तस्य पूर्वस्य वाराधिनाथः ।
ततष्षष्ठषष्ठाः क्रमेणेतरेषां
निशायां तु वारेश्वरात्पञ्चमाद्याः ॥ २० ॥

दिनस्य—स्फुटदिनप्रमाणस्य द्वादशांशः—किञ्चिद्दूनाधिकसा-
र्धद्विवटिकात्मकः कालहोरासंज्ञः । तस्य तद्द्वारेशः पतिः, ततो द्वितीयस्य
वारेशात् षष्ठः, तृतीयस्य तस्मात् षष्ठः पूर्वस्मात् यश्चतुर्थो भवति ।
एवमन्येषामपि तत्तत्षष्ठास्स्वामिनस्स्युः । एवं निशायामपि द्वादश-
कालहोरासंज्ञाः । तत्राद्यस्य वारेशात् पञ्चमः पतिः । द्वितीयादीनां
वारेशपञ्चमात् षष्ठषष्ठाः पतयस्स्युः, प्रतिदिनं चतुर्विंशतिकालहोरा-
स्तासां वाराधिपाद्याः यथोत्तरं सप्तैव पौनःपुन्येनावृताः पतयो भवन्ति ।

यथोक्तमार्थभटेन—

सप्तैते होरेशाश्शनैश्चराद्या यथाक्रमं शीघ्राः ।

शीघ्रक्रमाच्चतुर्थाः भवन्ति सूर्योदयाद्दिनपाः ॥ इति ।

शनैश्चराद्या इति शनैश्चरगुरुभौमार्कशुक्रबुधचन्द्रा उच्यन्ते ।

अत्र केचिदाहुः—दिनस्यैव चरवशात् हासवृद्धी स्तः, तदनुसारेण
कालहोराणामिति । तथाच श्रीपतिः—

वारप्रवृत्ता वटिका द्विनिघ्नाः

कालस्य होरापतयश्शराप्ताः ।

वाराधिपाद्या रविशुक्रसौम्य-

शशाङ्कसौरैज्यकुजाः क्रमेण । इति

कालहोरास्सार्धद्विघटीरूपा नियमिताः । तथाच मरद्वाजः—

यावन्नाडीद्वयं सार्धं कालहोरेति चोच्यते ।

अहोरात्रे चतुर्विंशद्वोरास्तास्युत्समा इति ॥

अन्ये तु दिनवत् कालहोराणामपि चरवशात् हासवृद्धी
वाञ्छन्ति । तथाच सर्वसिन्धौ—

यमकण्टकहोराब्दप्रहारगुळिकादयः ।

दिनरात्रिस्पृशो नाड्यः तद्गुणास्त्रिंशता हताः ॥ इति

तद्गुणाः—स्फुटदिनगुणिता इत्यर्थः । एतदेव सारं, यस्मादुक्तं—

प्रातर्दिनपतेर्गण्यास्सायं तत्पञ्चमादितः । इति । तथाहि—काल-
होराणां सार्धद्विघटीरूपत्वे नियते यदा त्रिंशद्विघटीमितं दिनं तदा
रात्रौ प्रथमहोराया वारेशपञ्चमः पतिस्स्यात् । यदा तु सार्धसप्त-
विंशतिघटिकात्मकं तदा वारेशसप्तमः पतिः प्राप्नोति । यदा सार्ध-
द्वात्रिंशद्विघटिकात्मकं तदा वारेशचतुर्थः इति । अथ होराणां दिन-
द्वादशांशप्रमाणत्वे सर्वदा शर्वरीपूर्वहोराया वारेशपञ्चम एव पति-
र्भवति । कालहोरास्त्वनियतमानाः सार्धद्विघटीरूपाः तदूनाधिका
वा स्युः । तस्मात् दिनद्वादशांशः कालहोरेत्येतदेवानेकाचार्या-
भिमतमाचार्येणोक्तम् । तुशब्दो मतान्तरद्योतनार्थः । दिवापि
वारेश्वरात्पञ्चमाद्या होरापतय इति । तथा चोक्तमत्रिणा—

गुर्वारार्कभृगुज्ञेन्दुमन्दा अर्कादिवारतः ।

चतुर्विंशांशपा वारमन्त्यं वारेशितुः क्रमात् ॥ इति

अथ नक्षत्रसंज्ञामाह—

नक्षत्राणां नामान्यश्विन्यादीनि लोकसिद्धानि ।

निजदेवताभिधानैरभिधास्यन्ते क्वचिच्च तान्यत्र ॥

नक्षत्राणि सप्तविंशतिः, तेषां नामान्यश्विन्यादीनि । अश्विनी भरणी कृत्तिकेत्यादीनि लोकसिद्धानि । अतस्तानि नेहामिधीयन्ते इति शेषः । अत्र शास्त्रे तानि क्वचिन्नक्षत्रनिर्देशे कार्ये श्राव्यवृत्तग्रथनाय निजदेवताभिधानैः—निजनामभिः—अश्विनीत्यादिभिः, स्वदेवतानामभिः अश्विनावित्यादिभिर्वा, स्वदेवताकृतनामभिः ‘सास्य देवता’ इत्यर्थे तद्धितप्रत्ययान्तैर्नामभिराश्विनमित्यादिभिर्वा वक्ष्यन्ते ॥

नक्षत्राणां देवता आह—

भानामश्वियमाग्निधातृशशिनो रुद्रोऽदितिर्गी-
ष्पतिः स्सर्पौघाः पितरोऽर्यमा भगरवी त्वष्टाऽऽशु-
गेन्द्राग्रयः । मित्रेन्द्रौ निर्ऋतिः पयोदकुसुमं विश्वे
मुकुन्दो वसुक्षीरेशावज एकपात् पुनरहिर्बुध्नयश्च
पूषाधिपाः ॥ ३२ ॥

अश्विन्यादीनां भानामश्व्यादयस्सप्तविंशतिर्देवताः अधिपास्स्युः । अश्विन्या अश्विनौ देवता, भरण्या यम इत्यादि । धाता—प्रजापतिः । आदितिः—देवमाता, गीष्पतिः—बृहस्पतिः । सर्पौघाः—सर्पश्रेष्ठाः । अर्यमभगौ द्वौ देवौ । त्वष्टा—देवशिल्पिः । आशुगो—वायुः । विशा-
खानक्षत्रस्येन्द्राग्नी द्वौ देवता । तथाच श्रूयते—विशाखे नक्षत्रं इन्द्राग्नी द्वौ देवता इति । मित्रो देवः । पयोदकुसुमं जलम् । विश्वे—विश्वेदेवाः । मुकुन्दो—विष्णुः । वसवोऽष्टौ देवाः । क्षीरेशो वरुणः, अज एकपात्—अजैकपात्नाम देवः । अहिर्बुध्न्यो देवः । केचित् पूर्वोत्तरफल्गुन्योः देवताविनिमयमामनन्ति । तथा च रल्लः—

अश्वी यमदहनकमलजशशिशूलभृदादितिजीवफणिपितरः ।

समगोऽर्धमा दिनकरस्त्वष्टा पवनश्च शक्राग्नौ ।

मित्रशक्रो निरृतिस्तोयं विश्वे हरिर्वसुर्वरुणः ।

अजपादोऽहिर्बुध्न्यः पूषा चेतीश्वरा भानाम् । इति ॥

तदनादरणीयं, अश्रौतत्वात् । श्रुतिविरोधे अस्य ज्योतिश्शा-
स्त्रस्य श्रुत्यङ्गत्वमेव नोपपद्येत । आचार्योक्तमेव श्रौतम् । तथा
च श्रूयते—

‘फल्गुनी नक्षत्रमयमा देवता, फल्गुनी नक्षत्रं भगो देवता’

इति । तस्मादत्रोक्तमेव साधीय इति ।

केषांचिद्भानां संज्ञान्तरमाह—

पूर्वा फल्गुन्यषाढाश्च पूर्वाः प्रोष्ठपदा अपि ।

पूर्वात्रयं विदुस्तस्मादुत्तरं चोत्तरात्रयम् ॥ ३३ ॥

फल्गुनीसंज्ञे आषाढासंज्ञे प्रोष्ठपदासंज्ञे च द्वे द्वे नक्षत्रे स्तः ।
तत्र पूर्वं नक्षत्र त्रयं पूर्वात्रयं विदुः । पूर्वत्रयादुत्तरं यन्नक्षत्र-
त्रयं तदुत्तरात्रयं विदुः ॥

शूर्पद्विदैवसंज्ञा विशाखयोरदितिभस्य मात्रा-
ख्या । प्रोष्ठपदाद्वितयस्य क्रमशस्स्यात् भाद्रबु-
ध्न्यसंज्ञानम् ॥ ३४ ॥

विशाखयोः-विशाखाक्षत्रस्य शूर्प द्विदैवमिति संज्ञाद्वयं स्यात् ।
अदितिभस्य-पुनर्वसुनक्षत्रस्य मातृसंज्ञा । प्रोष्ठपदाद्वयस्य क्रमशो
भाद्रबुध्न्यं संज्ञा स्यात् । पूर्वप्रोष्ठपदानक्षत्रस्य भाद्रमिति उत्तर-
प्रोष्ठपदानक्षत्रस्य बुध्न्यमिति संज्ञे स्त इत्यर्थः ॥

नक्षत्रनिर्देशे लाघवायाह—

यन्नक्षत्रोपपदा यावत्यभिधीयते पुरासंख्या ।
भानामिह सा संख्या विज्ञेया तावतां तदादीनाम्॥

यन्नक्षत्रमुपपदं कृत्वा यावती—द्वित्रिचादिका संख्या पुराभि-
धीयते—अभिधास्यत इत्यर्थः । 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति भविष्यति
लट् । सा नक्षत्रोपपदा संख्या तदुपपदीकृत्य नक्षत्रादीनां भानां
तावतामपि व्यापिनी विज्ञेया । नक्षत्रोपपदवत्संख्यानिर्देशे तदु-
पपदीभूतनक्षत्रप्रभृतीनि तावत्संख्यानि भानि ग्राह्याणीत्यर्थः । यथा-
चित्राद्वयमित्युक्ते चित्रास्वात्यौ नक्षत्रे गृह्येते । श्रवणत्रयमित्युक्ते
श्रवणधनिष्ठाशतभिषजो नक्षत्राणि त्रीणि गृह्यन्ते इत्याद्यूह्यम् ।

नक्षत्राणां कृत्यविशेषाभिधानाय विभागसंज्ञामाह—

तिष्यो वैष्णवमुत्तरात्रयवसुप्राचेतसं रुद्रभं
रोहिण्या युतमेतद्वक्षनवकं विज्ञेयमूर्ध्वाननम् ।
मैत्राश्विन्यदितीन्दुपौष्णपवनत्वष्ट्रकदेवेन्द्रभं
तिर्यग्बक्रमधोमुखं तदपरं तत्तत्समं तत्फलम् ॥

तिष्यः—पुष्यः । वैष्णवं—श्रवणं । वसुः—धनिष्ठा । प्राचेतसं—शतभिषं
रुद्रभं—आद्रा । एतत्पुष्यादिनक्षत्रनवकमूर्ध्वमुखसंज्ञम् । मैत्रं—अनू-
राधा । इन्दुः—मृगशिरः । पौष्णं—रेवती । पवनः—स्वाती । अर्को
हस्तः । देवेन्द्रभं—ज्येष्ठा । एतानि भानि, समाहारैकवद्भावः ।
अनूराधादीदं नवकं तिर्यङ्मुखसंज्ञम् । ताभ्यामपरं ऊर्ध्वमुख
तिर्यङ्मुखव्यतिरिक्तनक्षत्रनवकमधोमुखसंज्ञम् । भरणीकृत्तिकाऽऽश्ले

षामखामूलविशाखापूर्वात्रयाणीति । तत्फलं—तन्नक्षत्रनवकत्रयकृत्यं तत्त-
त्समं—तस्यतस्य संज्ञासदृशमित्यर्थः । तथाच श्रीपतिः—

तिष्यार्द्राश्रवणोत्तराशतभिषग्ब्रह्मश्रविष्ठाह्वया-
न्यूर्ध्वास्यानि नवोदितानि मुनिभिर्धिष्यन्यथैतेषु तु ।
प्रासादध्वजहर्म्यवारणगृहप्राकारस्त्रकोरण-
च्छायारामविधिर्हितो नरपतेः पट्टाभिषेकादि च ॥
ज्येष्ठादित्यकराश्विनीमृगशिरःपौष्णोऽनुराधानिल-
त्वाष्ट्राख्यानि वदन्ति भानि मुनयस्तिर्यङ्मुखान्येषु तु ।
अश्वेभोष्टूलुलायरासमवृषारभ्रादिदन्तिश्वनौगन्त्री-
यन्त्रहलप्रवाहगमनारम्भाः प्रसिद्धयन्ति च । इति ।

क्षिप्रास्तीक्ष्णकराश्विनेयगुरवो वस्वम्बुनाथानि-
लश्रीनाथादितयश्चराश्च मृदवश्चित्रान्त्यमित्रेन्दवः ।
उग्रा भाद्रयमार्यमाम्बुपितरो ज्ञेया बुधैरुत्त-
रारोहिण्यस्स्थिरसंज्ञितास्तदपरास्तीक्ष्णाह्वयास्ता
रकाः ॥ ३६ ॥

तीक्ष्णकराश्विनेयगुरवः—हस्ताश्विनीपुष्यास्त्रयः क्षिप्रसंज्ञाः ।
धनिष्ठाशतभिषक्स्वातीश्रवणपुनर्वसुः पञ्चर्षाणि चरसंज्ञानि । चि-
त्ररेवत्यनूराधामृगशीर्षाणि चत्वारि मृदुसंज्ञानि । भाद्रं—पूर्वा-
भाद्रा, यमो—भरणी अर्यमा, फल्गुनी—पूर्वाफल्गुनी, अम्बु—पूर्वाषाढं
पितरो—मघाः एतानि पञ्च भानि उग्रसंज्ञानि । उत्तरात्रयरोहिण्य-
श्रतस्त्रस्तारास्स्थिरसंज्ञाः । तदपराः आर्द्राऽऽश्लेषामूलज्येष्ठाविशाखा-
कृत्तिकाः षट् तारकाः तीक्ष्णाख्याः । अन्ये विशाखाकृत्तिकयो-

मृदुतीक्ष्णविमिश्राख्यामाहुः । तथाच रञ्जः—

हौतवहं सविशाखं मृदु तीक्ष्णं तद्विमिश्रफलकारि । इति ।
अत्रापि तत्तत्समं तत्फलमित्यनुवर्तते ।

उक्तं च रञ्जन—

लघुहस्ताश्विनपुण्याः पण्यरतिज्ञानभूषणकलासु ।
शिल्पौषधयानेषु च सिद्धिकराणि प्रदिष्टानि ।
श्रवणत्रयमादित्यानिर्लेषु चरकर्मणि हितानि ।
मृदुवर्गोऽनूराधाचित्रापौष्णैन्दवानि मित्रार्थे ।
मुरतविविधस्त्रभूषणमङ्गलगीतेषु च हितानि ।
उग्राणि पूर्वभरणीपित्र्याण्युत्सादनादिसाध्येषु ।
योज्यानि बन्धविषदहनशस्त्रघातादिषु च सिद्ध्यै ।
त्रीण्युत्तराणि रोहिण्या सह ध्रुवाणि तैः कुर्यात् ।
अभिषेकशान्तितरुनगरधर्मबीजध्रुवारम्भान् ।
मूलशिवशक्रभुजगाधिपानि तीक्ष्णानि तेषु सिद्ध्यन्ति ।
अभिघातमन्त्रवेताळबन्धवधभेदसंबन्धाः ॥ इति ।

अश्विन्यार्याजभाद्रद्वयरविमुरजिन्मातृमित्राः

पुमांसः क्लीबाख्या मूलशीतद्युतिजलपतयस्तार
का योषितोऽन्याः । देवर्क्षाणीन्दुजीवादितितपन
मरुत्पौष्णविष्णवश्विमित्रामर्त्याः पूर्वोत्तरेशान्तव
कमलभुवश्शिष्टभान्यासुराणि ॥ ३७ ॥

आर्यो—जीवः । अजो—ब्रह्मा । भाद्रद्वयं—प्रोष्ठपदाद्वयम्
मुरजित्—विष्णुः । अश्विन्यादीनि पुंसंज्ञानि । मूलमृगाशिरश्श

भिषजस्त्रयः छ्दीबाख्याः । अन्याः—भरणीकृत्तिकाऽऽश्लेषामघात्रय-
चित्रात्रयज्येष्ठाश्रविष्ठाषाढाद्वयरेवत्यः पञ्चदश तारकाः योषित्संज्ञाः ।
तपनः—सूर्यः । मरुत्—वायुः । मृगशीर्षादीनि नवर्क्षाणि देवसं-
ज्ञानि । पूर्वाः—पूर्वात्रयं । उत्तरात्रयं, कमलभूः—ब्रह्मा । पूर्वादयो
नव ताराः मर्त्यसंज्ञाः । शिष्टानि । कृत्तिकाऽऽश्लेषामघामूलविशा-
खाचित्राज्येष्ठाश्रविष्ठाशतभिषग्भानि नवामुराणि राक्षससंज्ञानि । एत-
द्वयं सेवापरिणयादावुपयुज्यते ।

आग्नेयादीन्यत्र चत्वार्युडूनि

प्राज्ञैरुक्तान्यन्तरङ्गाभिधानि ।

मात्वादीनि त्रीणि बाह्याह्वयानि

ज्ञेयान्यैवं सप्तसप्तेतराणि ॥ ३८ ॥

आग्नेयादीनि—कृत्तिकादिचत्वार्युडूनि अन्तरङ्गाख्यानि । ततः
पुनर्वस्वादीनि त्रीणि भानि बाह्याख्यानि । इतराणि मखादीनि
सप्त, मैत्रादीनि साभिजन्ति सप्त, धनिष्ठादीनि सप्त भान्येवं चत्वार्यन्त-
रङ्गानि त्रीणि बाह्यानि ज्ञेयानीत्यर्थः । तत्कृत्यं च वक्ष्यति ।

यदात्मनीनं शुभमन्तरङ्गे

तद्वेऽपि दद्यादशुभं तु बाह्ये । इति ।

नक्षत्रमृक्षं भं तारातारकाप्युडु वाऽस्त्रियामित्यमरः ।

अथ तिथिसंज्ञामाह—

नन्दा च भद्रा विजया च रिक्ता

पूर्णेति संज्ञाः क्रमशस्तिथीनाम् ।

छिद्राभिधास्तासु भवन्ति भास्व-

द्वस्वङ्गसंङ्ख्यास्थितयस्सरिक्ताः ॥ ३९ ॥

प्रथमादिपञ्चदश्यन्तानां तिथीनां नन्दादयः पञ्च संज्ञाः क्रमशः पर्यायेण त्रिरावृत्ता भवन्ति, प्रतिपत्षष्ठ्येकादशीनां नन्दादिसंज्ञेत्यादि । एषा चान्वर्थसंज्ञा विज्ञायते यथाह रङ्गः—

नन्दा भद्रा विजया रिक्ता पूर्णास्स्वनामसदृशफलाः । इति ।
कैश्चिदन्यथा प्रथमादितिथिसंज्ञाः कथिताः तथा च रङ्गः—

वृद्धिः समङ्गलाख्या बलाबला श्रीमती च शामित्रा ।

सुमहामहोग्रकर्मा सुधर्मिणी चाप्यथो नन्दा ।

परतो यशोवती स्यात् जया तथोग्रा च सौम्यसंज्ञा च ।

तिथिनामानि क्रमशः * फलसंज्ञानुरूपाणि । इति ।

चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन तिथीनां देवता इहानुपयुक्ता इत्यनुक्ता अपि शास्त्रान्तरादवगन्तव्याः । उक्तं च रङ्गेन—

‘हुतवहकमलजगिरिजागजवदनभुजङ्गगुरुदिनेशशिवाः ।

दुर्गायामविश्वाच्युतमदनेश्वरशशिभृतः पुरा प्रोक्ताः

पितरोऽमावास्यायाः’ इति ।

तासु भास्वद्वस्वङ्गसंख्याः—द्वादश्यष्टमीषड्यः रिक्ताभिश्चतुर्थीनवमीचतुर्दशीभिस्सह छिद्राभिधा भवन्ति ।

दर्शस्यापि छिद्रत्वं कैश्चिदुक्तम् । तथाच—

छिद्राणि युग्मास्तिथयः सदृशाः पक्षस्य हित्वा दशमी द्वितीये ।

तत्रायुजश्श्रेष्ठतमाः प्रदिष्टाः विना नवम्या परमार्थविद्धिः’ इति ।

*स्युः फलसंज्ञानुरूपाणि इति स्यात्.

एतासु तिथिष्वपि स्थिरादिभेदाः कैश्चिदुक्ताः । तथाच भरद्वाजः—

स्थैर्ये तु प्रतिपच्छेष्टा दशम्येकादशी तथा ।
द्वितीया सप्तमी चैव द्वादशी क्षिप्रकर्मसु ।
त्रयोदशी तृतीया च पञ्चमी च मृदौ शुभाः ।
अष्टमी चैव षष्ठी च पूजिते मृदुदारुणे ।
चतुर्दशी चतुर्थी च नवमी क्रूरदारुणे ॥
तेषु च व्यतिरिक्तत्वात् सर्वारम्भं विवर्जयेत् ।
पौर्णमासी शुभा पुण्या पूजिता शुभकर्मसु ।
अमावास्या निरारम्भा सर्वारम्भेषु वर्जिता ॥

इति । करणान्याह—

बवबालवकौलवतैतिलगरजवणिजविष्टिनामा-
नि । चरकरणानि विदुश्शुक्लप्रथमान्त्यार्धपू-
र्वाणि ॥ ४१ ॥

तिथिं द्विधा करोतीति करणमित्यन्वर्थसंज्ञानात् तिथ्यर्धं
करणमिति विज्ञायते । तानि बवादिसंज्ञानि करणानि सप्त
चराणि शुक्लप्रथमान्त्यार्धादारभ्य आकृष्णचतुर्दश्यपरार्धान्मासेऽष्ट-
कृत्वः पर्यायेण भवन्ति । शुक्लप्रतिपदपरार्धादीनि तिथ्यर्धानि सप्त
•सप्त बवादिसंज्ञानि करणानीत्यर्थः ।

स्थिरकरणान्यसितचतुर्दश्यपरार्धादिकानि च-
त्वारि । प्राहुश्शुक्लचतुष्पदसनागकिंस्तुघ्नना-
मानि ॥ ४२ ॥

कृष्णचतुर्दश्यपरार्धादीनि शुक्लप्रतिपत्पूर्वार्धान्तानि तिथ्यर्धानि शकुन्यादिसंज्ञानि चत्वारि स्थिरकरणानि भवन्ति । उक्तं च ब्रह्म-
गुप्तेन—

कृष्णचतुर्दश्यन्ते शकुनिः पर्वणि चतुष्पदः प्रथमे ।
तस्यान्यार्धे नागः किंस्तुघ्नः प्रतिपदाद्यर्धे ॥

तथाच भरद्वाजः—

तिथिं तु द्विगुणं कृत्वाप्येकमेव युतं क्रमात् ।
शुक्ले च बहुले सर्वे सप्त शेषा ववादयः ॥

करणयोनीराह वृत्तार्धेन—

तेषां सिंहव्याघ्रकोलाः खरेभौ
गौडश्वा चेत्थं योनयस्संप्रदिष्टाः ॥ ४३ ॥

कोलः वराहः । खरः गर्दभः । इभः गजः । शेषाः प्रसि-
द्धाः । तेषां ववादीनामिति सिंहादयस्सप्त योनयः ता एव सं-
ज्ञाश्रोक्ताः । यथा बवस्य सिंहो योनिः सैव संज्ञा चेत्यादि । इत्थं-
शब्दोऽनुक्तदेवतानामध्याहारार्थो वा । ताश्रोक्ता भरद्वाजेन—

विष्णुः प्रजापतिश्चन्द्रः सुरेज्यो वसवस्तथा ।
माणिभद्रो यमश्चेति दैवतानि ववादि यत् ॥ इति ॥

शकुनादीनां पक्षिपशुसर्प (१) योनयः । तेनैव देवताश्रोक्ताः—

मृत्युश्च पितरो नागा रुद्रश्चेति यथाक्रमम् ।
देवताश्शकुनादीनां चतुर्णां सन्नुदाहृताः ॥ इति ॥

अथ सूर्यादिवाराः प्रसिद्धाः तेषां योनीश्चाह वृत्तापरार्धेन—

**शुक्रेन्द्वार्यब्रध्नसौम्यार्कसूनु-
क्षमापुत्राणां वासराणां च सद्भिः ॥४३॥**

ब्रध्नः सूर्यः, सौम्यो बुधः । शुक्रादिवाराणामपि सिंहाद-
यस्सप्त योनयो भवन्तीति सद्भिरुक्ताः । यथा शुक्रवारस्य सिंहः ।
इन्दुवारस्य व्याघ्रः इत्यादि । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः ।

वारदेवताश्च—

सूर्यादितश्चिवशिवागुहविष्णुकेन्द्र-
कालाः क्रमेण पतयः कथिता ग्रहाणाम् ।
बह्वचम्बुभूमिहरिशक्रशर्चाविरिञ्चा-
स्तेषां पुनर्मुनिवरैः प्रतिदेवताश्च ।

पञ्चाङ्गादीन्याह—

**नक्षत्रवारतिथयः करणानि योगाः पञ्चाङ्गमेतद-
थ राशियुतं षडङ्गम् । सप्ताङ्गमित्यभिहितं ग्रहयु-
क्तमेतत् वर्गोत्तमो निजनिजो भवने नवांशः ॥४४॥**

नक्षत्रं—चन्द्रस्य एकनक्षत्रभोगकालः । तथा च भरद्वाजः—

यद्यन्नक्षत्रमासाद्य शशी यावत्तु तिष्ठति ।
तावत्तन्नामसंयुक्तं नक्षत्रमिति चक्षते ॥ इति ।

वारः सूर्योदयद्वयमध्यकालः । तथा च श्रीपतिः—

वारप्रवृत्तिं मुनयो वदन्ति सूर्योदयाद्रावणराजधान्याम् ।
ऊर्ध्वं तथाधोऽप्यपरत्र तस्मात् चरार्धदेशान्तरनाडिकाभिः ॥

इति । तिथिः—चन्द्रस्य विषपञ्चदशांशवृद्धिस्यकालः । तथा च
भरद्वाजः—

यदा पञ्चदशो भागो वर्धते क्षीयतेऽपि वा ॥

कालेन यावता चन्द्रः स कालस्तिथिरुच्यते ॥ इति ।

करणं—तिथ्यर्धकालः ।

तिथिः द्वे करणे ज्ञेये ।

इति भरद्वाजः । योगो—नित्यो विष्कम्भादिः । स चार्केन्द्रो-
श्चक्रान्तमुपक्रम्योभयोरप्येकनक्षत्रभोगकालः । एतत्पञ्चकेमेकोक्तौ प-
ञ्चाङ्गमित्युच्यते । राशयो मेषाद्याः, तैस्सह एकोक्तौ षडङ्गमिति ।
एतत्षडङ्गमेव ग्रहैश्च सहैकोक्तौ सप्ताङ्गमित्युक्तम् । परिशिष्टपादेन
वर्गोत्तमांशानाह । राशिषु निजनिजो-नवांशो वर्गोत्तमसंज्ञः । स च
चरादिषु प्रथममध्यमान्तगतः । तथा च वराहमिहिरः—

वर्गोत्तमाश्चरगृहादिषु पूर्वमध्य-

पर्यन्ततः स शुभदा नव भागसंज्ञाः ॥ इति ।

कन्याहयार्धयमतौलिघटा द्विपाद-
स्तोयाश्रया झषकुळीरमृगान्त्यभागाः ।
पूर्वापरे मृगहयाङ्गदले मृगेन्द्रो
मेषो वृषश्च पशवश्चतुरङ्घ्रिसंज्ञाः ॥४५॥

हयार्ध—धनुःपूर्वार्धम् । कन्याद्याश्चत्वारो राशयः सराश्य-
र्धाः द्विपादः—नरराशय इत्यर्थः । मीनकर्किमकरापराधा जलचरा
राशयः । मकरस्य पूर्वमर्धं हयाङ्गस्यापरार्धमिति सद्विराश्यर्धाः सि-
हाद्यास्त्रयः चतुष्पादसंज्ञाः । अस्यैव विवरणं पशव इति । परि-
शिष्टो वृश्चिक एकः कीटसंज्ञ इति शेषः । एतत्प्रयोजनं च
बलाबलपरिज्ञानादि । अत्र मार्ग्यः—

नृयुक्कुला घटः कन्या पूर्वमर्धं च धन्विनः ।
 लग्नस्था बलिनो ज्ञेया एते हि नरराशयः ।
 चतुर्थे कर्कटे मीनो मकरार्धं च पश्चिमम् ।
 विज्ञेया बलिनो नित्यमेते हि जलराशयः ।
 चापान्त्यार्धजगोसिंहा बलिनः खे चतुष्पदाः ।
 सप्तमे वृश्चिकः कीटो बलवान् परिकीर्तितः ॥ इति ।

विप्राह्वयौ गुरुसितौ नृपती कुजाकौ
 वैश्यश्शशी शशिसुतो वृषलोऽर्कजोऽन्त्यः ।
 वेदाधिपा गुरुसितारबुधा दिगीशाः
 भास्वत्सितारफणिमन्दशशिज्ञजीवाः ॥ ४६ ॥

वृषलः शूद्रः । अन्त्यः चण्डालः । एताः पञ्च जातयः ।
 एतच्च प्रश्नादिषूपयुज्यते । गुर्वादयश्चत्वारो वेदानां ऋग्यजुस्सामा-
 थर्वणां पतयः । ऋचां गुरुः । यजुषां सितः । साम्नां कुजः । अ-
 थर्वणां बुधः । भास्वदादयोऽष्ट ग्रहाः प्रागाद्यष्टदिशामीशा भवन्ति ।
 यथा—प्राच्याः सूर्यः । आग्नेय्यास्सितः इत्यादि । केचित् राशि-
 ष्वपि जात्यादिभेदान्वदन्ति । तथा च वराहमिहिरः—

ज्ञषमेषवृषभमिथुनाः त्रिकोणसहितास्तु विप्राद्याः ।
 इति । मीनकर्कटवृश्चिका विप्राः इत्यादि । मेषाद्यास्सन्नि-
 कोणराशयः प्रागादिचतुर्दिशामीशास्स्युः ।

तथा च बृहज्जातके—

प्रागादीशाः क्रियवृषनृयुक्कर्कटास्सन्नि-
 कोणाः ।

इति । अनयोर्यात्रोपनयनादिषूपयोगः ।

संज्ञामुपदिशति—

ज्ञेयाविन्दुकवी स्त्रियौ शनिबुधौ क्लीबौ पुमांसः
परे संज्ञाः काश्चन पूर्वशास्त्रगदितास्संक्षेपतो द-
र्शिताः । अस्मिन् रूपवपुःप्रमाणसगुणद्रव्यस्व-
भावादयः कथ्यन्ते सगृहग्रहस्य न मया ह्यन्यत्र
तद्विस्तरः ॥ ४७ ॥

चन्द्रशुक्रौ स्त्रीसंज्ञौ । शनिबुधौ नपुंसकसंज्ञौ । राहुश्च
षण्डः । परे रविकुजगुरवः पुमांसः । तथा च नारदः—

पुंग्रहास्सूर्यभौमार्याः स्त्रीग्रहौ शशिभार्गवौ ।

नपुंसकौ शनिबुधौ शिरोमात्रं विधुन्तुदः ॥ इति ।

एतस्याधानप्रश्नादिषूपयोगः । इति पूर्वशास्त्रेषु भरद्वाजबृहज्जातका-
दिषूक्ताः । काश्चन प्रसिद्धाः राशिग्रहादिसंज्ञाः संक्षेपतः यावद्वि-
शशास्त्रार्थज्ञानं संपत्स्यते तावत् एव दर्शिताः । नाधिका इत्याह ।
अस्मिन् शास्त्रे राशिग्रहाणां रूपवपुःप्रमाणादयो मया न कथ्यन्ते
यतस्त इहानुपयोगिनो जातकप्रश्नादिविवेचोपयुज्यन्ते, अतस्तेषामन्य-
बृहज्जातकादौ विस्तरः उक्तः । राशिग्रहाणां रूपवपुःप्रमाणादि-
विस्तरः पूर्वाचार्यैरुक्त एवावलोक्यतामित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—
एतच्छास्त्रार्थव्यवहारमात्रज्ञानाय तदुपयोगिन्यः काश्चित्संज्ञा एवे-
ह मयोक्ताः नान्यदनुपयुक्तमिति । तच्च यदि कस्य चित् जिज्ञा-
सितं पूर्वशास्त्रेष्वेवावलोक्यतामिति । तत्र रूपं श्वेतरक्तादि ।
वपुः वृत्तचतुरश्रादि । प्रमाणं दीर्घादि । गुणास्सत्त्वादयः । द्रव्यं
ताम्रादि । स्वभावः तीक्ष्णत्वादिः । आदिशब्देन कालरसवयो-
योनितद्भेदाद्या गृह्यन्ते । कालोऽयनादिः । संख्या एकादिः ।

वयः शैशवादिः । योनिः धात्वादिः । तद्भेदाः धान्यगुल्मार्विप-
दादयः । ग्रहाणां रूपादीनि शास्त्रान्तराभिहितानीहोच्यन्ते
सूर्यादीनां वर्णा वराहमिहिरेणोक्ताः ।

वर्णास्ताम्रसितातिरक्तहरितव्यापीतचित्रासिताः

इति । लघुजातकम्—

चतुरश्रो नात्युच्चः तनुकेशः पैत्तिकोऽस्थिसारश्च ।
शूरो मधुपिङ्गाक्षो रक्तश्यामः पृथुश्चार्कः ।
स्वच्छः प्राज्ञो गौरः चपलः कफवातिको रुधिरसारः ।
मृदुवाग्धृणी प्रियसखः तनुवृत्तश्चन्द्रमाः प्रांशुः ।
ह्रस्वो हिंस्वस्तरुणः पिङ्गाक्षः पैत्तिको दुरावर्षः ।
चपलः सरक्तगौरो मज्जासारश्च माहेयः ।
मध्यमरूपः प्रियवाक् दूर्वाश्यामः सिराततो निपुणः ।
त्वक्सारस्त्रिस्थूणः सततं हृष्टस्तु चन्द्रसुतः
मधुनिभनयनो मतिमानुपचितमांसः कफात्मको गौरः ।
ईषत्पिङ्गलकेशो मेदस्सारो गुरुर्दीर्घः ।
श्यामो विकृष्टपर्वा कुटिलासितमूर्धजः सुखी कान्तः ।
कफवातिको मधुरवाक् भृगुपुत्रश्शुक्लसारश्च ।
कृशदीर्घः पिङ्गाक्षः कृष्णः पिशुनोऽलसोऽनिलप्रकृतिः ।
स्थूलनखदन्तरोमा शनैश्चरस्त्रायुसारश्च ।

णेन राहोरप्युक्तं—

अतिकृष्णतीक्ष्णकुटिलो दीर्घाङ्घ्रिर्विकटलोचनः पापः ।
वक्रगतिर्दुर्मेधाः राहुस्साक्षादधोदृष्टिः ।
शशियमकुजभुजगेन्द्राह्रस्वा रविभार्गवौ तु मध्यतनू ।

गुरुचन्द्रसुतौ दीर्घौ द्वस्वश्रैषां वदन्त्यन्ये

गुणा बृहज्जातकोक्ताः—

चन्द्रार्कजीवा ज्ञासितौ कुजार्की

यथाक्रमं सत्त्वरजस्तमांसि ।

द्रव्याणि —‘ताम्रं स्यान्मणिहेमशुक्तिरजतान्यर्काच्च मुक्तायसी’ इति ।

स्वमवाः—‘शिखिभूखपयोमरुद्गणानां वशिनो भूमिसुतादयः क्रमेण’ ।

‘अयनक्षणवासरर्तवो मासोर्ध्वं च समाश्च भास्करात् ।’

कटुकलवणतिक्तमिश्रिता मधुराम्लौ च कषाय इत्यपि ।

वयः—वयांसि तेषां स्तनपानबालव्रतस्थिता यौवनमध्यवृद्धाः ।

अतिवृद्धा(५) इति चन्द्रभौमज्ञशुक्रार्कशैश्वरास्स्युः ॥ इति । योनिः—

बलिनौ केन्द्रोपगतौ रविभौमौ धातुकारकौ भवतः ।

बुधसारौ मूलकरौ शशिगुरुशुक्राः स्मृता जीवाः ।

तद्भेदाः—

पितृमातृसहजभार्थात्ममिश्रतनयारयो व्यवस्थायाम् ।

अर्कशशिसौम्यभृगुगुरुराहुधरासूनुमूर्यसुताः ।

इत्यादि । अथ राशीनां रूपमुक्तं लघुजातके—

अरुणसितहरितलोहितपाण्डुविचित्राः सितेतरपिशङ्गाः ।

पिङ्गलकर्बुरबभ्रुविमलिना रुचयस्त्वजादीनाम् ।

इति । वपुः—

मत्स्यौ घटी नृमिथुनं सगदं सवीणं

चापी नरोऽश्वजघनो मकरो मृगास्यः ।

तौलिस्सस्यदहना प्लवगा च कन्या

शेषास्त्वनामसदृशाः स्वचराश्च सर्वे ।

प्रमाणं कृष्णेनोक्तम्—

युक्तप्रमाणकायाः कुळीरयुगमकरचापास्त्युः ।

मेषशषवृषभकुम्भः ह्रस्वाश्शेषाः पुनर्दीर्घाः ॥

इह गुणा वन्याद्याः । अटवीक्षेत्राम्बुगिरिग्रामावटारामाः

नद्या मुखं सरोऽर्णवं इत्युद्देशास्त्वजादीनाम् । द्रव्यं स्वामिसदृशं ।

स्वभावो द्रेक्काणस्वरूपं, उक्तं च बृहज्जातके—

कट्यां सितवस्त्रवेष्टितः कृष्णः शक्त इवाभिरक्षितुं

रौद्रः परशुं समुद्यतं धत्ते रक्तविलोचनः पुमान् ॥

रक्ताम्बरा भूषणसक्तचित्ता

कुम्भाकृतिर्वाजिमुखी तृषार्ता ।

एकेन पादेन च मेषमध्ये

द्रेक्काणरूपं यवनोपादिष्टम् ॥

क्रूरः कथाज्ञः कपिलः क्रियार्थी

भग्नव्रतोऽभ्युद्यतदण्डहस्तः ।

रक्तानि वस्त्राणि विभर्ति चण्डो

मेषे तृतीयः कथितस्त्रिभागः ॥

कुञ्चितलूनकचा घटदेहा दग्धपटा तृषिताशनचित्ता ।

आभरणान्यभिवाञ्छति नारी रूपमिदं वृषमे प्रथमस्य ॥

क्षेत्रधान्यगृहधेनुकलाज्ञो

लाङ्गले सशकटे कुशलश्च ।

स्कन्धमुद्वहति गोपातितुल्यं क्षुत्परोऽजवदनो मृदुवासाः ।

द्विपसमकायः पाण्डरदंष्ट्रः

शरभसमाङ्घ्रिः पिङ्गलमूर्तिः ।

अविमृगलोमा व्याकुलचित्तो

वृषभवनस्य प्रान्तगतोऽयम् ॥
 सूच्याश्रयं समभिवाञ्छति कर्म नारी
 रूपान्विताभरणकार्यकृतादरा च ।
¹हीनात्मजोच्छ्रितभुजर्तुमती त्रिभाग-
 माद्यं तृतीयभवनस्य वदन्ति तज्ज्ञाः ॥
 उद्यानसंस्थःकवची धनुष्मान्
 शूरोऽस्त्रधारी गरुडाननश्च ।
 क्रीडात्मजालङ्करणार्थचिन्तां
 करोति मध्ये मिथुनस्य चायम् ॥
 भूषितो वरुणवत् बहुरत्नैः
 बद्धतूणकवचः सधनुष्कः ।
 नृत्तवादितकलासु च विद्वान्
 काव्यकृत् मिथुनराश्यवसाने ॥
 पत्रमूलफलकृद्विपकायः
 काननेऽमलयशाः शरभाङ्घ्रिः ।
 क्रोडतुल्यवदनो हयकण्ठः
 कर्कटे प्रथमरूपमुशन्ति ॥
 पद्मार्चिता मूर्धनि भोगयुक्ता
 स्त्री कर्कशारण्यगता विरौति ।
 शाखां पलाशस्य समाश्रिता च
 मध्यस्थिता कर्कटकस्य राशेः ॥
 भार्याभरणार्थमर्णवे नौस्थो गृच्छति सर्पवेष्टितः ।
 हैमैश्च युतो विभूषणैश्चिपिटास्योऽन्यगतश्च कर्कटे ॥
 शाल्मेरुपरि गृध्रजम्बुकौ

श्वा नरश्च मलिनाम्बरान्वितः ।
 रौति मातृपितृविप्रयोजितः
 सिंहरूपमिदमाद्यमुच्यते ॥
 हयाकृतिः षाण्डरमाल्यशेखरो
 विभर्ति कृष्णाजिनकम्बलं नरः ।
 दुरासदस्सिंह इवात्तकार्मुको
 नताग्रनासो मृगनाथमध्यमः ॥
 ऋक्षाननो वानरतुल्यचेष्टो
 विभर्ति दण्डं फलमामिषं च ।
 कूर्ची मनुष्यः कुटिलैश्च केशैः
 मृगेश्वरस्यान्त्यगतस्त्रिभागः ॥
 पुष्पप्रपूर्णेन घटेन कन्या
 मलप्रदिग्धा मलसंवृताङ्गी ।
 वस्त्रार्थसंयोगमभीप्समाना
 गुरोः कुलं वाञ्छति कन्यकाद्यः ॥
 पुरुषः प्रगृहीतलेखिनि-
 श्शामो वस्त्रशिराव्ययायकृत् ।
 विपुलं च विभर्ति कार्मुकं
 रोमव्याप्ततनुश्च मध्यमः ॥
 गौरी सुषौताग्रदुकूलगुप्ता
 समुच्छ्रिता कुम्भकटच्छुहस्ता ।
 देवालयं स्त्री प्रयता प्रवृत्ता
 वदन्ति कन्यान्तगतं त्रिभागम् ॥
 वीध्यन्तरापणगतः पुरुषस्तुलावा-

नुन्मानमानकुशलः प्रतिमानहस्तः ।
 भाण्डं विचिन्तयति तस्य च मूल्यमेतत्
 रूपं वदन्ति यवनाः प्रथमं तुलायाम् ॥
 कलशं परिगृह्य विनिष्पतितुं समभीप्सति गृध्रमुखः पुरुषः ।
 क्षुधितस्तृषितश्च कळत्रमुतान् मनसैति तुलाधरमध्यगतः ॥
 विभीषयंस्तिष्ठति रत्नचित्रितो
 वने मृगान् काञ्चनतूणवर्मभृत् ।
 धनुर्धरो वानररूपभृन्नर-
 स्तुलावसाने यवनैरुदाहृतः ॥
 वस्त्रैर्विहीनाभरणैश्च नारी
 महासमुद्रात् समुपैति कूलम् ।
 स्थानच्युता सर्पनिबद्धपादा
 मनोरमा वृश्चिकराशिपूर्वः ॥
 स्थानसुखान्यभिवाञ्छति नारी
 भर्तृकृते भुजगावृतदेहा ।
 कच्छपकुम्भसमानशरीरा
 वृश्चिकमध्यमरूपमुशन्ति ॥
 पृथुलचिपिटकूर्मतुल्यवक्त्रः
 श्वमृगसृगालवराहभीतिकारी ।
 अवति च मलयाकरप्रदेशं
 मृगपतिरन्त्यगतश्च वृश्चिकस्य ॥
 मनुष्यवक्त्रोऽश्वसमानकायो
 धनुर्विगृह्यायतमाश्रमस्थः ।
 क्रतूपयोज्यानि तपास्विनश्च

ररक्ष पूर्वं धनुषस्त्रिभागः ॥
 मनोरमा चम्पकहेमवर्णा
 भद्रासने तिष्ठति मध्यरूपा ।
 समुद्ररत्नानि विघट्टयन्ती
 मध्यस्त्रिभागो धनुषःप्रदिष्टः ॥
 कूर्ची नरो हाटकचम्पकाभो
 वरासने दण्डधरो निषण्णः ।
 कौशेयकान्युद्धहतेऽजिनं च
 तृतीयरूपं नवमस्य राशेः ॥
 रोमचितो मकरोपमदंष्ट्रः
 सूकरकायसमानशरीरः ।
 योक्तृकजालकबन्धनधारी
 रौद्रमुखो मकरे प्रथमस्तु ॥
 कलास्वभिज्ञाब्जदलायताक्षी
 श्यामा विचित्राणि च मार्गमाणा ।
 विभूषणालङ्कृतलोहकर्णा यो-
 षित् प्रदिष्टा मकरस्य मध्ये ॥
 किन्नरोपमतनुः सकम्बळ-
 स्तूणचापकवचैस्समान्वितः ।
 कुम्भमुद्धहति रत्नचित्रितं
 स्कन्धगं मकरराशिपश्चिमः ॥
 स्नेहमद्यजलभोजनाममव्याकुलीकृतमनास्तकम्बळः ।
 कोशकारवसनोऽजिनान्वितौ गृध्रतुल्यवदनो घटादिगः ॥
 दग्धे शकटे सशाल्मले लोहान्याहरतेऽङ्गना वने ।

मलिनेन पटेन संवृता भाण्डैर्मूर्धगतैश्च मध्यमः ॥
 श्यामस्सरोमश्रवणः किरीटी
 त्वक्पत्रनिर्यासफलैर्विभर्ति ।
 भाण्डानि लोहव्यतिमिश्रितानि
 सञ्चारयत्यन्त्यगतो घटस्य ॥
 स्तुग्भाण्डमुक्तामणिशङ्खमिश्रै-
 र्वर्षाक्षितहस्तस्सविभूषणश्च ।
 भार्याविभूषार्थमपां निधानं
 नावा प्लवत्यादिगतो ज्ञषस्य ।
 एषां प्रयोजनमुत्तरत्र वक्ष्याम इति ॥

इत्थं विद्यामाधवीयाभिधाने चत्वारिंशत्संयुतै-
 रष्टभिश्च । श्लोकैर्विद्यामाधवेनात्र शास्त्रे संज्ञा-
 ध्यायो गुम्भितस्सोऽयमाद्यः ॥ ४९ ॥

विद्यामाधवेन प्रोक्ते विद्यामाधवीयमित्यन्वर्थकृताभिधानेऽत्र
 मुहूर्तशास्त्रे विद्यामाधवेन मया अष्टचत्वारिंशत्सङ्ख्यैः पद्यैः प्रथमोऽयं
 संज्ञाध्यायो गुम्भितः—रचितः ॥

इत्थं विद्यामाधवीये मुहूर्तदर्शे विद्यामाधवस्यात्मजेन ।
 संज्ञाध्यायस्सर्वसंज्ञाभिधायी व्याख्यातोऽयं विष्णुनाऽऽद्योऽनवद्यः ॥

इति श्री विद्यामाधवीये मुहूर्तदर्शने
 संज्ञाध्यायः प्रथमः स्समाप्तः.



अथ दोषाध्यायो द्वितीयः.

अथाभिधेयस्य मुहूर्तस्य निर्दिष्टस्येष्टत्वात् गुणानामप्यप-
दोषस्वरूपत्वात् आदौ तावद्दोषानेव वक्तुमुपक्रमते—

अथादिशास्त्राभिहितान् प्रसिद्धान्
संगृह्य दैवज्ञहिताय कांश्चित् ।
इहाभिधास्यामि मुहूर्तदोषान्
कात्स्नर्चेन कस्तत्कथनाय शक्तः ॥ १ ॥

अथ संज्ञाभिधानानन्तरं, यद्वा गुणानां यथासंभवमुपादे-
यत्वात् दोषाणामवश्यं हेयत्वात् गुणदोषनिरूपणे कार्ये । तत्रादौ
आदिशास्त्रेषु—बार्हस्पत्यादिषु प्रोक्तान् प्रसिद्धान् प्रधानभूतान्
कांश्चित् मुहूर्तदोषान् दैवज्ञहिताय—ज्योतिर्विद्वच्चो हितार्थं, इह
संगृह्याहमभिधास्यामि । यतस्संग्रहाभिधानमन्तरेण कात्स्नर्चेन नि-
शेषतो मुहूर्तदोषकथनाय कश्शक्तः, दोषाणामानन्त्यात् अशेषतो
दोषान् वक्तुं न कश्चिदपि शक्नोति । तस्मादिह प्रसिद्धा एव
केचन दोषाः कथ्यन्त इत्यर्थः ।

एतावन्तो दोषा इहाभिधीयन्ते इत्याह त्रिभिश्छोकैः—

दुष्टांस्तिथ्यृक्षवारानथ*विषघटिकाः कृष्णपक्षा-
पराह्नौ धूमादीन् पञ्च सौरान् गुळिकदिनगदौ स-

ग्रहार्धग्रहारौ । विष्टिं षड्दुष्टयोगानुदुतिथिकुहरे
कालचक्रार्धपातान् स्थूणादींस्त्रींश्च मृत्यून् विद्वग-
हिमाशिखे कण्टकौ द्वौ च गण्डम् ॥ २ ॥

नक्षत्रं भवनं च कर्तुरशुभं वैनाशिकैकार्गळौ
शून्यादिग्रहयुक्तगम्यगतं ज्वालादियोगांश्च षट् ।
मासाब्दावसतीरनोजदिवसान् शुक्रार्थयोर्मूढतां सं-
दृष्टिं च सवेधशूलमधिकान् मासांश्च केतूदयं ॥ ६ ॥

उद्वाहे च विशेषतः परिहरेत् वेधं शलाकाह्वयं
तत्तत्कर्मसु गर्हितां ग्रहगतिं मासर्क्षराश्यादिकान् ।
दोषान् कर्मविनाशकान् विदुरिमानन्याननेकान-
पि ज्ञात्वा तान् परिहृत्य सूक्ष्ममतयः कुर्वन्तु
सर्वाः क्रियाः ॥ ४ ॥

दुष्टतिथयः—छिद्राः । दुष्टर्क्षाणि—शुभक्रियानभिहितास्तारा
राशयश्च, दुष्टवाराः—पापवाराः, अथशब्दः आद्यर्थः, तेन पाप-
होराद्या गृह्यन्ते, नक्षत्रेषु विषनाडिकाः, सौराः—सूर्यचारभवाः
भूकम्पादयः, दुष्टयोगा—नित्ययोगादयः परस्परयोगादोषीभवन्तः
षड्योगाः, उदुतिथिकुहरे नक्षत्रकूपं तिथिकूपं च, कालौ द्वौ
कालर्क्षं कालान्तं च । चक्रार्धपातौ द्वौ—चक्रपातो वैधृतः, चक्रार्ध-
पाते—व्यतीपातः इति, स्थूणास्त्रयः स्थूणः, कण्टकस्थूणः, रक्तस्थूणः,

मृत्यवस्त्रयः—दिनमृत्युः, तारामृत्युः, राशिमृत्युश्च । विट्क्—अन्वनक्षत्रं
त्रिविधं, अहिमशिखा—उष्णाशिखा, कण्टकौ द्वौ—कण्टकनक्षत्रं
यमकण्टकांशश्च, कर्तुरशुभनक्षत्रं—विपदादि, कर्तुरशुभो राशिरष्ट-
मादिः । वैनाशिकोऽशस्तारा वा, शून्यानि मासतिथिराशिनक्षत्र-
शून्यानि, ग्रहमुक्तगम्यगतभं—ग्रहद्वयधूमितज्जालितानि त्रीणि नक्षत्राणि,
कुजादिदृष्टयुक्तान् षट् ज्वालादिसंज्ञांस्तारायोगान्, चतुर्विधानां मासा-
नामन्तं, त्रिविधाब्दानामन्तं च, अनोजादिवसाः—कालिकालकार्णव-
धादिनानि, शुक्रजीवयोरस्तभावः परस्परदृष्टिश्च । चशब्देन तयो-
र्बाल्यं वार्षिक्यं च, ग्रहवेधर्षं, ग्रहशूलाख्यं नक्षत्रं, अधिकांस्त्रीन्
संसर्पाहस्पत्यधिकाख्यान् मासान्, केतूनामुत्पातानिर्घातधूमकेतूल्काना-
मुदयः । अन्यत् विवाहे दुष्टं शलाकाख्यं वेधर्षं तत्तत्कर्म (सु) विगर्हितान्
तेषुतेषु विवाहादिषु शुभकर्मसु निषिद्धान्, अस्मिन् कर्मण्यत्र स्थाने
ग्रहशुद्धिरित्येवंरूपा ग्रहगतिः, अस्मिन् कर्मण्ययं मासो नेष्टः
एतन्नक्षत्रं निषिद्धं अयं राशिरनिष्ट इति । आदिशब्देनेयं तिथि-
निन्दिता इदं दिनं दुष्टमित्याद्युक्तमनुक्तं च द्रष्टव्यम् । इमान् उक्तान्
सर्वान् दोषान् कर्मविनाशनान् विदुः । अनेन दोषाणामन्वर्थ-
त्वमुक्तं—दूषयन्ति कर्माणि नाशयन्तीति दोषा इति । ईदृशानन्यानप्य-
नेकान् दोषान् शास्त्रान्तरेषु दृष्टान् सर्वान् कर्मफलविनाशनान् वदन्ति ।
तस्मादिहोक्ताननुक्तांश्च व्याख्यानादिभिर्ज्ञात्वा तान् सर्वान् परिहृत्य
सर्वांश्शुभक्रियाः कुर्वन्तु सूक्ष्मतयः—गुणदोषबलाबलविवेककुशलः ।
अनेन निशेषपरिहारस्य दुरापत्वात् गुणप्राबल्यं दोषदौर्बल्यं चान्नी-
क्ष्य शुभक्रियाः कार्या इत्युक्तम् ॥

अथ दुष्टनक्षत्रादीनाह—

अग्रचन्तकद्विरसनत्रिदशेशरुद्राः
पूर्वात्रयं च बहुलं पितृमूलशूर्पाः ।
छिद्राश्च पापदिवसास्पदकालहोरा-
स्त्याज्यो गणोऽयमखिलासु शुभक्रियासु ॥ ५ ॥

द्विरसनः—सर्पः, त्रिदशेशः—इन्द्रः, कृत्तिकादयोऽष्टौ तारा-
स्सर्वशुभकर्मसु वर्ज्याः । तदन्या ग्राह्याः प्रशस्ताः । पितृमूलशूर्पा
बहुलं—कचित्याज्याः, कचिद्ग्राह्याः अतो मध्याः । अत्र भरद्वाजः—

रौद्रेन्द्रयाम्यज्वलनं च सार्पं
तिस्रश्च पूर्वा इति पापसंज्ञाः ।
पापानि पापेषु तथा प्रयुञ्ज्यात्
शुभानि तान्येषु विवर्जयेत् ॥
शेषाश्शुभाः कार्यकरास्तथैव
मङ्गल्यताराश्च भवन्ति सर्वाः ।
प्रशस्तमध्यानवमान् विचिन्त्य
नक्षत्रवीर्येण समं प्रयुञ्ज्यात् ॥ इति ।

छिद्राः—चतुर्थ्याद्याः षट् तिथयः । चशब्दात् विष्ट्यादिपञ्चकरणानि ।
तथा स एव—

विष्ट्यां चतुष्पदे नागे किंस्तुप्ते शकुने तथा ।
वर्जयेच्छुभकार्याणि दारुणादीनि कारयेत् ।
इति । नारदोऽपि—
बवादिवणिजान्तानि शुभानि करणानि षट् ।
परीता विपरीता वा विष्टिर्नेष्टा तु मङ्गले ॥

इति । पापानां दिवसराशिकालहोरा अपि त्याज्याः । शुभानां ता
ग्राह्याः । तथाच श्रीपतिः—

सोमसौम्यगुरुशुक्रवासराः
सर्वकर्मसु भवन्ति सिद्धिदाः ।
भानुभौमशनिवासरेष्वपि
प्रोक्तमेव खलु कर्म सिध्यति ॥
मिथुनतुलकुळीरा धन्विगोमीनकन्या
इह शुभभवनत्वाद्राशयस्सप्त सौम्याः ।
अकिमृगघटसिंहाजाश्च पापास्पदत्वा-
न्मुनिभिरभिहितास्ते राशयः क्रूरभावाः ॥

इति । इहास्पदग्रहणेन षड्वर्गोऽपि गृह्यते, न तु राशिमात्रं, यत-
श्श्रीपतिः—

वर्गं शुभे लग्नगते तु सौम्ये
सपौष्टिकं कर्म बुधैः प्रदिष्टम् ।
लग्नं प्रपन्ने पुनरुग्रवर्गे
स्यात् कर्मणः क्रूरतरस्य सिद्धिः ॥
यस्य ग्रहस्य वारे यत् किञ्चित् कर्म प्रकीर्तितम् ।
तत्तस्य कालहोरायां सर्वमेव विधीयते ॥

इति । अयं नक्षत्रादिर्गणः सामान्येन सर्वशुभक्रियासु त्याज्यः ।
एतद्व्यतिरिक्तं ऋक्षादिर्गणो ग्राह्य इत्यर्थादेव सिद्धः । यद्यत्र
क्वचित् कश्चन विशेषोऽस्ति स तत्रतत्रैवाभिधास्यते । एतेषु
दुष्टतारातिथिवाराख्यास्त्रयो दोषा उक्ताः । पापराश्यादीनामेह
त्याज्यगुणत्वख्यापनाय सहपाठः । एष कैश्चिदेक एव दोष इत्युक्तः ।

तथा च नारदः—

तिथिवारक्षयोगानां करणस्य च मेळनम् ।
 पञ्चाङ्गमस्य पञ्चानां शुद्धिस्ता परिकीर्तिता ॥ इति ।
 पञ्चाङ्गशुद्धिरहितो दोषस्त्वाद्यः प्रकीर्तितः ।
 यस्मिन् पञ्चाङ्गदोषोऽस्ति तस्मिन् छत्रं निरर्थकम् ॥

इति । विषघटीराह—

त्रिंशद्विगुणितकृतिमनुगिरिशास्त्रिंशत्कृतिर्द्वि-
 जास्त्रिंशत् । कृतिधृतिसामिधः कृतिमनुमनुदिङ्-
 मनुकृतिजिनाः कृतिः ककुभः ॥ ६ ॥

दशविद्यानृपतिजिनाःत्रिंशत्पञ्चाशतो जिना-
 स्तेभ्यः । परंतो घटीचतुष्कं विषसंज्ञं कृत्तिकादिषु
 ज्ञेयम् ॥ ७ ॥

द्विगुणितकृतिः—चत्वारिंशत्, द्विजाः—द्वात्रिंशत्, ककुभः—
 दश । विद्या—अष्टादश, कृत्तिकादिषु भरण्यन्तेषु नक्षत्रेषु
 उक्तसंख्या घटिका अतीत्य तत्परतो घटिकाचतुष्टयं विषसंज्ञं
 ज्ञेयम् । यथा कृत्तिकायां त्रिंशद्घटीरतीत्य परमेकत्रिंशदाद्याश्च-
 तस्रो घटिका विषाख्याः । एवमन्येष्वपि । उक्तं च सर्वसिद्धौ—

त्रिंशद्विगुणितो मनुस्त्रिरहितस्त्रिंशन्नखोऽर्कान्वित
 त्रिंशद्विंशधृतीष्मर्विशमनवः शक्रा दिगिन्द्रा नखाः ।
 साब्धिर्विशतिदिग्दिशो धृतिर्महीपाला जिनत्रिंशतः
 पञ्चाशज्जिनमग्निभादिषु परं नाडीचतुष्कं विषम् ॥

इति । त्रिंशद्विगुणितकृतिमनुसामिध इति पाठोऽप्यस्ति । स एव बहुमु-
निसंमतः ।

तथाच नारदः—

खमार्गणा वेदपक्षा खरामा व्योमसागराः ।

वार्धिचन्द्रा रूपदत्ताः खरामा व्योमबाहवः ॥

इति । तत्फलं—

ऋक्षेषु विषनाड्यस्तत्कर्तृकर्मविनाशनाः ॥

इति । योगानामपि विष^१नाडीः कचिदाहुः—

तुङ्गस्सोमश्शशी रुद्रो नागो नन्दादिषु क्रमात् ।

नाडिकायाः परं वर्ज्याश्चतस्रो विषनाडिकाः ॥

विष्कादिषु च

मुनिर्नेम्यो नरस्सन्नो मानो नागे मनो नये ।

नाकस्तुत्यः शयो नेयः धेनुः कार्यो नृपो सनिः ॥

मानी सूनुः भटः क्रूरो नित्यं मानो मनो धनुः ।

दानं श्रेष्ठं गयेऽतीते चतस्रो विषनाडिकाः ।

धूमादीनाह—

धूमो वेदगृहैस्त्रयोदशभिरप्यंशैः समेते रवौ
स्यादस्मिन् व्यतिपातको विगलिते चक्रादथस्मिन्
युते । षड्भिर्भैः परिवेष इन्द्रधनुरित्यस्मिंश्चयते
मण्डलादत्यष्ट्यंशयुतेऽत्र केतुरथ तत्रैकक्षयुक्ते
रविः ॥ ८ ॥

तात्कालिकेऽर्के चतुरो राशिन् त्रयोदशभागांश्च संयोज्य धूमो नाम दोषो भवति । तस्मिन् धूमराशिचक्रात् विशुद्धे शिष्टो व्यतीपाताख्यः । अस्मिन् व्यतीपाते षड्राशिन् संयोज्य परिवेषो नाम । परिवेषे राशिमण्डलात् शुद्धे इन्द्रधनुर्नाम । तत्र सप्तदश भागान् क्षिप्त्वा केतुर्नाम । पुनश्चातुर्यप्रदर्शनाय केतौ राशिमेकं संयोज्य तात्कालिकोऽर्को भवति । धूमादिप्राप्तनक्षत्रांशोभयपार्श्वांशस्त्याज्यः । तथाच गुरुः—

चत्वारो राशयो भानोर्भागा युक्तास्त्रयोदश ।

धूमो नाम महादोषस्तत्सर्वशोभननाशनः ॥

धूम मण्डलशुद्धे तु व्यतीपातोऽपरो विषः ।

व्यतीपाते तु षड्राशियुते च परिवेषकः ॥

मण्डलात्परिवेषाख्ये शुद्धे वज्रिधनुस्ततः ।

अस्मिन्नत्यष्टिभागैस्तु युक्ते केतुः परो विषः ।

एकराशियुते केतौ भानुरेष्विन्दुलग्नयोः ।

युतेष्वायुर्यशोज्ञानवंशवित्तविनाशनाः ।

पञ्च दोषा इति ख्याताः तत्र चेद्वर्तते विधुः ।

तदन्तोभयपार्श्वौऽशस्त्याज्यश्चान्यश्शुभो मतः ॥

इति । सौरानाह—

भूकम्पोऽशैरशीत्याऽन्वित इन उडु यत्सर्वदो-
ल्कानिपातो निश्यत्रार्धो न याऽस्मिन् भवति कृति-
कलाविश्वभागोनया च । पूर्वाह्ने ब्रह्मदण्डो ध्वज

इति च तथा तत्र निन्द्योऽपराह्णे तेषूर्ध्वं प्राप्तनाड्य-
स्तपनगिरिहरित्कर्कनाड्योऽतिनिन्द्याः ॥ ९ ॥

अंशैरशीत्या—भागानामशीत्या—राशिद्वयेन विंशत्यंशैश्चान्विते
तात्कालिकेऽर्के यन्नक्षत्रं सप्तमं स भूकम्पः । स च सर्वदा—दिवा
निन्द्यः, रात्रौ च निन्द्यः ।

अत्र—भूकम्पे अर्धोनयाशीत्या—अंशानां चत्वारिंशता—एकरा-
शिना दशभागैर्युक्ते यन्नक्षत्रं पञ्चदशकं स उल्कानिपातः । स रात्रौ,
न दिवा दुष्टः ।

अस्मिन्नुल्कानिपाते कृतिकलाभिः विश्वभागैश्चोनयाऽशीत्या—
षट्षष्टिभागैः चत्वारिंशद्विंशतिभिश्च युक्ते यन्नक्षत्रं पञ्चदशं स ब्रह्म-
दण्डः । स पूर्वाह्णे निन्द्यः, नान्यदा ।

तत्र—ब्रह्मदण्डे, तथा—भागाशीत्या—राशिद्वयेन विंशतिभागैश्च
युक्ते यन्नक्षत्रमेकविंशं स ध्वजो नाम सौरो दोषः । स चापराह्णे निन्द्यः,
न पूर्वाह्णे, न रात्रौ च, तेषु भूकम्पादिषु तात्कालिकी यावती घटिका
वर्तते तस्याः परतो द्वादशसप्तदिक्षट्सङ्ख्या नाज्योऽतिनिन्द्याः स्युः ।

तथाच गार्ग्यः—

दशमं सप्तमं भानोः पञ्चदश्येकविंशतिः ।

उल्कापातो धराकम्पः ब्रह्मदण्डो ध्वजः क्रमात् ।

यस्मिन् स्थितोऽशके सूर्यस्तत्सङ्ख्यांशस्तदूर्ध्वतः ।

वर्जितास्तैरदोषाणां स्वरमासदशर्तवः ।

नाज्यस्त्याज्याः प्रयत्नेन राशिशेषोऽथवा पुनः ॥

भरद्वाजः—

धराकम्पादिभिर्युक्ते वज्र्यास्सप्तार्धनाडिकाः ।

इति । नारायणः—

पूर्वाह्णे दण्डदोषस्स्यात् ध्वजंश्चैवापराह्णके ।

उल्का रात्रौ तु विज्ञेया कम्पस्सर्वत्र गार्हितः ॥

तत्फलं

ननु सू

किमिद

रविरू

अन्ये

पां

दा

त्रयोविंशे चतुर्विंशे निर्घातोऽष्टावुपग्रहाः ॥

इति । उल्का स्यादेकाविंशतिरिति केचित् ।

सौरदोषफलमुक्तं नरपतिना—

स्वस्थाने विघ्नता प्रोक्ता सर्वकार्येषु सर्वदा ।

श्रीपतिनाऽपि—

इष्विन्दुभेषु न शुभं खलु कर्म कार्य-

सिद्धिं प्रयाति दहनादिविषादिसाध्यम् ॥

इति । गुळिककण्टकार्धप्रहारानाह द्वाभ्याम्—

ग्रहा वारनाथादयो वासरस्य
क्रमेणाष्टभागाधिनाथाः क्रमेण ।

तथा यामवत्याश्च तत्पञ्चमाद्याः

य आद्यांशनाथः स एवामष्टमस्य ॥ १० ॥

उक्तक्रमात् गुळिकमर्कसुतस्य भागं
जीवांशकं तु यमकण्टकमामनन्ति ।

अर्धप्रहारमरुणादिदिनेषु वेद-

शैलाक्षिबाणवसुवह्निगुहाननांशान् ॥ ११ ॥

रविसावनदिनस्य यत् स्फुटं प्रमाणं तदष्टांशानां किञ्चि-
दूनाधिकपादोनचतुर्धटिरूपाणां तद्वाराधिपाद्यास्तस्य ग्रहाः पतयः,
तथा रात्रिप्रमाणाष्टांशानां वारेशपञ्चमाद्याः सप्त क्रमेण स्वामिनस्त्युः ।
अवशिष्टस्याष्टमांशस्याद्यांशनाथ एव पतिः । दिवा वारेशः रात्रौ
तत्पञ्चम एवेत्यर्थः । तथाचोक्तं—

ग्रहा वाराधिपाद्यन्ता दिनमानाष्टभागपाः ।

वारेशपञ्चमाद्यन्ताः रात्रिमानाष्टभागपाः ॥

इति । दिवा रात्रौ चोक्तक्रमेण प्राप्तं मन्दस्यांशं गुळिकमाहुः । जीव-
स्यांशं यमकण्टकमाहुः । तथाच गुरुः—

दिनमानाष्टभागेशाः वारेशाद्या ग्रहाः क्रमात् ।

शन्यंशो गुळिको दोषो जीवांशो यमकण्टकः ॥

इति । वारेषु दिवा रात्रौ च चतुस्तसद्विपञ्चाष्टत्रिषट्संख्यांशानर्ध-

प्रहारानाहुः । अत्र श्रीपतिः—

मनीषिणोऽर्धप्रहरान् द्वितीयादारभ्य सर्वेष्वपि मङ्गलेषु ।

भौमोशनस्सूर्यबुधार्किचन्द्रसुरेज्यवारेष्वपि वर्जयन्ति ॥

एषां स्वांशेषु त्रिधा कृतेषु स्वांशप्रथमभागेऽर्धप्रहार उदेति । स्वांश-
मध्यभागे यमकण्टकः । स्वांशान्त्यभागे गुळिकः । तथाचाहुः—

अदावर्धप्रहारस्स्यात् मध्ये तु यमकण्टकः ।

अन्ते तु गुळिको दोषः ॥

इति । गुळिकोदयं केचिदन्यथाऽऽहुः । तथाच श्रीपतिः—

मन्वर्कादिग्वस्वतुवेदपक्षै-

रकान्मुहूर्तैर्गुळिका भवन्ति ।

बुधान्निरेकैरथ यामिनीषु

ते गर्हिताः कर्मसु शोभनेषु ॥

इति । सर्वसिद्धौ—

स्वोदयघ्नाश्रतुर्वाराः स्वतुल्यविघटीयुताः ।

द्वयूना¹ गुळिकनाज्यस्स्युरन्यथाऽन्ये प्रचक्षते ॥

सङ्ग्रामविजये—

तद्वारादि यमान्तं² त्रिंशद्गुणितं प्रमाणपरिहीनं ।

वसुद्वतनाडिविनाड्यो गुळिकस्तात्कालिको भवति ॥

इति । ननु चतुर्णामेतेषां मतानामन्योन्यवैषम्यदर्शनात् कथमयं
निश्चीयते गुळिकोदयः ? उच्यते—मन्दांशो गुळिक इति सामान्या-
भिधानं, तेन मन्दांशे गुळिकोदय इत्येतावदेव सिद्धम् । तस्मिन् सर्वत

¹ न्यूना—B.

² त्रिंशद्गुणितप्रमाणपरि.

एकदेशे वेत्याशङ्कायां, 'स्वोदयघ्नाश्चतुर्वाराः' 'तद्वारादियमान्तम्' इत्युभे अपि प्राप्तुतः, तत्र सङ्ग्रामविजयोक्तः मन्दांशान्तादर्वाचौ-
नघटिकायां गुळिकोदयस्यानवसेयत्वात् तद्वटिकैव गुळिकोदयः । स-
र्वसिद्ध्युक्तश्च तदन्यत्र्यंशे । अनयोश्च नाडिकामात्रमूनं वाऽन्तरमिति
गुळिकस्योदयस्यानवसेयत्वात् तद्वटिकैव गुळिकोदय इति । तथाच
नारायणः—

गुळिको नाडिकामात्रस्थायी त्याज्यस्वयत्नतः ।

अतस्तदुदये कर्म कृतं सर्वं विनश्यति ॥

इति । श्रीपतिना तु तदुदयस्पर्शदुष्टा इत्यमी मुहूर्ता निन्दिताः ।

तथाचात्रिः—

गुळिकान्तराशिशेषस्त्याज्यो ह्याघ्रातपुष्पवत् ।

इति । सर्वैरापि मन्दांशान्तत्र्यंशे गुळिकोदय इति प्रतिपन्नं, गुळिके
कृत्यं चात्रिणाऽभिहितम् ।

गुळिके श्राद्धर्णमोक्षलवनावेशनाः शुभाः ।

इति । गुळिकस्वरूपं सङ्ग्रामविजयेऽभिहितम् ।

नीलाञ्जनसङ्काशो रक्ताक्षो विषमभीषणो दीर्घः ।

पञ्चास्यः पृथुदंष्ट्रो भयंकरस्सर्वहा गुळिकः ॥

इति । दिनगददिनमृत्यु आह—

भवत्याद्ये बुध्नयद्विरसनभयोर्मूलयमयो-
द्वितीयस्मिन्नंशे गुणपरिमिते विष्णुभगयोः ।
शशिस्वात्योरन्त्ये शुभफलविरोधी दिनगद-
स्तृतीयेंऽशे तस्मादुपरि दिनमृत्युश्च बलवान् ॥ १२ ॥

उत्तराभाद्रपदाऽऽश्रेषयोरार्द्येऽशे दिनरोगः । गुणपरिमिते—
तृतीये । अत्र गुरुः—

सर्पाजतारयोरार्द्यं द्वितीयं यममूलयोः ।
श्रोणोत्तरे तृतीयांशमन्त्यांशं वायुसोमयोः ॥
दिनरोगा इमे ख्यातास्तेषु रोगी भवेन्नरः ।
शुभकर्मकृदत्यर्थं तस्मादेतान् विवर्जयेत् ॥

इति । दिनरोगा इति । द्वितीयांशादुपरि तृतीयेऽशे दिनमृत्युश्च भवति ।
यथाऽऽह गुरुः—

हस्तवासवयोरार्द्यं विशाखाद्र्द्वितीयकम् ।
तृतीयोऽप्यहिर्बुधचे च स्वान्त्यांशं यममूलयोः ॥
दिनमृत्यव इत्युक्ताः सर्वे शोभनकर्मसु ।
कर्मकर्त्रोर्मृतिं दद्युस्तस्मादेतान् विवर्जयेत् ॥

इति । द्वितीयस्मिन्निति “तीयस्य वाङ्ङित्सूपसङ्ख्यानम्” इति सर्वना-
मसंज्ञायां ङेस्मिन्नादेशः । चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, तेन निशामृ-
त्युर्गृह्यते । तथाचात्रिः—

आद्योऽशोत्तर ? जीवोन्त्ये द्वितीयः पितृसोमयोः ।
तृतीयं पुष्यमित्राजचित्रामूलमखास्वपि ॥
विष्णुर्कयोश्चतुर्थांशो निशामृत्युश्शुभं त्यजेत् ।
भुक्तौ व्याधिर्गतौ मृत्युर्विवाहे विधवा बधूः ॥
प्रवेशे सर्वनाशस्त्यात् दर्शने शत्रुता द्वयोः ॥

इति । सग्रहमाह—

भूपाद्भयं रिपुभयं व्यसनं प्रवासं
वित्तक्षयं विशरणं च शुभक्रियासु ।

कर्तुः करोति शशभृत् क्रमशोऽर्कपूर्वै-
रेकां ग्रहैस्सह विशन्नुडुमेकराशौ ॥ १३ ॥

अर्काद्यैः सहैकस्मिन् राशौ एकं नक्षत्रं विशन् शशी क्रमेण
राजभयादीनि करोति, व्यसनं—विपत्तिं, विशरणं—मरणं। अत्र गर्गः—

सूर्यो राजभयं करोति नियतं युक्तोऽर्थनाशं भृगुः
स्थानभ्रंशमतो गुरुश्शशिसुतः सन्तापदुःखप्रदः ।
मृत्युं सूर्यसुतः करोति नियतं शस्त्राङ्गं भूमिज-
स्तस्माच्चन्द्रयुतग्रहेषु मतिमान् सर्वाः क्रिया वर्जयेत् ॥

इति । नारदोऽपि विवाहाध्याये—

शशाङ्को ग्रहसंयुक्तो दोषस्सग्रहसंज्ञितः ।
सूर्येण संयुते चन्द्रे दारिद्र्यं भवति ध्रुवम् ॥
कुजेन मरणं व्याधिर्बुधेन त्वनपत्यता ।
दौर्भाग्यं गुरुणा चैव भार्गवेण^१ ? सापत्तयं ॥
^२प्रवृज्यात् सूर्यपुत्रेण राहुणा कलहः सदा ।
केतुना संयुते चन्द्रे नित्यं दुःखोपसेवनम् ॥

इति । विष्टचुदयानाह—

शुक्ले वारिधिनागरुद्रतिथिसंख्यातासु पक्षेऽसिते
तत्पूर्वास्वपि नक्तमहि तिथिषु प्रोद्याति विष्टिः क्र-
मात् । दिग्यामेषु शराक्षिशैल्युगषट्त्र्यष्टेन्दुस-
ख्येष्वथो यामेष्वायजगच्छरान्त्यदहनेष्वन्त्याद्य-
नाडीषु च ॥ १४ ॥

^१ सापत्तयं भार्गवेणच इति स्यात्.

^२ प्रवृज्या इति स्यात्.

शुक्ले पक्षे चतुर्थ्यादिषु, असिते—कृष्णे ताम्र्यः चतुर्थ्यादिभ्यः
पूर्वासु—तृतीयादिषु तिथिषु च क्रमात्—पर्यायेण नक्तं अपरार्धे, अह्नि
पूर्वार्धे च विष्टिः । स्वोक्तयामघटिकायां ¹सयामस्वदिश्युदेति ।

तिथिनक्षत्रपूर्वार्धौ दिवाभागो निशा परः ॥

इति । भरद्वाजः—

यामस्सार्धसप्तघटीरूपः । एतदुक्तं भवति—शुक्ल पक्षे चतुर्थ्या
पञ्चमयामे अद्यघटिकायां वारुण्यां दिशि विष्टिरुदेति । अष्टम्यां
द्वितीययामे तृतीयघटिकायामाग्नेय्यां । एकादश्यां सप्तमयामे पञ्चम-
घटिकायामुत्तरस्यां । पञ्चदश्यां चतुर्थयामेऽन्त्यघटिकायां नैऋत्यां,
कृष्णे तृतीयायां षष्ठयामे तृतीयघटिकायां मारुत्यां, सप्तम्यां तृतीय-
यामे पञ्चमघटिकायां दक्षिणस्यां । दशम्यामष्टमयामेऽन्त्यघटिका-
यामैशान्यां । चतुर्दश्यामाद्ययामे प्रथमघटिकायां पूर्वस्यां दिशीति ।
एतदुक्तं गुरुणा—

अत्र तृतीयादशम्योः विष्ट्युदयव्यत्ययं केचिदाहुः ।

तथाच रत्नः—

जलानलेन्दुकूरेशधर्मवातेन्दुदिक्रमात् ।

सङ्ख्यासमानैः ग्रहैः विष्टिरष्टमुखी यतः ॥

इति । भूतदत्तस्वराभोधिषडग्निरुपपत्तयः ।

यामादिवसङ्ख्याकान्येषु क्रमात्तिथ्यर्धविष्टिषु ।

एतदेव साधु । यस्मादष्टौ विष्टयः । तास्वाद्या प्रथमयामादौ
द्वितीया द्वितीययामादिहोरान्ते । तृतीया तृतीययामादि¹होरान्ते ।
चतुर्थी चतुर्थयामान्त उदेति । पञ्चम्याद्यास्तु व्यस्तमिति । प्रोद्याति—
प्रकर्षेण ऊर्ध्वलोकादायातीत्यर्थः ।

¹ अत्र सयामेत्यनुपयुक्तमिव भाति ² द्वितीयहोरान्ते इति स्यात् ।

तथाच गुरुः—

यदैवावतरत्येषा दिवि भूः कम्पते तदा ।
तदानीं कृतसत्कर्म कर्त्रा सह विनश्यति ॥
कृष्णाम्बोदोपमेया सुमहदपघना वर्णचिह्नादिवेगै-
रग्न्याकाराऽवमज्जन्नयनयुगविषा दग्धलोकोग्रदंष्ट्रा ।
उन्नासा व्यायतास्या ज्वलनकणगणैर्विष्फुलिङ्गाङ्गभीमा
त्रैलोक्यं दग्धुकामा भुवि यमसदनादाविशत्यहि विष्टिः ॥

इति । तदुत्पत्तिः श्रीपतिनोक्ता—

दैत्येन्द्रैस्समरेऽमरेषु विजितेष्वीशः क्रुधा दृष्टवान्
स्वं कायं किल निर्गता वरमुखी लाङ्गलिनी च त्रिपात् ।
विष्टिः सप्तभुजा मृगेन्द्रगळका क्षामोदरी प्रेतगा
दैत्यघ्नी मुदितैस्सुरैस्तु करणप्रान्ते नियुक्ता सदा ॥

इति । इह केचित् स्वोदयादिघटिकाभिः विष्ट्यङ्गं परिकल्प्याङ्गवि-
भागेन फलमाहुः । तथाच गार्ग्यः—

मुखे तु घटिकाः पञ्च द्वे कण्ठे तु सदा स्थिते ।
द्वदि चैकादश प्रोक्ताश्चतस्रो नाभिमण्डले ॥
कट्यां पञ्च च विज्ञेयाः तिस्रः पुच्छे जयापहाः ।
मुखे कार्यविनाशाय ग्रीवायां धननाशिनी ॥
द्वदि प्राणहरा ज्ञेया नाभ्यां तु कलहावहा ।
कट्यामर्थपरिभ्रंशो विष्टिपुच्छे ध्रुवं जयः ॥

इति । तिथ्यर्धप्रथमादिघटिकाभिरङ्गं कल्पयन्ति तदयुक्तं, यत उक्तं—
यस्मिन् यामे मुखं तस्यास्तत्प्रयत्नेन वर्जयेत् ॥

इति । भरद्वाजेन व्यक्तमुक्तम्—

तिथ्यर्धं करणैर्युक्ता विष्टिर्यत्रोपतिष्ठेत् ।

तत्सर्वं परिहर्तव्यमित्याह भगवान् भृगुः ॥

करणस्य चतुर्भागमाद्यस्य प्रथमं त्यजेत् ।

द्वितीयस्य द्वितीयं हि तृतीयस्य तृतीयकम् ॥

चतुर्थस्यान्यभागं हि वार्जितव्यं तु नापरम् ।

इति । नैवं चेत् पूर्णायां तिथ्यर्धान्त्यजो विष्टुदयस्तदादौ प्राप्नोति ।

विष्टुदयघटिकायां पुच्छत्वं वा, तस्मात् स्वोदयादिघटिकाभिर्मुखाद्यङ्ग-
कल्पनैव युक्ता । अयं विष्टुदयोऽवश्यं वर्ज्यः । यस्मात् भरद्वाजः—

गुणानां तु सहस्रेऽपि नेष्टो विष्टिसमाश्रयः ।

विष्टियोगे कृतं कार्यं विनाशमुपगच्छति ॥

अन्ये यामा नातिद्वारुणाः । यस्मादयमेव—

यदा तु जायते विष्टिः क्षणमात्रेण शाम्यति ।

सर्वं दहति संप्राप्ता शीघ्रमाशीविषा इव ॥

इति । दुष्टयोगानाह—

नित्या विष्कम्भादयो वारतिथ्यो-

वार्षर्क्षणां वारतारातिथीनाम् ।

तारातिथ्यो राशितिथ्योरितिमे

योगा ज्ञेयाषट् शुभाश्चाशुभाश्च ॥ १५ ॥

सूर्येन्दुयोगजा विष्कम्भाद्या नित्यसंज्ञा योगाः । तथा वारतिथि-
योगाः, वार्षर्क्षयोगाः वार्षर्क्षतिथियोगाः, राशितिथियोगाः, तारातिथि-
योगाः, इतिमे षड्योगाः शुभाः, षडशुभाश्च भवन्ति ।

नित्येष्वशुभानाह—

निन्द्यन्ते नित्ययोगेष्वपि नव परिघस्सव्य-
तीपातवज्रो व्याघातो वैधृतिश्च प्रथमपरिवृताश्शू-
लगण्डातिगण्डाः । लोकत्रिंशन्नवोषर्बुधतिथिवि-
शिखद्वीपतर्काङ्गसंख्याः नाढ्यः प्रान्तेषु तेषामपि
खलु नियमात् सज्जनैर्वर्जनीयाः ॥ १६ ॥

नित्ययोगेषु परिघाद्या नव निन्द्यन्ते । प्रथमो विष्कम्भः ।

तथा गुरुः—

व्याघातः परिघो वज्रो व्यतीपातोऽथ वैधृतिः ।

गण्डातिगण्डौ शूलं च विष्कम्भं नव वर्जयेत् ॥

इति । उषर्बुधास्त्रयः, विशिखाः पञ्च, द्वीपास्सप्त, तर्काषट्,
अङ्गानि षट्, तेषां—परिघादीनां, प्रान्तेषु लोकादिनाढ्योऽवश्यं
वर्जनीयाः ।

तथाच गुरुः—

त्रीणित्रीणि नव त्रिंशत् तिथ्यङ्गाङ्गमुनीषवः ।

नाढ्यो व्याघातपूर्वाणामन्ते तावद्विवर्जयेत् ।

इति । इह केचित् प्रान्तेष्विति प्रथमेऽन्त्ये चेत्याहुः ।

तथाच विधिरत्ने—

विष्कम्भे घटिकेन्द्रियाणि नैवकं वज्रातिगण्डाख्ययो-

र्नाढ्यस्सप्त च शूलके रसघटीर्व्याघातगण्डाख्ययोः ।

योगादौ घटिका इमा विषसमा वर्ज्या व्यतीपातकं
सत्यं वैधृतिरर्धं च परिधं वर्ज्यं च योगद्वयम् ॥ इति ।

श्रीपतिश्च—

अनिष्टसंज्ञा इह ये च योगा-
स्तेषामानिष्टः खलु पाद आद्यः ।
सवैधृतस्तु व्यतिपातनामा
सार्वेऽप्यनिष्टः परिघस्य चार्धम् ॥
तिस्त्रस्तु योगे प्रथमे सवज्जे
व्याघातसंज्ञे नव पञ्च शूले ।
गण्डेऽतिगण्डे च षडेव नाड्य-
शशुभेषु कार्येषु विवर्जनीयाः ॥ इति ।

अन्ये त्वाहुः—

अर्कं निधाय तस्मात्तत् त्यक्त्वा भं यत् प्रदृश्यते ।
तस्मादुभयतस्तावन्नाड्यस्त्याज्या इति स्थितिः ॥

इति । दुष्टान् वारतिथियोगानाह—

अर्कस्याहुस्तर्ककुलाद्रर्थकचतुर्थः
प्रालेयांशोऽशूलधरोर्वीधरषष्ठयः ।
क्षोणीसूनोर्भूतभुजङ्गाद्रिदशम्यो
नेत्रक्षोणीनागनवम्यश्शशिसूनोः ॥ १७ ॥
वागीशस्याहस्करनन्दद्विषष्ठयः
काव्यस्याक्षिस्थानुदिमङ्गाहितृतीयाः ।

सौरस्येर्विंशतिजगत्यस्सनवम्य-

त्स्याज्या युक्ता स्सन्ततमेते तिथिवाराः ॥ १८ ॥

अर्कस्य षष्ठीसप्तमीद्वादशीचतुर्थ्यः, चन्द्रस्यैकादशीसप्तमीष-
ष्ठ्यः, कुजस्य पञ्चम्यष्टमीसप्तमीदशम्यः, बुधस्य द्वितीयाप्रति
पदष्टमीनवम्यः, गुरोः द्वादशीनवम्यष्टमीषष्ठ्यः, शुक्रस्य द्वितीयै-
कादशीदशमीनवम्यष्टमीतृतीयाः, शनेः प्रतिपदेकादशीत्रयोदशीनवम्यः,
एषां वारा एताः तिथयश्च युक्ताश्चेत् त्याज्या भवन्ति ।

तथाऽत्रिः —

षष्ठ्यादितिथयस्सप्त चन्द्रवारादिभिर्युताः ।
पक्षयोरग्निदास्त्वेता वारेशो बलवान्न चेत् ॥ •

इति । गुरुः—

षष्ठी च सप्तमी चैवमष्टमी नवमी तथा ।
द्वादश्येकादशीयुक्ता त्रयोदश्यर्कतो विषाः ।
बुधे द्वितीया कुजपञ्चमी च षष्ठी गुरोः शुक्रदिनेऽष्टमी च ।
एकादशीन्दौ नवमी च मन्दे द्वादश्यथार्के तिथिदग्धयोगाः ।
षष्ठीशशङ्के नवमी च शुके बुधे तृतीया तपने चतुर्थी ।
जीवेऽष्टमी सौरिदिने च सप्तमीयोगा विषाख्या दशमी च भौमे ।
प्रतिपद्बुधवारोण सप्तमीनदिनेन च ।
द्वावेतौ वर्षशूलारूयौ वर्जनीयौ सदा शुभे ।
द्वितीया च तृतीया च दग्धा स्यात् भृगुसूनुना ।

इत्यादि द्रष्टव्यम् ।

तत्फलं गुरुणोक्तं—

दम्भयोगे कृतं सर्वं कुलं विश्वं विनाशयेत् ।
 यथाऽप्रौ पतितास्तोयविन्दवो महतोऽप्यमी ।
 दद्याद्विवाहे वैधव्यं यात्रायां मृत्युमेव च ।
 अग्निदाहो गृहारम्भे प्रवेशे स्वामिनो मृतिः ।
 विषयोगे कृतं सर्वं कर्तृकर्मविनाशनम् ।

प्रतिपदकार्दिगततिथिवारसङ्ख्यायोगे त्रयोदशमिति क्रकचो नाम ।

तथा च नारदः —

त्रयोदश स्युर्मिळने सङ्ख्यायास्तिथिवारयोः ।
 क्रकचो नाम योगोऽयं मङ्गलेष्वतिगर्हितः ।

इति । वारक्षयोगानाह —

पितृयमघसुमैत्रेन्द्राग्निशूर्पाश्विनीन्द्रैः
 गुरुजलपितृशूर्पत्वाष्ट्रमैत्रोत्तराभिः ।
 अहिगिरिशविशाखाशक्रपौष्णाम्बुषट्कै-
 र्वसुनिर्ऋतियमाश्विन्यन्त्यभाद्रद्विदेवैः ॥१९॥

भगजलपतिरोहिण्यग्निरुद्रेन्दुचित्रै-
 र्मरुदजयमशूर्पार्धक्षपुष्याहिपित्रयैः ।
 रविगुरुभगमातृत्वाष्ट्रतोयत्रयान्त्यैः
 शुभकृतिषु विनिन्द्या वारयोगाः क्रमेण ॥२०॥

उत्तरास्तिस्त्रः, अम्बुषट्कं—पूर्वाषाढादिषड्भानि, अर्धर्क्षाणि,
 सौम्यचित्राश्रविष्ठाः, तोयत्रयं—पूर्वाषाढादीत्रिभानि । रवेर्मखायमव-

सुमैत्रसौम्यकृत्तिकाविशाखाश्विनीज्येष्ठाभिर्नवभिः । इन्दोः पुष्याऽऽ-
प्यमखाशूर्पाचित्रामैत्रोत्तरात्रयैः । कुजस्य सार्पाद्राशूर्पज्येष्ठान्त्यैः पूर्वा-
षाढादिषड्भैश्चैकादशभिः । बुधस्य वसुमूलयाम्याश्विनीपौष्णभाद्र-
विशाखाभिः सप्तभिः । गुरोः भाग्यवारुणरोहिणीकृत्तिकाचित्रासौ-
म्याऽऽर्द्राभिः । शुक्रस्य स्वातीरोहिणीभरणीशूर्पसौम्यचित्राश्रविष्ठापु-
ष्याऽऽश्लेषामखाभिर्दशभिः । शनेर्हस्ततिष्यभाग्यमातृचित्राऽषाढाद्वयश्र-
वणरेवतीभिर्नवभिः । एतैर्नक्षत्रैरर्कादिवारयोगाश्शुभकर्मसु निन्द्यास्त्युः
अत्र भरद्वाजः—

सूर्ये मखा चन्द्रदिने विशाखा
कुजे तथाऽऽर्द्रा शशिजे च मूलं ।
जैवे दिने वारुणरोहिणी च ।
शौक्रे मन्दे वैश्वदेवं च शून्यम् ।

नारदः—

यमर्क्षमर्के चन्द्रे तु चित्रा भौमे तु विश्वभम् ।
बुधे श्रविष्ठार्थऽमर्क्षं गुरोर्ज्येष्ठा भृगोर्दिने ।
रेवत्यैनेऽपि नाढोनां क्ष्वेच्छयोगा भवन्त्यमी ।

इह अर्थमर्क्ष—उत्तरफलगुनी ।

विशाखादिचतुर्वर्गो रविवारादिषु क्रमात् ।
उत्पातमृत्युव्याध्याख्या योगाश्चामृतसंयुताः ॥

गार्ग्यः—

चन्द्रेऽश्विनी रवौ सौम्यं ¹रौद्रे बौधे करशशनौ ।
भृगौ मखा कुजे चित्रा ज्येष्ठा जीवेऽर्थनाशनाः ।

गुरुः—

दस्त्रमैत्रपुनर्वस्वो भाद्रपादाग्निचित्रभाः ।

अषाढं च क्रमादकाद्योगा विषसमाह्वयाः ।

गार्ग्यः—

आश्लेषाऽर्केऽर्यमा चन्द्रे कुजे याम्यं तथैव च ।

चन्द्रसूनौ तथा चाऽऽप्यं गुरौ शूर्पक्षमेव च ।

मार्गवेऽदितिदैवत्यं सौरे श्रवणमेव च ।

मृतिश्च पचनं व्याधिः कलहो राजषीडनम् ।

अनिष्टयोगनामानो निन्दिताश्शुभकर्मसु ।

पूर्वाषाढाख्यरेवत्यौ विशाखावरुणेश्वरौ ।

याम्यं पुष्यं च भौमाद्यैः मृत्युयोगाः पदैः क्रमात् ।

विधिरत्ने—

सौरेर्वारयुतो हरिः शशतभिषक् शुक्रेण वेधोऽनिलं

जीवेनैन्दवमं मखा रवियुता तिष्येण चेन्दोर्दिनम् ।

फलगुन्युत्तरचित्रमे शशिसुते भूम्यात्मजेनाग्निभं

याम्यं वै यमकण्टकाद्विषसमा योगास्तु तान् वर्जयेत् ।

गुरुः—

मैत्रचित्राऽग्निदेवत्यविशाखावसुदेवताः ।

यद्यर्कवारसंयुक्ताः दोषा ह्यल्लहल्लेपमाः ।

त्रीण्युत्तराणि पैत्रान्त्यविशाखाविधुवारगाः ।

पूर्वाभाद्रपदं ज्येष्ठा शूर्पश्रवणवारुणं ।

धनिष्ठा सर्पदैवं च भौमवारेण वर्जयेत् ।

कर्तुः कर्म ।

कृत्तिका सार्धैत्राणि धनिष्ठा तिष्यरोहिणी ।
चित्रा च पितृदेवत्वं गुरुवारेण वर्जयेत् ।
नैऋतं बुधवारेण विशाखां शुक्रवासरे ।
पुनर्वसू तथा चाऽऽप्यं मन्दवारेण वर्जयेत् ।
एषु योगेषु सर्वेषु विवाहे म्रियते पुमान् ।
यात्रायां सर्वनाशस्स्यात् नवान्नाशनतो मृतिः ।
विद्याऽऽरम्भे भवेन्मूकः कृष्यारम्भे तु निष्फलम् ।
द्वितीयजन्मनि ध्वंसः चूडाकर्मणि नैधनम् ।
गृहारम्भे पतिर्नश्येत् प्रतिष्ठा राज्यनाशनी ।

इति । प्रतिष्ठाविषये विशेष उक्तः—

अश्विनीकृत्तिकाहस्तान् बुधवारेण वर्जयेत् ।
भृगुवारेण तिष्याख्यश्रवणौ मरणप्रदौ ।

अत्रिः—

सूर्यादेस्सूर्यवाराद्यैः जन्मतारास्समन्विताः ।
शुभकर्तुर्मृत्युदास्ताः शुभदृष्टियुता अपि ।

इति । ग्रहजन्मताराश्चान्यैरुक्ताः—

याम्ये तमोऽर्कः श्रवणे रविस्तु
जातो विशाखासु सितश्च पुष्ये ।
¹पौष्णेऽप्यभाग्येऽरगकृत्तिकासु
मन्दारवागीशशिखीन्दुजन्म ॥

इति । तिथिवारक्षयोगानाह—

पञ्चम्या सह कृत्तिकां दिनकरे चित्रा द्वितीये

विधौ राका धातृयुता कुजे शशिसुते याम्यान्विता
सप्तमी । जीवे मैत्रयुता त्रयोदशतिथिः श्रोणा
सषष्ठी भृगौ मन्दे पौष्णयुताऽष्टमीति गदिता
योगा विषाख्या इमे ॥ २१ ॥

राका—पूर्णिमा, सूर्यादिवारेषु पञ्चम्यादितिथियः कृत्तिकादि-
नक्षत्राणि च यदि संयुज्यन्ते विषयोगास्ते स्युः ।

तथाच गुरुः—

अर्काग्रचोः पञ्चमीयुक्ता षष्ठीश्रवणभार्गवाः ।
बुधे तु सप्तमी याम्यं शनौ पौष्णयुताऽष्टमी ।
सोमे द्वितीया चित्रा च कुजे पूर्णेन्दुरोहिणी ।
गुरौ त्रयोदशी मैत्रं विषा हालाहलोपमाः ।
एतेषु विषयोगेषु न कुर्यात् शोभनं बुधः ।
शत्रुमारादि कुर्वीत शापव्रतसमाप्तिकम् ॥

तिथ्यृक्षयोगानाह—

तिथयः क्रमेण काष्ठात्रयोदशमहीरवीषुवसु-
सङ्ख्याः । विधिभगजलभुजगानलभाद्रयुतास्त्वृ-
क्षलूचि(ज्जि)नामानः ॥ २२ ॥

शुभेषु चित्राद्वयमुत्तरात्रयं
मैत्रं मखां वैधसमर्कनैरूकते ।
त्रयोदशाग्निद्विशराष्टसप्तमी-
तिथ्यन्वितानि क्रमशो विवर्जयेत् ॥ २३ ॥

काष्ठा-दश । चित्राद्वयं-चित्रास्वात्यौ । वैषसं—रोहिणी ।
दशम्यादिषट्तिथयो रोहिण्यादिषड्भैर्युक्ताश्चेत् ऋक्षलूजिनामानो
दोषास्त्युः । तथा चित्राद्वयादिषट्पदोक्तानि त्रयोदश्यादिषट्तिथिभिः
युतानि चेत् दोषास्त्युः, तान् वर्जयेत् ।

अत्र गुरुः—

प्रतिपत्पूर्वमाषाढं पञ्चमे कृत्तिका तथा ।
पूर्वाभाद्रपदाऽष्टम्या दशम्या रोहिणी युता ॥
द्वादश्या सार्पनक्षत्रमर्यमा च त्रयोदशी ।
नक्षत्रलूजिरित्येते देवानामपि नाशनाः ॥

गार्ग्यः—

अनूराधा द्वितीयायां तृतीयायां त्रिकोत्तराः ।
पञ्चम्यां च मखा युक्ता अष्टम्यां रोहिणी तथा ॥
हस्तमूले च सप्तम्यां चित्रास्वात्योस्त्रयोदशी ।
एषु कार्यं न कुर्वीत कुर्वन् क्षिप्रं विनश्यति ।

उत्तरगार्ग्ये विशेष उक्तः—

‘रोहिण्या तृतीया, मृगशीर्षेण षष्ठी, पुष्येण दशमी,
अनूराधया द्वादशी, श्रवणेन पञ्चमी, पौष्णेन सप्तमी, इति ।
तत्रापि यत्कृतं भस्मसाद्भवति ।

इति । गुरुणा प्रतिष्ठायां विशेष उक्तः—

आद्याषाढं च पौष्णं च सप्तमी सहिते यदि ।
द्वितीययाऽश्विनी युक्ता प्रजानां पापहारिणी ॥ इति ॥

तिथिराशियोगानाह—

मकरवणिजौ लैयैणौ स्त्रीयमौ हयकर्कटौ
वशिमृगपती चापान्त्यौ गोझषौ विषमास्वमी ।
तिथिषु तु समास्वेते दग्धा भवन्ति झषो वृषः
शशिभमबला कीटो नक्रः क्रमादशमान्विताः ॥

प्रतिपदादिविषमतिथिषु सप्तसु मकरतुलाद्यौ द्वौ द्वौ राशी
दग्धौ स्तः । द्वितीयादिसप्ततिथिषु षट्सु मीनादयषष्ठाशयः स्वी-
यदशमराश्यन्विताः दग्धास्स्युः । एतद्गुरुवाक्येनैवोक्तं भवति—

प्रथमायां तुलानक्रौ तृतीयायां मृगार्कभौ ।
पञ्चम्यां सैम्यराशी द्वौ सप्तम्यां चापचन्द्रभे ।
लेयकोऽर्षी नवम्यां च एकादश्यां धनुर्झषौ ।
वृषमीनौ त्रयोदश्यां दग्धसंज्ञास्त्वमे गृहाः ।
जीवर्क्षे द्वे द्वितीयायां चतुर्थ्यां घटताबुरू ।
षष्ठ्यां कर्कटमेषौ द्वौ बुधक्षेत्रेऽष्टमीयुते ।
कोर्पिसिंहे दशम्यां च द्वादश्यां मृगजूकभे ।
इमे मृत्युप्रदा योगा लग्ने तिथिषु शोभने ।
दग्धसद्धानि यत्कर्म कृतं तद्दुर्गनाशनम् ॥

इति । तुशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । चतुर्दशीपञ्चदशोर्दग्धराशयो
द्रष्टव्याः । इति ।

आत्रिः—

मृगकुम्भे चतुर्दश्यां शून्ये पर्वद्वये हरिः ॥

इति । वारलभयोगोऽपि कैश्चिदुक्तः—

अर्के वृषो विधौ युग्मं सिंहो भौमे धनुर्वधे ।
घटो गुरौ मषश्शुक्रे तुला मन्दे विषा इमे ॥

इति । गुरुणा तिथिवारर्क्षयोगोऽप्युक्तः—

कृत्तिकायाम्यरौद्राणि सार्पमैन्द्रभमेव च ।
त्रिपूर्वास्सर्वदा वर्ज्याः सर्वेषु शुभकर्मसु ॥
पापवारयुनेष्वेषु रिक्ताख्यैर्द्वादशीयुतैः ।
षष्ठ्या च सहितेष्वेषु पापांशे पापलभके ॥
न कुर्याच्छुभकार्याणि कृतं सर्वं विनश्यति ।
रोगर्णादिभयादीनां कर्तव्यास्त्युः प्रतिक्रियाः ॥
एषु योगेषु शापादि विसृजेद्यस्तु तत्पुनः ।
नाऽऽयाति रोगस्त्रानादि कृते च न पुनर्भवेत् ॥

इति । अन्ये त्वेवमाहु—

तिथिवारं च नक्षत्रं लग्नं ध्रुवकमिश्रितं ।
तिथिद्वादशदशकं चाष्टकं च चतुष्टयं ॥
ग्रहसङ्ख्यैर्हरेद्भागं पञ्चशेषं तु पञ्चकं ।
रोगो वह्निर्नृपश्चोरो मृत्युश्चेति यथाक्रमम् ॥

इति । अयमर्थः—इष्टकालात् प्राग्गतानि तिथिवारर्क्षलग्नानि सं-
मिश्रय पञ्चराशीकृत्य तद्वाशिषु पञ्चदशद्वादशदशाष्टचतुस्सङ्ख्याः
संयोज्य नवभिर्विभज्य शिष्टेषु पञ्चसङ्ख्या शिष्यते चेत् ते पञ्च
दोषाः रोगाग्निराजचोरमृत्युसंज्ञास्त्युरिति ।

अन्ये त्वाहुः—

गततिथियुतलग्नं पञ्चधा कृत्य युक्त्वा
तिथिरविदशनागाम्नायसङ्ख्याः क्रमेण ।

वसुभृतभरशेषं शोभने वर्जनीयं
रुगनलनृपचौरैर्मृत्युना चात्र दुष्टम् ॥

इति । गततिथिषु गतराशीन् संयोज्य पञ्चरशीकृत्य तेषु तिथिरविदशा
ष्टचतुष्टयानि संयोज्याष्टभिर्विभज्य शिष्टा पञ्चसङ्ख्या चेत् रुगा-
द्याख्याः पञ्च दोषास्त्युः ॥ इति ।

उडुकूपमाह—

द्विगुणितमनुमितिथयः कृतिहयतिथितिथि-
हरा मनुद्वितयम् । द्विगुणितशक्यैकद्वीपाष्ट्यष्टीश-
कृतिशरद्वीपाः ॥ २५ ॥

अत्यष्टिगिरिहरस्वरागिरितिथयो मनुयुगेन्द्रयुग-
बाणाः । एतत्संख्यास्वन्त्या नाढ्यो दस्राऽऽदिभेषु
निम्नाऽऽख्याः ॥ २६ ॥

द्विगुणितमनवोऽष्टाविंशतिः । हयास्सप्त । मनुद्वितयं-अष्टाविंशतिः ।
द्विगुणितशकरी-अष्टाविंशतिः । अङ्काः-नव । द्वीपास्सप्त । अष्टिः
षोडश । अत्याष्टिः-सप्तदश । स्वराः-सप्त । मनुयुगं-इन्द्रयुगं-अष्टा-
विंशतिः, अश्विन्यादिषूक्तसङ्ख्यास्वष्टाविंशत्यादिष्वन्त्यासंख्यापूरण्योऽ-
ष्टाविंश्यादयो घटिका निम्नाऽऽख्याः—कूपसंज्ञास्त्युः ॥

तिथिकूपमाह—

द्वाभ्यां युक्तस्सप्तवर्गस्सतत्त्वा
बाणादशौला आकृतिश्च द्विजाश्च ।

एतेष्वन्त्या नाडिकाः कूपसंज्ञा
नन्दादीनां निन्दनीयास्तिथीनाम् ॥ ३७ ॥

द्वाम्यां युक्तस्सप्तवर्गः—एकपञ्चाशत्, सतत्वा बाणाः—त्रिं-
शत्, शैलाः—सप्त, आकृतिः—द्वात्रिंशतिः, द्विजाः—द्वात्रिंशत्, एता-
स्वन्त्यास्सङ्ख्यापूरण्यः—एकपञ्चाशद्या घटिकाः नन्दादितिथीनां
संबन्धिन्यः कूपसंज्ञास्त्युः ।

तिथिकारककूपनिघ्ननाडी-
मभितो द्वे घटिके विवर्जनीये ।
अवमत्य नरस्तदन्तराले
विचरन्कूप इवावपातमेति ॥ २८ ॥

तिथिनक्षत्रयोः कूपाख्यनाडीमभितः—पुरतः पश्चात् एकैकेति—
द्वे घटिके त्याज्ये स्तः । यथा—कूपमनादृत्य तन्मध्ये चरन् कूपे
पतति तद्वत् कूपघटिकायां शुभं कुर्वन् तत्कर्मभ्रंशमाप्नोति ।

तथाच गार्ग्यः—

ऋक्षकूपे ध्रुवं मृत्युः तिथिकूपे धनक्षयः ।

तस्मात्कूपं परित्यज्य कर्माभ्युदयमाप्नुयात् ॥ इति ।

अश्विन्यामष्टाविंशी एकोनत्रिंशी च द्वे घटिके कूपाख्ये स्तः

केचिदाहुः—

निगदितनाडिकान्तः कूपः तदुभयतो द्वे इति चतस्र इति ।

चक्रार्धव्यतिपातमाह—

चक्रार्धव्यतिपातमाहुरिह तच्छिष्टं यदृक्षं रवौ
पाथोर्नेऽशकतोऽशक्रार्धसहितात्त्यक्ते त्रयोविंशतः
(तेः)। अन्ये यावदिनाद्भवत्यदितिभं तावत्ततस्तं वि-
दुस्सर्वे तं समये स्वकीयगणितप्राप्ते विनिश्चिन्वते ॥

¹ पाथोर्नेशकन्यायामेशकन्यायनार्धेन त्रिंशच्छिप्ताभिस्सहितात्
त्रयोविंशांशात् तात्कालिकेऽर्के त्यक्ते यदृक्षं शिष्यते तदिह चक्रा-
र्धव्यतिपातं नामाऽऽहुः । अपिच सार्धात् कन्यात्रयोविंशश्च
चक्रार्धं व्यतिपात्य तस्मात् मीने सार्धत्रयोविंशांशात् अर्के त्यक्ते
शिष्टमृक्षं च तद्दूषणमाहुः ।

यद्यप्यंशकार्धसहितादित्यांशकः (?) न्यंशसहितादिति वक्तव्यं,
तत्रैव तस्योपक्रमात् इदं तु पादोनघटिकामात्रमधिकम् । तथाऽप्यल्पा-
न्तरमित्येवमुक्तम् ।

अन्ये—गुर्वादय एवमाहुः—इनात् सूर्यर्क्षादारभ्य अदितिभं
यावत्सङ्ख्यं भवति तस्मात् तावत्सङ्ख्यं व्यतिपातमिति । नक्षत्रादि-
मुपक्रम्य यावती घटिकाऽर्केण भुज्यते नक्षत्रान्तात् वैलोम्येन
तावत्यां घटिकायां पातोपक्रमः । अपिच अदितिः—इन्द्रमाता, इन्द्रा-
श्रतुर्दश, तन्मातरश्च तावत्य इत्यदितिशब्देन चतुर्दशसङ्ख्याऽभि-
धीयते, चतुर्दशं भे—चित्रानक्षत्रं, सूर्यर्क्षाद्यावद्भवति तस्मात् तावत्सङ्ख्यं
च व्यतिपातमिति ।

¹ पाथोर्नेऽशकतः—कन्यायामेश,

तथाचाऽऽहुः—

¹धीराङ्गनामवाक्यात्तु तात्कालिकरविं त्यजेत् ।

चक्रार्धाख्यव्यतीपातो गणितेन स्फुटो भवेत् ॥

इति । अपिच—

अर्कात्पुनर्वसू यावत् तावत्तद्विवसावुभौ ।

इति । स्वकीयगणितेन—सिद्धान्तप्रोक्तेन, प्राप्ते काले व्यतीपातं सर्वेऽप्याचार्या विनिश्चिन्वते । निश्चयेन वदन्ति । अन्यदेतत् सर्व-मुद्देशवदिति ।

तथाच गुरुः—

महागणितमार्गस्थो व्यतीपातोऽतिदोषदः ।

बलवद्गुणसंपन्नेऽप्यसौ कुलविनाशनः ॥

इति । तन्मध्यकालो रल्लेनोक्तः—

तुल्येऽयने भिन्नदिशो रवीन्द्रोस्स्याद्वैधृतश्चक्रसमे समासे ।

भिन्नेऽयने तुल्यदिशोश्च योगे चक्रार्धतुल्ये व्यतिपातयोगः ।

इति । तत्स्फुटीकरणाय रवीन्दुयोगं कृत्वा तत्र चक्रार्धहीनाधिक-लिप्तापिण्डं रवीन्दुभोगयोगेनाऽऽप्तं दिनादिकालेनैष्यता गतेन वा पात-मध्यकालो भवति । तत्र रवीन्दुपातांस्तद्भोगैस्तात्कालिकीकृत्य रवीन्द्रो-रयनांशात् संयुज्य)योज्य भुजाक्रान्तिः कार्या । यथा—

भगीरसुर्द्धां सवनी वनार्धिनी जने धनं धेहि नयं जगत्प्रिये ।

सहाऽऽलये तापभयं नभोभयं रवीन्दुबाहादशभागजावमाः ।

अयमेव रवेः स्फुटावमः—

शशिनस्तु पातं विशोध्यं भुजाक्षेपः कार्यः । यथा—

¹ धिरागरामवाक्यात्तु.

सर्वज्ञबुधान(?)शालिकां वामाय सुनारिवागुराम् ।

भूमीन्द्रततश्रीनः सुखं दोःक्षेपकलादशांशजाः ।

चन्द्रावमक्षेपयोरिकदिशोर्योगं भिन्नदिशोर्वियोगं कृत्वा तदवमश्च स्फुटो भवति । तत्र विषमपदस्थस्येन्दोरकावमाद्येनस्तदा भावी, यदा पातकालाधिकस्तदाऽतीतः । अथ समपदस्थस्य व्यस्तमिति ज्ञात्वा वैधृतपातकाले विचार्यमाणेऽर्केन्दुस्फुटावमयोः समदिशोर्योगो भिन्न-दिशोर्वियोगः कार्यश्चक्रार्धपातकाले, अन्यथा स प्रथमो राशिर्भवति । अथ यदा पातकालोऽतीतस्तदा तत्कालात्पूर्वं यदा भावी तदोर्ध्वं काभिश्चिदिष्टघटिकाभिरर्केन्दू तात्कालिकौ कृत्वा प्राग्वत्तयोः स्फुटाव-मावानीय पातकालस्य गतगम्यतां विचार्य प्राग्वत्तयोर्योगो वियोगो वा कार्यः । द्वितीये उभयत्रापि पातकाले गते वा गम्ये वा सति प्रथमद्वितीयराशोर्योगः । एकत्र गतेऽन्यत्र गम्ये सति योगः । स चेष्टघटिकाहतस्य प्रथमस्य छेदः । आसं घटिकादि, ताः पात-नाड्यः पूर्वपातमध्यकालात् गता गम्या वा स्युः, ताभिरर्केन्दू तात्का-लिकौ कृत्वा प्राग्वत् तत्स्फुटावमयोरानीतयोर्यदि साम्यं संपद्यते तदा स एव स्फुटपातकालः, अथ न चेत् तदा तदवमाम्यां प्राग्वत् गतैष्यत्वविचारणादिना द्वितीयो राशिः कार्यः, पातनाड्यः इष्टघटिकाः प्राक्तन एव प्रथमराशिः । तैरपि प्राग्वत् स्फुटपातकालस्साध्यः एवं यावदर्केन्द्वोः स्फुटावमसाम्यं संपद्यते तावत्कार्यं स स्फुटपातमध्यमकालः । पातस्थित्यर्धहीनस्तदुपक्रमकालः, पातस्थित्यर्धयुतस्तद्विरामकालस्स्यात् ।

यथोक्तं सूर्यसिद्धान्ते—

पातकालस्स्फुटो मध्यः सोऽपि स्थित्यर्धवर्जितः ।

तस्य संभवकालस्स्यात् तद्युक्तोऽथान्यसंज्ञितः ।

आद्यन्तकालयोर्मध्यकालो ज्ञेयोऽतिदारुणः ।

प्रज्वलज्ज्वलनाकारसर्वकर्मसु गर्हितः ।

इति । पातस्थित्यर्धानयनं च तत्रोक्तं—

रवीन्दुमानयोगार्धं षष्ठ्या संङ्गण्य भाजयेत् ।

तयोर्भुक्तचन्तरप्राणैः स्थित्यर्धं नाडिकादिकम् ॥

इति । अथ यदैव माने नीयमानमप्यपक्रमसाभ्यं न संपद्यते
तदा पाताभावः, यदा तु द्विरुत्पद्यते तदा द्विः पातो भवति ।

तथा च सिद्धान्ते—

रवीन्द्रोस्तुल्यता क्रान्त्योर्विषुवत्सन्निधौ यदा ।

द्विर्भवेत् द्विस्तदा पातः स्यादभावो विपर्यये ॥

इति । पातकृत्यमाह—

यत्र चक्रार्धयोगो भवेत्तद्दिनं

दानयोग्यं शुभेषूत्सृजेत् कर्मसु ।

तच्च तस्मादधश्चोत्तरं चाशुभं

वासराणां त्रयं केचिदाचक्षते ॥ ३१ ॥

एवं गणितानि तच्चक्रार्धयोगो यत्र दिने भवति तद्दिनं कृत्स्नं
दानयोग्यं । तथा च सिद्धान्ते—

स्नानदानतपश्श्राद्धव्रतहोमादिकर्मसु ।

प्राप्यते सुमहच्छ्रेयस्तत्कालज्ञानतस्तथा ॥

इति । स्मृतौ च

शतमिन्दुक्षये दानं सहस्रं तु दिनक्षये ।

विषुवे शतसाहस्रं व्यतीपातेष्वनन्तकम् ॥

इति । शुभेषु कर्मसु—विवाहादिषु वर्जयेत् ।

तथा च नारदः—

यस्मिन् दिने महापातस्तद्दिनं वर्जयेत् शुभे ।

अपि सर्वगुणोपेतं दम्पत्योर्मृत्युदं यतः ॥

इति । पातकाल एवेदमिति केचित् ।

तथाच ब्रह्मगुप्तः—

रविविम्बमेकमार्गाच्छशिविम्बापक्रमात् भवति यावत् ।

तावत्फलं तदुक्तं तदभावे तत् फलाभावः ।

इति । पातयोगो यत्र दिने भवति तद्दिनं तद्दिनादधोदिनं
उत्तरदिनं चेति वासरत्रयमशुभमिति केचित्—वराहमिहिरादय आहुः ।

तथाच तद्वाक्यं—

एष्यो धनं क्षपयति व्यतिपातयोगो

मृत्युं करोति नचिरादपि वर्तमानः ।

सन्तापशोकवधवन्धकरस्त्वतीत-

स्तस्माद्दिनत्रयमिदं प्रजहीत विद्वान् ।

ननु पातोपक्रमविराममव्यकाल एव व्याज्यः, न दिनत्रयं ।

यतस्तत्रैवाकर्णन्दुराशिसंघट्टाद्वह्निर्जायते ।

तथाच सिद्धान्ते—

तुल्यांशुजालसम्पर्कात् तयोस्तु पवनाहतात् ।

तद्दृक्कोडभवो वह्निर्लोकाभावाय जायते ।

इति । अन्यत्रांशुसम्पर्काभावात् तदभावः, तस्माद्दिनत्रयं न दुष्टं ।

उक्तंच श्रीपतिना —

भानोर्विम्बं तुहिनकिरणपक्रमं चैकदिकं

यावत्ताभिर्मुनिभिरुदितस्संभवस्तत्फलस्य ।
तस्याभावे भवति नियतं तत्फलस्याप्यभावो
यात्रोद्वाहादिषु पुनरिह द्युत्रयं नैव दुष्टम् ॥

इति । नैतत्सारं, तुच्छत्वात्, बहुसिद्धान्तभेदेनाकुलत्वाच्च ।
तस्मात् स्फुटकालमभितस्त्रिशब्दाज्य इति ; षष्टिनाडीमितमेकदिनं त्याज्य-
मित्याचार्यस्य मतम् । चक्रार्धयोग इति वैधृतग्रोगग्रहणम् । चक्रयोगो
वैधृतस्तदर्धयोगो व्यतीपातः ।

यद्वा चक्रार्धयोर्द्वौ योगौ स्तः । एको व्यतीपातः अन्यो वैधृतः
तेन समावित्यर्थः ।

तथाच वराहमिहिरः—

व्यतिपातगतं दिनत्रयं
व्यतिपातेन समश्च वैधृतः ॥

इति । सिद्धान्तेऽपि—

व्यतीपातः प्रसिद्धो यः संज्ञाभेदेन वैधृतः ।

इति । अथ केचित् व्यतीपातपञ्चकमाहुः ।

तथाच वराहमिहिरः—

व्यतिपाताद्ब्रह्मघातः षष्ठे दशमे च वैधृतं धिष्ये
विक्षोभणगण्डान्तावातिधृतिसङ्ख्ये च विंशे च ।
तदिदं व्यतिपातपञ्चकं कथयन्त्युत्तरसंज्ञिता जनाः
व्यतिपातवदाकुलं स्थितं बहुसिद्धान्तविभेदकारणैः ॥

इति । अन्ये च सप्त दोषा व्यतीपातसमा गुर्वत्रिभ्यामुक्ताः ।

यथा—

अर्केन्दुस्फुटयोगर्क्षाद्वितीयं नवमं च भं ।

षष्ठं त्रयोदशं चाष्टादशमेकादशं तथा ।
 एकोनविंशं नक्षत्रं एते चाऽऽशीविषोपमाः ।
 विरोधः परिघो वज्रं दण्डं खड्गं च शूलकम् ।
 व्यतीपात इति ख्याताः सर्वे चाऽऽशीविषोपमाः ।
 अपवादैर्न भिद्यन्ते बलिभिर्वा गुणैरपि ॥

इति । कण्टकस्थूणदोषानाह—

अर्कक्षोणीसुताभ्यां भवति गणनया नैर्ऋतं
 यावदृक्षं तावत्यौ तारके द्वे क्रमश इह मते कण्ट-
 कस्थूणसंज्ञे । तभ्यामामूलसंख्याद्वययुतिगणितः
 कण्टकस्थूणनामा रक्तस्थूणोऽवशिष्टः क्षितिसुर-
 रहिते सिंहधृत्यंशके स्यात् ॥ ३२ ॥

अर्ककुजाक्रान्तनक्षत्राभ्यामारभ्य गणनया मूलनक्षत्रं यावत्स-
 ङ्ख्यं भवति तस्मात्पुनर्मूलात् प्रभृति तावत्सङ्ख्ये नक्षत्रे क्रमेण
 कण्टकस्थूणसंज्ञे भवतः । तत्रार्कात् कण्टकदोषः । कुजात् स्थूण-
 दोषः । अर्कारौ तारादेः क्रमेण चरतः दोषौ तु तारान्तादु-
 त्क्रमेणेति अर्काराक्रान्तताराभ्यामारभ्यामूलगणिते ये सङ्ख्ये तयो-
 रसंमिश्रणाद्या सङ्ख्या संपद्यते मूलादारभ्य गणितस्तावत्संख्यनक्ष-
 त्रगतः कण्टकस्थूणदोषस्स्यात् । सिंहेऽष्टादशांशकेभ्यः कुजस्फुटं
 विशोऽध्यावशिष्टतारागतौ रक्तस्थूणदोषः स्यात् ।

अत्रात्रिगुरूः—

यावदर्कात् नैर्ऋत्यं तावन्नैर्ऋतभात् विषं ।
 कण्टकाख्यः कुजाच्चैवं स्थूणाख्यः शुभनाशन

भौमार्कसहितादृक्षाद्यावन्नैरुक्तं तयोः ।
 संख्याद्वययुतौ मूलात् कण्टकस्थूणासंज्ञितः ।
 एषु त्रिष्वपि दोषेषु कृतं सर्वं विनश्यति ।
 सत्स्वपि स्वापवादिषु बलवत्सु गुणेषु वा ।
 कलाद्ये ज्ञानदीपौघे कुजस्फुटगतिं त्यजेत् ।
 शिष्टमङ्गारकस्थं रक्तस्थूणं शुभे त्यजेत् ॥

इति । अर्काक्रान्तनक्षत्रादाश्लेषादिषण्णक्षत्राणि यावत्संख्यानि स्युः
 अश्विभाक्तावत्संख्यं हरास्त्रमिति केचिदाहुः ।

तथा च रल्लः—

दिनकरयुताद्वादाश्लेषामखाश्रवणस्तथा
 निरुक्तिभमथो चित्रा मैत्रं क्रमादथ यावति ।
 पतति ततमे चन्द्राक्रान्ते हरायुधमश्विमान्
 किमपि हि शुभं कार्यं न तत्र विचारणे ।

इति । मृत्युदोषानाह—

व्ययेऽर्को राहुर्वा रिपुनिधनयोः शीतकिरणः
 सुरेडयो वा धर्मे धरणितनयः खे शशिसुतः ।
 कविर्यस्य द्यूने वसति तनये सूर्यतनयो गृहं
 तन्मृत्युवाख्यं निखिलशुभकार्येषु विसृजेत् ॥ ३३ ॥

इष्टलग्नस्य द्वादशभावे यद्यर्को राहुर्वाऽवतिष्ठते; तथा षष्ठाष्ट-
 मयोश्चन्द्रो गुरुर्वा, नवमे कुजः, दशमे बुधः, सप्तमे शुक्रः, पञ्चमे
 मन्दस्तिष्ठति तल्लग्नं मृत्युसंज्ञं सर्वशुभकार्येषु विसृजेत् । एतेऽष्टौ

मृत्युयोगाः, न त्वेकः । अन्यथा व्ययस्थेऽर्के वृषशुक्रौ मस-
मयोः कथं स्तः ।

अत्र गुरुः—

पुत्रस्थं भानुमूतं परिहर सततं भार्गवं सप्तमस्थं
जीवं षण्मृत्युसंस्थं नवमदशमयोर्मौमसौम्यौ क्रमेण ।
चन्द्रं षष्ठाष्टमस्थं दशशतकिरणं द्वादशस्थं मसर्पं
संप्रोक्ता मृत्युयोगा मरणभयकराः कीर्तितास्सर्वकार्ये ॥

इति । गुरोष्पडष्टान्त्यस्थे चन्द्रे शकटो नाम दोषः ।

गुर्वत्री—

गुरुस्थानात्तु शीतांशौ षडन्तं संश्रितेऽष्टमं ।
योगोऽयं शकटो नाम वधं दद्यात् शुभे युतः ।

इति ।

दद्युश्चित्राशूर्पचक्रांबुविष्णु-
क्षीराधीशा बुधचदस्त्रान्तराश्व ।
धाता रुद्रो देवसूरप्यजाद्यै-
र्मासैर्युक्ता वत्सरार्धेन मृत्युम् ॥ ३४ ॥

क्षीराधीशो—वरुणः, चित्राद्या द्वादश तारका मेषाद्यैर्द्वादभिः
सौरमासैर्युक्ता वत्सरार्धेन षड्भिर्मासैर्मृत्युं दद्युः । मेषादिमासेषु चि-
त्राद्या मृत्युसंज्ञा इत्यर्थः ।

अत्र गार्ग्यः—

अजे चित्रा वृषे शूर्पं यमे ज्येष्ठाऽम्बु कर्कटे ।
श्रवणार्धसहमासे स्यात् कन्यायां शततारका ।

अहिर्बुध्न्यं तुलायां च वृश्चिके चाश्विनी तथा ।
 धनुषो भरणी चैव मकरस्य तु रोहिणी ।
 रौद्रर्क्षं कुम्भमासे तु मीनमासे पुनर्वसू ।
 शून्यऋक्षा न कर्तव्याष्वणमासे मरणप्रदाः ।

इति । अन्धभान्याह—

अर्कारूढभनाडिकामुभयतो रामाग्निषट्त्तरका
 नाडयोऽन्धैकदृगक्षियुग्मकलिताः काणास्तु तिस्रः
 पराः । वारान् भानि च तद्दिनान्तमभियुज्याङ्का
 सशिष्टास्सदृक्काणान्धा युगलोकलोचनमिता-
 स्ताराः प्रदिष्टाः परैः ॥ ३५ ॥

त्रिशिखमिकामृज्ज्वीं नाडीं विलिख्य तद्वेदिनीद्वादश तिर-
 श्रीर्लिखेत् । तद्वजुनाडीमूले अर्काक्रान्तर्क्षं विन्यस्य ततः क्रमेण
 नाड्यग्रेषु साभिजिन्ति भानि न्यस्यान्धत्वादीनि निरूपयेत् । तत्रा-
 र्काक्रान्तभमन्धं तदुभयपार्श्ववर्तिनाडीत्रयगतान्यन्धानि, तत्परस्स्थित-
 नाडीत्रयगान्येकनेत्राणि, ततः परं षण्णाडीगतानि द्विनेत्राणि । ततः
 ऋजुनाडीत्रिशिखांशकान्येकनेत्राणि स्युः ।

तथाच सर्वसिद्धौ—

एकं त्रिकं त्रिकं षट्कं त्रिकं षट्कं त्रिकं त्रिकम् ।

अन्धान्धकाणदृक्काणदृक्काणान्धा रवेः क्रमात् ॥

इति । अन्ये त्वाहुः—

अर्कादीन् गतवारानश्विन्यादीनि गतभानि च तद्वर्तमानदिन-
 र्क्षाम्यां सह संयोज्य नवभिर्विभज्य शिष्टाश्चतस्रश्चेत् तदूना द्विनेत्रा

स्युः । तदूर्ध्वं तिस्रः काणाः, तदूर्ध्वं द्वे यद्यन्धास्तारा स्युरिति ।
तथाचोक्तम्—

अर्कपूर्वाश्विनीपूर्वा धेनुभक्तावशेषिताः ।

द्व्यक्षकाणद्विनेत्रास्युराभाण्डारादनुक्रमात् ॥ इति ।

गुरुराह भास्करादीन् वारान् त्रिघ्नान् विशो-
धयेद्भगणात् । शेषे नवरविरसमितताराः काणद्वि-
लोचनान्धाख्याः ॥ ३६ ॥

गुरुरन्धादिभान्येवमाह—अर्कादीन् गतवारान् वर्तमानवारसहितान्
त्रिगुणान् सतो भगणात् नक्षत्रमण्डलाद्विशोध्याश्विनीमादितः कृत्वा
तावत्संख्यानि भान्यतीत्य परतश्शिष्टे भचक्रे नव ताराः काणाः, ततो
द्वादश द्विलोचनाः । ततष्षडन्धा भवन्ति । उक्तं च—

वारानर्कादितस्त्रिघ्नानादौ संशोध्य चक्रतः ।

ततो नवार्कषट्ताराः क्रमात् काणद्विदृक् विदृक् ॥

इति । अत्र केचिदाहुः—

त्रिघ्नानर्कादिवारान् भचक्राद्विशोध्यावशिष्टसंख्याग्रगतान्न-
क्षत्रादारभ्य काणादयस्स्युरिति, तदसत्—अनिष्टभानामन्धत्वापत्तेः,
तथाहि—सूर्यवारे त्रिघ्नगतवारविशुद्धभचक्रविशिष्टसंख्याग्रगतं पूर्वा-
भद्रर्क्षं तस्मादारभ्य काणादिगणनया मूलादीनां षण्णामन्धत्वं समा-
पद्येत । तच्च नेष्यते । तत्र पूर्वाभद्रादीनां षण्णामन्धत्वश्रमात् ।

पूर्वाभद्राऽश्विकाऽऽदित्यमखाऽर्केन्द्राग्निभात् क्रमात् ।

षट्षडर्कादिवारेऽन्धाः शुभकर्मविनाशनाः ।

इति । तच्च त्रिघ्नगतवारसंख्यास्तिस्वस्ताराः भचक्रादौ विहाय तद-
ग्रगतरोहिणीमारभ्य काणादिगणनया सेत्स्यन्तीति ।

अन्धादिदोषो राशीनामप्यत्रिणा—

मेषोक्षसिंहा नक्तान्धाः दिवान्धास्त्रीयुगेन्दुभाः ।

कुम्भान्त्यौ बधिरौ सन्ध्योः पङ्क प्रातस्तुलाऽकिनौ ।

सायाह्नेऽश्विमृगौ तेषु शुभं विद्यां गतिं त्यजेत् ।

इति । विवाहेऽन्धादिराशीनां फलमन्यत्रोक्तम्—

अन्धे बन्ध्या भवेन्नारी बधिरे विधवा स्मृता ।

पंगुभे दुर्भगा नारी लग्नदोषाः प्रकीर्तिताः ॥

भानां मृतादिदोषोऽपि तेनोक्तः—

अर्कस्थमुक्तप्राप्यर्क्षं मृतं सप्तार्धजीवनाः ।

पार्श्वयोर्मृतमेकैकं पूर्णप्राणमथाष्टकम् ।

सस्यारम्भे च विष्कम्भे द्रुमेदे जलताडने ।

जलप्रवेशे कूपाद्यनिधाने पूरणे गतौ ।

पूर्णप्राणं शुभं मध्यमर्धप्राणं मृतं त्यजेत् ।

इति । उष्णाशिखामाह—

अश्विन्यादिषु भेष्वजाळिमकरप्राप्तांशकान्ते
क्रमादंशार्धस्मरबाणरन्ध्रघटिकास्तद्वादिशाखादिषु ।
मेषांशस्य मुखेऽष्ट कोर्पिमृगयोरंशावसानेऽष्टह-
डूनाडीरुष्णाशिखाऽऽह्वयाः परिहरेत् सर्वेषु कार्ये-
ष्वपि ॥ ३७ ॥

भानां नवांशकल्पनया प्राप्तमेषाळिमकराणां संबन्धिनो
र्येऽशकाः त्रित्रिनक्षत्रात्मकसमुदायानां नवानामाद्यमव्यान्त्यमेषु प्रथ-

मचतुर्थद्वितीयपादा ये सन्ति तेषामन्ते क्रमात्—मेषांशान्तैः-
शार्ध—सार्धसप्तघटिकाः, वृश्चिकांशान्ते स्मरवाणाः—पञ्च, मकरांशान्ते
रन्ध्राणि—नव नाड्यः, उष्णाशिखाऽऽख्याः अश्विन्यादिपञ्चदशभेषु
भवन्ति । विशाखादिद्वादशभेषु ; अथ मेषांशादावष्ट, कोर्प्यशान्तेऽष्ट,
मकरांशस्य चान्त्ये दश नाडिका उष्णाशिखाऽऽख्या भवन्ति ।
तास्सर्वेषु शुभकार्येष्वविशेषेण त्यजेत् ।

उक्तं च—

अंशार्धवास्विष्वाहिरन्ध्रपङ्क्तिः

नाडीस्त्यजेदुष्णाशिखाः क्रमेण ।

भौमारसौरार्णशरार्णवेषु

सर्वत्र विद्यात् वसुवर्ज्यमन्यम् ॥

इति । गण्डदोषमाह—

ऋक्षात्सूर्यात्मजाक्रान्ताद्विंशं गण्डं प्रचक्षते ।

द्विचत्वारिंशदित्युक्ताः दोषास्त्याज्याश्शुभेष्वमी ॥

शनैश्चराक्रान्ताद्विंशं नक्षत्रं गण्डं नाम वदन्ति, इत्युक्ता अमी
द्विचत्वारिंशदोषाः शुभेषु कर्मस्वविशेषेण सर्वेषु त्याज्या भवन्ति ।
सामान्याभिधानात् एषां प्राधान्येनेयत्ता निर्देशः ।

एवं सामान्यदोषानभिधायाथ कर्तृकर्मविशेषेण कांश्चिद्दोषानाह—

कर्तृजन्मादिकास्तारकाः कीर्तिता

जन्मसंपद्विपत्क्षेमकृत्प्रत्यरः ।

साधकोऽथो वधो मैत्रमन्यत्परं मैत्र-

मित्येवमन्याः पुनश्च क्रमात् ॥ ३९ ॥

कर्तुः पुरुषस्य योषितोऽन्यस्य वा जन्मक्षीद्यास्तारकाः
क्रमात् जन्मादिसंज्ञास्त्युः । प्रादुर्भावकाले यत्र नक्षत्रे चन्द्रास्ति-
ष्ठति तद्वक्षं जन्मक्षं, तस्माद्दशमं कर्मक्षं, एकोनविंशमाधानक्षं,
एतानि त्रीणि जन्मसंज्ञानि ।

तथा च भरद्वाजः—

गर्भस्थोदव (?) नक्षत्राद्दशमे तु मे ।
तस्मात्तद्दशमे वा तत्सम्मितं जन्मसंज्ञितम् ।
एकोनविंशं नक्षत्रं गर्भाधानमिति स्मृतम् ।

इति । तेभ्यो द्वितीयादीनि संपदादिनक्षत्राणि, तथा च—

जन्मसंपद्विपत् क्षेमप्रत्यरस्ताधको वधः ।
मैत्रं परममैत्रं च जन्म चेति पुनःपुनः ॥ इति ।

**जन्मविपत्प्रत्यरवधजन्माष्टमराशितारकास्त्या-
ज्याः । साष्टमगृहाः शुभेषु त्यजन्ति षष्ठव्ययौ
चान्ये ॥ ४० ॥**

शुभकर्मसु त्रिजन्मानि—विपत्प्रत्यरवधक्षाणि प्रथमजन्मक्षं
दष्टमराशेः संबन्धिन्यस्तारकाश्च जन्मविलग्नार्म्यामष्टमराशिना सह
त्याज्यास्त्युः ।

आत्रिः—

कर्तुश्चन्द्राष्टवैनाशविपदः प्रत्यरं वधं ।
जन्मान्याद्यस्य पूर्वक्षं सर्वकर्मसु वर्जयेत् ।

इति । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन सप्तविंशं नक्षत्रं कैश्चित् त्यज्यते ।

तथा च विधिरत्ने—

त्यजेदत्र त्रिजन्मानि प्रत्यरं वधसंज्ञितम् ।
चन्द्राष्टमविनाशार्क्षं सप्तविंशतिभं तथा ।
अन्येषु शुभकार्येषु विपदा सहितानि तु ।
वर्ज्यान्वन्यानि शेषाणि शुभदानि शुभेषु च ॥

इति । भरद्वाजेन तु जन्माशिनामन्वर्थाभिधानेन तत्फलं दर्शितम्—

नरस्य जन्मनक्षत्रे संप्राप्ते तु तदा बुधैः ।
जन्म संचिन्त्य वक्तव्यं देहस्थस्य यथाविधि ।
व्यापदं कुरुते यस्मात् विपत्तादिति संज्ञितम् ।
कार्याणां प्रतिषेधत्वात् प्रत्यरं चेति चोच्यते ।
निधनं हि भवेद्यस्मात् सप्तमं वधसंज्ञितम् ।
तस्मादेतानि यत्नेन वर्जयेन्नैव योजयेत् ।
संपत्करेण यत्कर्म सर्वास्तत्र हि संपदः ।
क्षेमेण तु कृतं कर्म क्षेममारोग्यमावहेत् ।
साधके साधयेदर्थानश्रमेणाचिरादपि ।
मैत्रे मित्रसमं प्रीतिं कुर्यात्कार्यं फलोदयम् ।
मैत्रं परममासाद्य यत्कार्यं कुरुते नरः ।
तत्कार्यं सुकरं तस्य सिध्यते नात्र संशयः ॥

इति । अष्टमचन्द्रग्रहणमुपलक्षणमानिष्टस्थानानिविष्टानां शिष्टानां ग्रहा-
णामिति केचित् ।

तथाचात्रिः—

सर्वान् लग्नान्त्यरन्त्रस्थान् वर्जयेत्कर्तृलग्नयोः ।
विशेषात्तूचम्बुखेषु ज्ञं त्यजेत् षड्भ्रातृकं गुरुम् ।
स्त्रीधनान्त्ये कुजं कामे भृगुं रन्ध्रे विधुं तथा ।

इति । नैतदाचार्यस्याभिमतम् । यस्मादसावष्टमराशिताराणां त्याज्य-
त्वमभिधत्ते नाष्टमचन्द्रस्य । तथा चन्द्रग्रहणमुपलक्षणं स्यान्न तारा-
ग्रहणमिति ।

तथा हि—सर्वकार्येषु चन्द्रबलमेवावश्यं ग्राह्यं । तथाऽऽह
नारदः—

सर्वत्र प्रथमं लग्ने कर्तुश्चन्द्रबलं ततः ।

कल्प्यं यदीन्दौ बलिनि सत्यन्ये बलिनो ग्रहाः ।

इति । किञ्च चन्द्रबलं सर्वत्र प्रधानं । तदन्यबलं कचिदेव ।

तथा च रल्लः—

गुरुर्विवाहे गमने च शुक्रो

ज्ञाने बुधो दीक्षणके च सौरिः ।

रणेषु भौमो नृपदर्शनेऽर्कः

सर्वेषु कार्येषु शशी बलाढ्यः ॥

इति । ननु चन्द्रबलस्य प्राधान्ये तदन्यबलानामौपसर्जन्यमास्त्विति,
तच्च परस्तात्प्रतिपिपादयिषितमितीह नोपलक्षितम् । अन्ये जन्मराशेः
षष्ठ्ययौ च त्यजन्ति ।

तथा भरद्वाजः—

ओजा श्रेष्ठतमास्सर्वे नेष्टाष्षष्ठान्त्यनैधनाः ।

शेषाश्च मध्यमाः प्रोक्ताः राशयस्सर्वकर्मसु ।

इति । केचित् जन्मलग्ने च त्याज्ये ग्राहुः ।

तथा च नारदः—

जन्मराश्युद्गमेनैव जन्मलग्नोदयेऽशुभं ।

तयोरुपचयस्थानं यदि लग्नगतं शुभम् ।

इति । अष्टमराश्यंशोऽपि त्याज्य इत्यन्ये । तथा विवाहप्रकरणे
स एवाऽऽह—

दम्पत्योरष्टमं लग्नं राशिर्वा यदि लग्नगः ।
अर्थहानिस्तथोर्यस्मात् तदंशं स्वामिनं त्यजेत् ।

इति । एषां व्यवस्था दर्शिता सर्वसिन्धौ—
पापेशोऽष्टमराश्यंशो वर्ज्यस्तद्वृषांशकः ।
जन्मलग्ने शुभे क्षौरे मध्ये वर्ज्योऽष्टमस्तथोः ।

इति । वैनाशिकमाह—

अष्टाशीतितमोऽंशो यस्मिन् जन्मादिगणनया
भवति । वैनाशिकं तदृक्षं त्यजन्ति केचित् तमे-
वांशम् ॥ ४१ ॥

यस्मिन्नंशे जन्म तस्मादारभ्य तदादिगणनया अष्टाशीतितमो
नवांशको यस्मिन्नक्षत्रे द्वाविंशे त्रयोविंशे वा भवति तन्नक्षत्रं वैनाशिकं-
विनाशकारि ।

तथा च भरद्वाजः—

द्वाविंशे वा त्रयोविंशे त्वष्टाशीत्यंशको भवेत् ।
वैनाशिकं तु तज्ज्ञेयं नक्षत्रमिति तच्छ्रुतिः ।
विनाशं कुरुते यस्मात् तस्माद्वैनाशिकं भवेत् ।

इति । तद्गं शुभेषु त्यजन्ति—
केचित् तमष्टाशीतितममंशमेव त्यजन्ति ।

तथा च गुरुः—

वैनाशिकाऽऽख्ये नक्षत्रेऽप्यष्टाशीत्यंशकं विना ।

शिष्टांशाः शुभदास्सर्वे जन्मनीन्दुगतांशतः ।

इति । अत्र द्वाविंशस्य त्रयोविंशस्य वैनाशिकस्य वैनाशिकत्वानव-
धारणादनभिधानम् । तदवधारणस्यांशनिबन्धनत्वात्तदभिधानम् ।

किञ्चाऽऽचार्यस्येदमत्राभिमतम्—अपवादाभावे नक्षत्रमेव त्याज्यं,
सत्यपवादोऽश एवेति । अन्ये मानसादीनामुपलक्षणमिदमित्याहुः ।

तथा च नारदः—

जन्मर्क्षाद्दशमं कर्म सङ्घातर्क्षं तु षोडशम् ।

अष्टादशं सामुदायं त्रयोविंशं विनाशमं ।

मानसं पञ्चविंशर्क्षं तस्मादिषु शुभं त्यजेत् ।

इति । आचार्येणोपसर्जनानीति नोक्तानि ।

एकार्गळमाह—

संप्राप्ते परिधादियोगनवके पैत्राहिपुष्यादिति-
त्वाष्ट्रेभ्योऽश्विमतस्तुषारकिरणान्मूलाच्च मैत्रादपि ।
प्राक् पश्चाच्च यथाक्रमं विगणिते तारागणे संख्य-
या चन्द्रार्काश्रिततारके यदि समे दोषोऽयमे-
कार्गळः ॥ ४२ ॥

परिधादिषु निन्द्यतयाऽभिहितेषु नित्ययोगेषु नवस्वेकस्मिन्
प्राप्ते; मखादिस्वोक्तभादारभ्य प्राक् पश्चात् क्रमोत्क्रमाभ्यां गणिते
सति भगणे चन्द्रार्काक्रान्तनक्षत्रे यदि समसंख्ये स्तः तदैकार्गळो
नाम दोषस्त्यात् । प्राचीमृज्वीमेकां रेखां तद्वेदिनीस्त्रयोदश तिरश्ची-
रालिख्य ऋजुरेखाग्रे मखादिभानि विन्यस्य तदन्यानि षड्विंशतिभानि
क्रमेण तेषु चन्द्रार्कौ स्वाक्रान्तर्क्षयोर्विन्यसेत् । तत्रार्केन्दू यद्युभावे-
करेखारूढौ स्तः तदैकार्गळो दोषः ।

तथा च श्रीपतिः—

एकामूर्ध्वगतां त्रयोदश तथा तिर्यग्गताः स्थापये-
 द्रेखाश्चक्रमिदं बुधैराभिहितं खार्जूरिकं तत्र तु ।
 व्याघातादिषु मूर्ध्नि भं च कथितं तत्तैकरेखास्थयो-
 स्मूर्याचन्द्रमसोर्मिथो निगदितो दृक्पात एकार्गळः ।
 व्याघातशूलपरिघव्यतिपातपूर्व-
 गण्डातिगण्डकुलिशेषु सवैधृतेषु ।
 आदित्यचन्द्रपितृसर्पपदस्त्रमूल-
 मैत्राण्यतिथ्यसुरवर्धाकिभानि मूर्ध्नि ।
 दिनकरहिमरश्म्योदृष्टिसंपातजन्मा
 भवति विकृतमूर्तिः कोऽपि रौद्रो मनुष्यः ।
 पतति भुवनमध्ये मङ्गलानां विनष्टचै
 ज्वलनकपिलदृष्ट्या निर्देहन्या जगन्ति ॥

इति । शून्यान्याह—

कुम्भान्त्यवृषवीणाजस्त्रिकीटवणिगश्चिवनः ।

कर्की मृगमृगेन्द्रौ च चैत्रादौ शून्यराशयः ॥ ४३ ॥

चैत्रादिमासेषु कुम्भादयश्शून्या भवन्ति । स्त्री-कन्या, वणिक्-
 तुला, अश्वी-धनुः, मृगेन्द्रः-सिंहः, ।

अन्न गुरुः—

चैत्रे कुम्भस्तदा वज्र्यो वैशाखे मत्स्य एव च ।
 ज्येष्ठे वृषो यमश्शुच्यां मेषं नभसि वर्जयेत् ।
 नभस्ये कन्यका वज्र्या वृषे वृश्चिक एव च ।
 ऊर्जे तु तौलिको वज्र्यस्सह चापं तथा विषम् ।

सहस्ये कर्कटो वर्ज्यो नक्रं तपसि वर्जयेत् ।
 तपस्ये तु हरिर्वर्ज्यो राशयो विषवत् शुभे ।
 अतिशून्यकरा ज्ञेया मासिमास्यखिले त्वमी ।
 एषु यच्छुभदं कर्म कृतं तत्सर्वनाशनम् ॥

काद्ये विश्वार्यचित्रापवनभमदिति भाग्यवस्वृ-
 क्षके वार्विश्वर्क्षे वारुणान्त्ये शरकृतिमितिभं
 सोमपित्रयाग्निपुष्याः । ¹षड्विंशैन्द्राग्रमित्रा र-
 वितुरगशिवा विष्णुमूले यमेन्दू शून्यास्ताराः
 क्रमेण त्यजतु पदमिता मास्सु चैत्रादिकेषु ॥४४॥
 इति ।

कः—ब्रह्म । आर्यो—बृहस्पतिः । वाः—वारि । शरकृतिः—
 पञ्चावैशतिः । चैत्रादिषु मासेषु काद्य इत्यादिषु क्रमेण पदमिताः
 सुबन्तैकैकपरिच्छिन्ना एकद्वाः त्रिचतस्रो वा ताराः शून्यास्त्यजतु
 शुभकर्मसु त्यजेदित्यर्थः । विध्यर्थे लोट् ।

एतदुक्तं भवति गुरुणा—

रोहिणी चाश्विनी चैत्रे शून्यभे परिकीर्तिते ।
 वैशाखे त्वष्ट्रावायव्यवैश्वतिष्यास्तु शून्यभाः ।
 मासि ज्येष्ठे तथाऽऽदित्यमाषाढे भगवासवौ ।
 श्रावणे वैश्वतत्पूर्वनभस्ये पौष्णवारुणे ।
 अजैकपादिषे नेष्टं पूषेन्द्राग्रमखाः परे ।
 सहे विशाखा मैत्रं च भाद्रपदादं तथोत्तरम् ।

¹ बुधवैश्वैन्द्राग्रमित्राः प्रथमरवीति ॥ पा ॥

सहस्येऽश्विकराद्वास्स्युर्हरिर्मूले तपस्यसत् ।
तपस्ये भरणी शक्रे शून्यभान्याहुरग्रजाः ।
शून्यभेषु तु यत्कर्म तत्सर्वं नाशतां व्रजेत् ।
कर्त्रा सह कुलेनैव धनेन महताऽपि च ।

इति । रविभुजगशिवानिति केषां चित्पाठः

तथा चात्रिः—

शून्यास्तिप्येऽहिरुद्रार्काः कर्कटं सितसप्तमी ॥

इति । केचिन्मेषादिसौरमासेषु शून्यान्येतान्याहुः ।

तथा च विधिरत्ने—

चैत्रे वाजिप्रजेशौ वृषभयुजि रवौ जीवविश्वेन्दुवायू-
नदित्यं वै तृतीये भगमपि वसुभं तच्चतुर्थे च शून्यं ।

श्रावण्यां चाऽऽप्यमूले युवातियुजि भगे वारुणं पौष्णमाहु-
श्रेषे चाजैकपादं शशिगुरुपितृखान्यष्टमे शून्यमग्निम् ।

ऐन्द्राग्रमैत्रे नवमेऽप्युपान्त्यं

सार्पं च हस्तं दशमे सरौद्रं ।

मूलं च विष्णुं मघमासि शून्यम्

ज्येष्ठां च याम्यं त्यज फाल्गुने च ॥

इति । 'इह श्रावण्यां चाऽऽप्यमूले इति' । विधिरत्नेनोक्तमनादरणीयम् ।

प्राक्तनैस्तथाऽनभिवानात् ।

भरद्वाजश्च—

आषाढसंज्ञे नभासि त्यजेच्च

नभस्यमासे वरुणं च पौष्णम् ॥

इति । शून्यतिथिराह—

षड्बाणार्ककुलाद्रिपङ्क्त्युदधिदिग्धात्रीमहेशा-
चलक्षोणीलोचनपावकाष्टनवसंख्यातेषु मासेष्व-
पि । शून्याख्याः प्रथमादिकाश्च तिथयः पक्षे
सिते कीर्तिताः त्याज्याः पञ्चदश क्रमेण खलु ताः
कृष्णे द्वितीयादयः ॥ ४५ ॥

कुलाद्वयः—सप्त, पङ्क्तिः—दश, उदधयः—चत्वारः, षडादिप्रो-
क्तसंख्यातेषु मासेष्वपि शून्याख्यासम्मितेषु मासेषु भाद्रपदादिषु
पञ्चदशसु शुक्ले क्रमेण प्रतिपदाद्याः पूर्णिमान्ताः पञ्चदश, कृष्णे
तु द्वितीयाद्याः दशान्ताश्चतुर्दश, कृष्णप्रतिपदा सह पञ्चदश तिथयः
शून्याख्याः शुभकर्मसु त्याज्याः । एतदुक्तं भवति गुरुवचनेन—

प्रथमा च द्वितीया च सिते कृष्णे नभस्यके

द्वितीया च तृतीया च श्रावणे सितकृष्णयोः ।

फाल्गुने सितकृष्णाख्ये तृतीया च चतुर्थ्यपि

इषे सितेतरे पक्षे चतुर्थी पञ्चमी क्रमात् ॥

सितेतरे तपस्ये तु पञ्चमी षष्ठ्यसत्क्रमात्

शुक्लौ सितेतरे पक्षे षष्ठी सप्तम्यसत्प्रदे ।

पौषे पूर्वे च कृष्णे च सप्तम्यष्टम्यसत्प्रदे ।

चैत्रे पक्षे सिते कृष्णे अष्टमी नवमी न सत्

माघे सप्तम्यष्टमी पक्षे सितेऽथ दशमी परे

श्वेते कृष्णेऽप्याश्वयुजे दशम्येकादशी न सत् ।

मघौ पूर्वे परे पक्षे न सदेकादशी परा

माघवे सितकृष्णाख्ये द्वादशी च तयोदशी ।
त्रयोदशी सिते ज्येष्ठे कृष्णे चासच्चतुर्दशी ।
ऊर्जे चतुर्दशी श्वेते कृष्णे पञ्चदशी न सत्
पौर्णमासी कुहूश्चैव सहे द्वे प्रतिपन्न सन् ।
तिथयो मासशून्याख्याः शुभकर्मविनाशनाः
एषु पित्राणां कुर्वीत कर्माण्यात्महितेच्छया ॥ इति ।

षड्वाणार्ककुलाद्रिपङ्क्त्युदधिदिकक्षोणीति केषांचित्पाठः । सोऽ-
नादरणीयः । यस्मादत्रिः—

शून्यं यमेन्द्रौ सिंहोऽन्त्ये तृतीया पञ्चमी सिते ॥
इति । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तथाहि—मेषचापादिमासेषु द्वन्द्वेषु
केचिद्वितीयादियुग्मतिथीनां दग्धत्वमाहुः । तथाच रल्लः—

झषधनुषोर्वृषवटयोः कर्करज्योर्मिथुनकन्ययोरर्के ।
हरिकोप्योर्मृगवणिजोर्दग्धाश्चैकान्तरा द्वितीयाद्याः ॥

इति । केचित् पञ्चम्यादिपूर्णात्रयवर्जितानां प्रतिपदादिद्वादशतिथीनां
तत्पूर्णात्रयपादानां द्वादशानां च क्रमेण मेषादिराशिषु क्रूराक्रान्तेषु
दग्धत्वमाहुः । तथा स एव—

मेषाद्यानामाद्याश्चत्वारः पञ्चमी चतुर्णां च
परतः परतोऽन्येषां न शुभा स क्रूराशितिथिः ॥

इति । आश्वयुजादिषु शुक्लसप्तम्यादयो मन्वादितिथय इति ।
कार्तिकादिषु युगादितिथय इति कैश्चिन्निन्दिताः । तथाच श्रीपतिः—

आश्वयुजशुक्लनवमी द्वादश्यूर्जे मघौ तृतीया च ।
भाद्रपदेऽपि तृतीया श्रावणमासे त्वमावास्या ॥

एकादशी च पौषे शुचिसितदशमी च सप्तमी माघे ।
 बहुलाष्टमी नभस्येऽप्याषाढे कार्तिके पूर्णा ॥
 फाल्गुनासितपञ्चदशी चैत्री ज्येष्ठस्य पौर्णमासी च ।
 मन्वन्तरादय इमाश्चतुर्दशोक्ता बुधैः पुण्याः ॥

इति । अत्रिः—

कार्तिके नवमी शुक्ला तृतीया माघवेऽमला ।
 माघे दशो नभस्येऽन्त्या त्रयोदशोर्युगादयः
 आसु श्राद्धं शुभं दत्तं स्नातमक्षयमेति च ॥

इति । शून्यमासमाह—

पौषो मासश्शून्य इति कैश्चित् देशेषु केषुचित् ।
 वर्ज्यते शुभकार्येषु विवाहेषु विशेषतः ॥ ४६ ॥

पौषो मास इति धनुस्स्थेऽर्के शुक्लप्रतिपदमारभ्य मकरस्थेऽर्के
 दशविंशानश्चान्द्रो मास इत्युच्यते । तथाच भरद्वाजः—

मीनगे स्यात् सिनीवाली सूर्ये वै मेषगे कुहूः ।
 स चैत्र इति विज्ञेयो मासो वर्षादिसंभवः ।
 वैशाखो मेषवृषयोरेवं मासाः क्रमेण तु ।
 राश्यो राश्योस्तु विज्ञेया भास्करस्य प्रवर्तनात् ॥

इति । अन्ये त्वाहुः—

यस्मिन् मासे पौर्णमासी पुष्ययुक्ता स पौष इति ।

तथाचामरः—

पुष्ययुक्ता पौर्णमासी पौषी मासे तु यत्र सा ।
 नाम्ना स पौषो माषाद्यास्त्वेवमेकोदशापरे ॥ इति ।

केषु चित्—कर्णाटककोसलादिषु देशेषु पौषमासशून्य इति शुभकार्येषु विवाहाद्युपनयनादिषु कैश्चिद्वर्ज्यते । कैश्चित् पौषो न शून्य इत्युपनयनादिषु गृह्यते । विवाहादिषु ब्राह्मादिषु विशेषतो नियमात् बहुभिर्वर्ज्यते । अन्येषु शुभकार्येषु कैश्चिद्देशाचारेण वर्ज्यते कैश्चिन्नेत्यनियमः । तस्मान्नायं सर्वत्र शून्य इष्यते ॥

अथ दग्धादिभान्याह—

ग्रहैरनिन्दिन्दुजभार्गवैर्य-

न्मुक्तं च युक्तं च यियासितं च ।

क्रमेण दग्धं ज्वलितं तदृक्षं

धूमायमानं च शुभेषु जह्यात् ॥ ४७ ॥

ग्रहैः चन्द्रबुधशुक्रेभ्योऽन्यैः यन्नक्षत्रं मुक्तं मुक्तोज्झितं तद्दग्धं, यद्युक्तं भुज्यमानं तत् ज्वलितं, यत् यियासितं तद्धूमायमानमिति त्रीणि नक्षत्राणि शुभेषु वर्जयेत् । अत्र भरद्वाजः—

ग्रहैर्युक्तं च मुक्तं च काङ्क्षितं चेति भत्रयम् ।

गर्हितं तु तदा ज्ञेयं सर्वारम्भेषु नित्यशः ॥

इति । इदं सामान्यम्, विशेषो ब्रह्मयामळ उक्तः—

नक्षत्रं क्रूरसंयुक्तं विद्यादालिङ्गितं प्रिये

क्रूरमुक्तं भवेद्दग्धं तदग्रस्थं विधूमितम् ।

दग्धेन मरणं विद्यात् ज्वालितेन कुलक्षयः

धूमिते भङ्गमायाति तस्मात्त्रीणि त्यजेत् सदा ॥

विवाहे विधवात्वं च गमने न निवर्तते

कृषयो निष्फलास्सर्वा वापितं न प्ररोहति ।

यत्किञ्चित्क्रियते कर्म तत्सर्वं निष्फलं भवेत् ॥ इति ।

स्यादेतत्—यदि क्रूरमुक्तमेव दग्धं; तत्कथं जीवत्यक्तस्य दग्धत्वं, अथ शुभमुक्तमपि, तत्कथं शुक्रमुक्तस्य न स्यादिति, सत्यं, ज्ञापकात्सिद्धमित्यभिदध्मः । ज्ञापकं च परस्तादपवादकथनम् । नन्वेवं क्रूरजीवैरिति सुवचं, कुतो ग्रहैरनिन्द्विन्दुजभार्गवैरिति, अत्र ब्रूमः—

बुधस्य पापयोगात् पापत्वे सिद्धे तन्मुक्तस्य दग्धत्वं मा भूदिति । अथापि व्यर्थमनिन्दुग्रहणं, सर्वेषां दग्धत्वादिप्रसङ्गात् । यतस्ताराणामिन्दुसंयोगेनैव व्यवहारप्रसिद्धिः ॥

यथाऽऽह भरद्वाजः—

यद्यन्नक्षत्रमासाद्य शशी यावत्तु तिष्ठति

तावत्तन्नामसंयुक्तं नक्षत्रमिति चक्षते ॥

इति । नैतत्कृष्णे, क्षीणेन्दुसंयोगात् भानां दग्धत्वादि समस्तिवति । अस्तु काममिष्टमेव संपद्यते, यतश्चन्द्रक्षये सर्वकर्माणि वर्ज्यानि । उक्तं हि भरद्वाजेन—

यथा चन्द्रमसो वृद्धिः शुक्रपक्षे कृतं तथा ।

कृष्णपक्षे कृतं तद्वत् क्षीयते न च वर्धते ॥

इति । नायं नियमः, कृष्णेऽपि शुभक्रियाणां विधानात् । तथाहि भरद्वाजः—

शुक्ले वा यदि वा कृष्णे कार्यास्सर्वाश्शुभाक्रियाः ।

शुभैर्बलयुतैर्दृष्टे चन्द्रे क्रूरैर्विवर्जिते ॥

इति । नन्विदं दोषभङ्गकथनं दग्धादिष्वप्यनिवार्यमिति चेत्, नायं दोषभङ्गः, शुक्लकृष्णयोरविशेषकथनात् । तस्मात् कृष्णपक्षस्य वर्ज्यत्वनिवेधायानिन्दुग्रहणमित्यनवद्यम् । ज्वालादियोगानाह—

भौमात् भूपनगाब्धितत्वमनवो ज्वाला गुरोर-
ङ्गं व्याधिस्सोमजतोऽष्टसङ्कृतिधृतीराहुर्महा-
कण्टकम् । पातात्पञ्चममीश्वराश्च परिधं शुक्राच्च
तिथ्यद्रयो द्वेषस्सूर्यसुताद्वशर्तुकृतयः खण्डस्मृतः
पण्डितैः ॥ ४८ ॥

भौमाक्रान्तनक्षत्रात् षोडशसप्तमचतुर्थपञ्चविंशचतुर्दशानि पञ्च-
क्षाणि ज्वालासंज्ञानि । गुरोर्नवमं व्याधिः, बुधादष्टमचतुर्विंशाष्टादशानि
त्रीणि महाकण्टकसंज्ञानि । राहोः पञ्चमैकादशे परिध्याख्ये । शुक्रात्
पञ्चदशसप्तमे द्वे द्वेषाख्ये । शनेर्दशमषष्ठविंशानि त्रीणि खण्ड-
संज्ञानि ॥ अत्राऽऽहुः—

सप्तमं षोडशं भौमात् पञ्चविंशं चतुर्दशम् ।
चतुर्थं च भवेज्ज्वाला द्वेषश्शुक्राच्च सप्तमम् ।
पञ्चदशं शनेर्दग्धं षष्ठैकादशविंशत्यम् ।
पातात्तूयोदशं दण्डं पञ्चमैकादशं त्यजेत् ।

अत्र गुरुः—

ऋक्षात्सौम्ययुतादष्टधृतिजैने निशाकरे
महाकण्टकनामेद दोषत्रयमनिष्टकृत् ।
बृहस्पतियुतादृशान्नवमोऽऽपि गदाऽऽह्वयः
शुक्राच्च दशमो रोगः शनेरेकादशो यमः ॥
राहोस्त्रयोदशो गर्ह्यः केतोः पञ्चदशो गरः ।
एषु सर्वेषु दोषेषु शुभानि परिवर्जयेत् ॥

इति । मासानाह—

सौरौ राशिषु सूर्यसङ्क्रमणतश्चान्द्रस्तु दर्शान्ति-

को विज्ञेयस्सितपक्षपक्षतिमुखाश्चैशदिनस्सावनः ।
नाक्षत्रशशिभण्डलादिति मता मासाश्चतुर्धा
क्रमादन्त्येऽहस्रयमाद्ययोश्चरमयोर्द्विपञ्चनाडीस्त्य-
जेत् ॥ ४९ ॥

मेषादिराशिषु सूर्यस्य सङ्क्रमात् तत्तत्संज्ञः सौरो मासः ।
यथा—मेषेऽर्के सङ्क्रान्ते मेषो नाम इत्यादि । दर्शस्यान्तोऽवसानं
कं शिरो यस्य स दर्शान्तकः, शुक्लप्रतिपदादिरमावास्यावसान-
श्चान्द्र इत्यर्थः । त्रिंशद्दिनानि परिगणितान्यस्येति त्रिंशद्दिनः त्रिंश-
दहोरात्रपरिमितः सावनः । शशिमण्डलाच्चन्द्रस्य चक्रभ्रमणात्
नाक्षत्रः, इति मासाश्चतुर्धा भवन्ति ॥ तथाऽऽह भरद्वाजः—

चान्द्रो नाक्षत्रिकः सौरस्सावनश्च तथैव च ।

उक्ताश्चतुर्विधा मासा लोकेषु व्यावहारिकाः ।

चान्द्रं तु चन्द्रार्कसमागमाभ्यां नाक्षत्रमाहुश्शशिमण्डलेन ।

सौरं तु राशिं प्रति सूर्यगत्या त्रिंशद्दिनं सावनसंज्ञमार्थाः ॥

इति । मासेषु बहुषु सत्स्वपि चतुर्भिरेव व्यवहार इतीह चतुर्णाम-
भिधानम् । तथा च सूर्यसिद्धान्ते—

ब्राह्मं दिव्यं तथा पित्र्यं प्राजापत्यं च गौरवम् ।

सौरं च सावनं चान्द्रमार्क्षं मासानि वै नव ।

चतुर्भिर्व्यवहारोऽत्र सौरचान्द्रार्क्षसावनैः ।

इति । चतुर्ष्वपि च द्वावेव विशिष्टौ, तथाचोक्तं—

शशिमासश्च सौरश्च द्वौ विज्ञेयौ विशेषतः ।

चान्द्रेण व्यवहारोऽत्र सौरेण सह कर्मसु ॥

इति । तद्वचवहारोऽत्रिणोक्तः—

अभिषेके तु नाक्षत्रं सावनं जननादिषु ।

पिड्ये चान्द्रमसं शस्तं सौरं पूर्वे प्रशस्यते ॥

इति । किंच—

यात्रोद्वाहव्रतक्षौरतिथिवर्षविनिर्णयः ।

पर्ववास्तूपवासादि कृत्स्नं चान्द्रेण गृह्यते ।

सूतकादिपरिच्छेदो दिनमासाब्दपास्तथा ।

वर्षकालावधिश्रैव सावनैरेव गृह्यते ।

गौरवेणापि क्वचिद्वचवहारः, तथाचोक्तं—

गुरुवारेण संभूताः षष्ट्यब्दाः प्रभवादयः ॥

इति ॥ सङ्क्रमानाह—

अर्के स्थिरान् विशति विष्णुपदाभिधानाः

तेभ्यः परांश्च षडशीतिमुखाश्चतस्रः ।

सङ्क्रान्तयस्त्वजमृगास्यतुलाकुळीरान्

ज्ञेयाः क्रमादुदगवाग्विषुवायनाऽऽख्याः ॥ ५० ॥

स्थिरराशीन्—वृषसिंहवृश्चिककुम्भान् अर्के प्रविशति विष्णुप-
दाभिधानाश्चतस्रः सङ्क्रान्तयो भवन्ति । तेभ्यः परानुभयराशीन्
मिथुनकन्याधनुर्मीनान् विशति षडशीतिमुखाख्याः, मेषमकरतुला-
कुळीरान् विशति उदग्दक्षिणविषुवायनाख्याः, मेषतुले विशत्युत्तर-
दक्षिणविषवसंज्ञे, मकरकुळीरौ विशत्युत्तरदक्षिणायनसंज्ञे स्त इत्यर्थः॥
अत्र गुरुः—

स्थिरारख्ये चोभयारख्ये च भानोस्संवेशनं यदा ।

तदा सङ्क्रान्तिनाम स्यात् राशौराशौ विषोपमः ॥

को विज्ञेयस्सितपक्षपक्षतिमुखस्त्रिंशद्दिनस्सावनः ।
 नाक्षत्रशशिभण्डलादिति मता मासाश्चतुर्धा
 क्रमादन्त्येऽहस्यमाद्ययोश्चरमयोर्द्विपञ्चनाडीस्त्य-
 जेत् ॥ ४९ ॥

मेषादिराशिषु सूर्यस्य सङ्क्रमात् तत्तत्संज्ञः सौरो मासः ।
 यथा—मेषेऽर्के सङ्क्रान्ते मेषो नाम इत्यादि । दर्शस्यान्तोऽवसानं
 कं शिरो यस्य स दर्शान्तकः, शुक्लप्रतिपदादिरमावास्यावसान-
 श्चान्द्र इत्यर्थः । त्रिंशद्दिनानि परिगणितान्यस्येति त्रिंशद्दिनः त्रिंश-
 दहोरात्रपरिमितः सावनः । शशिमण्डलाच्चन्द्रस्य चक्रभ्रमणात्
 नाक्षत्रः, इति मासाश्चतुर्धा भवन्ति ॥ तथाऽऽह भरद्वाजः—

चान्द्रो नाक्षत्रिकः सौरस्सावनश्च तथैव च ।

उक्ताश्चतुर्विधा मासा लोकेषु व्यावहारिकाः ।

चान्द्रं तु चन्द्रार्कसमागमाभ्यां नाक्षत्रमाहुःशशिमण्डलेन ।

सौरं तु राशिं प्रति सूर्यगत्या त्रिंशद्दिनं सावनसंज्ञमार्थाः ॥

इति । मासेषु बहुषु सत्स्वपि चतुर्भिरेव व्यवहार इतीह चतुर्णाम-
 भिधानम् । तथा च सूर्यसिद्धान्ते—

ब्राह्मं दिव्यं तथा पित्र्यं प्राजापत्यं च गौरवम् ।

सौरं च सावनं चान्द्रमार्क्षं मासानि वै नव ।

चतुर्भिर्व्यवहारोऽत्र सौरचान्द्रार्क्षसावनैः ।

इति । चतुर्ष्वपि च द्वावेव विशिष्टौ, तथाचोक्तं—

शशिमासश्च सौरश्च द्वौ विज्ञेयौ विशेषतः ।

चान्द्रेण व्यवहारोऽत्र सौरैण सह कर्मसु ॥

इति । तद्वचवहारोऽत्रिणोक्तः—

अभिषेके तु नाक्षत्रं सावनं जननादिषु ।
पिञ्चे चान्द्रमसं शस्तं सौरं पूर्णं प्रशस्यते ॥

इति । किञ्च—

यात्रोद्वाहव्रतक्षौरतिथिवर्षविनिर्णयः ।
पर्ववास्तूपवासादि कृत्स्नं चान्द्रेण गृह्यते ।
सूतकादिपरिच्छेदो दिनमासाब्दपास्तथा ।
वर्षकालावधिश्चैव सावनैरेव गृह्यते ।

गौरवेणापि क्वचिद्वचवहारः, तथाचोक्तं—

गुरुवारेण संभूताः षष्ठ्यब्दाः प्रभवादयः ॥

इति ॥ सङ्क्रमानाह—

अर्के स्थिरान् विशति विष्णुपदाभिधानाः

तेभ्यः परांश्च षडशीतिमुखाश्चतस्रः ।

सङ्क्रान्तयस्त्वजमृगास्यतुलाकुळीरान्

ज्ञेयाः क्रमादुदगवाग्विषुवायनाऽऽख्याः ॥ ५० ॥

स्थिरराशीन्—वृषसिंहवृश्चिककुम्भान् अर्के प्रविशति विष्णुप-
दामधानाश्चतस्रः सङ्क्रान्तयो भवन्ति । तेभ्यः परानुभयराशीन्
मिथुनकन्याधनुर्मीनान् विशति षडशीतिमुखाख्याः, मेषमकरतुला-
कुळीरान् विशति उदग्दक्षिणविषुवायनाख्याः, मेषतुले विशत्युत्तर-
दक्षिणविषवसंज्ञे, मकरकुळीरौ विशत्युत्तरदक्षिणायनसंज्ञे स्त इत्यर्थः॥
अत्र गुरुः—

स्थिराख्ये चोभयाख्ये च भानोस्संवेशनं यदा ।

तदा सङ्क्रान्तिनाम स्यात् राशौराशौ विषोपमः ॥

इति । अत्र श्रीपतिः—

हरिपदं स्थिरमे रविसङ्क्रमं
द्वितनुमे षडशीतिमुखं भवेत् ।
उदगवागयेन मृगकर्किणोः
क्रियतुलाधरयोर्विषुवं स्मृतम् ॥

इति । सङ्क्रान्तिमध्यकालात्पूर्वतः परतश्च षोडश नाडिकाः पुण्य-
कालमाहुः ।

तथाच श्रीपतिः—

पूर्वतश्च परतश्च सङ्क्रमात्
पुण्यकालघटिकास्तु षोडश ॥

इति । केचिदन्यथाऽऽहुः, तथाच ब्रह्मगुप्तः—

मानार्धात् षष्टिगुणात् भुक्तिद्वताम्नाडिकादिलब्धेन ।
राश्यान्तात् प्रागादेः पश्चादन्यत्र सङ्क्रान्तेः ॥
सङ्क्रान्तिपुण्यकालो यल्लब्धं नाडिकादि तु द्विगुणं ।
स्नानजपदानहोमादिकोऽत्र धर्मो विशिष्टफलः ॥
एवं नक्षत्रान्तात् तिथिकरणान्तात् शशिप्रमाणार्धात् ।
षष्टिगुणात् रविशशिनोर्भुक्तचन्तरलब्धघटिकाभिः ॥

इति । गुरुस्त्वाह—

राशौराशौ तु सूर्यस्य प्रवेशसमयो नृणाम् ।
निमेषस्यायुतांशस्स्यात् सोऽप्यस्माभिर्न गण्यते ॥
तथाऽपि समयस्तस्य कथितो ब्रह्मणा स्वयम् ।
तस्योपान्तेऽनुपान्ते च समसप्तार्धनाडिकाः ॥

इति । एष सङ्क्रान्तिकालः कृत्स्नस्तदादिर्मध्योऽन्तो वा पुण्य इत्यत्र व्यवस्था रञ्जेनोक्ता—

मध्ये विषुवति दानं विष्णुपदे दक्षिणायने चादौ ।

षडशीतिमुखेऽतीते तथोदगयने च भूरि फलम् ॥

इति । स्नानश्राद्धादिकर्मणां दिवैवोक्तत्वात् रात्रिसंक्रमे कथमित्यत्रोक्तं—

अर्धरात्रमतिक्रम्य यदा संक्रमते रविः ।

तदा द्वितीये दिवसे स्नानदानादि कारयेत् ।

यद्यर्धरात्र एव स्यात् संपूर्णे संक्रमो रवेः ।

तदा दिनद्वयं पुण्यं स्नानदानजपादिषु ॥

इति । अत्र व्यवस्था नारदेनोक्ता—

अहस्संक्रमणे कृत्स्नमहः पुण्यं प्रकीर्तितम् ।

रात्रौ संक्रमणे भानोः व्यवस्था सर्वसंक्रमे ।

सूर्यास्तमयसन्ध्यायां यदि सौम्यायनं भवेत् ।

तदहः पुण्यकालस्स्यात् परतश्चेत् परेऽहनि ।

सूर्यस्योदयसन्ध्यायां यदि याम्यायनं भवेत् ।

तदोदयाहः पुण्यं स्यात् पूर्वाहः पूर्वतो यदि ।

प्रागर्धरात्रात् पूर्वाहः शिष्टवद्विष्णुपादयोः ।

षडशीतिमुखे चैवं परतश्चेत् परेऽहनि ।

यामवशात् फलमुक्तं रञ्जेन—

पूर्वाह्ने पीड्यते राजा मध्याह्ने च द्विजोत्तमाः ।

अपराह्ने तथा वैश्याः शूद्राश्चास्तमये रवेः ।

प्रदोषे तु पिशाचाश्च अर्धरात्रे तु राक्षसाः ।

अर्धरात्रे व्यतीते तु पीड्यन्ते नटनर्तकाः ।
 उषःकाले तु संप्राप्ते हन्यन्ते ग्रामिणो जनाः ।
 हन्यन्ते व्रतिनस्सर्वे सन्ध्याकाले न संशयः ।

इति । उदग्विषुवस्य नारदेन विशेष उक्तः—

दिवा चेन्मेषसंक्रान्तिरनर्थकलहप्रदा ।
 रात्रौ सुभिक्षमतुलमुदये कलहप्रदा ।

इति । वारवशात् संक्रान्तिनामानि श्रीपतिनोक्तानि—

घोरा रवौ ध्वाङ्क्ष्यमृतद्युतौ च
 संक्रान्तिरारे च महोदरी स्यात् ।
 मन्दाकिनी ज्ञे च गुरौ च मन्दा
 मिश्रा भृगौ राक्षसिकाऽर्कपुत्रे ॥

इति । केचित् नक्षत्रविशेषवशात् घोरादीनाहुः—

उग्रः क्षिप्रचरैर्मित्रघ्रुवमिश्राख्यदारुणैः ।
 ऋक्षैः संक्रान्तिरर्कस्य घोराद्या क्रमशो भवेत् ।

इति । तत्फलं चोक्तं भरद्वाजेन—

जनो नन्दति मन्दायां मन्दाकिन्यां रसक्षयः ।
 ध्वाङ्क्ष्यां प्रभूतसलिलं घोरायां शस्त्रजं भयम् ॥
 महोदरी च राजघ्नी राक्षसी चाप्यनिष्टकृत् ।
 मिश्रा विमिश्रा फलदा सङ्क्रान्तीनां फलं स्मृतम् ॥

इति । तिथ्यर्धविशेषाच्च फलमुक्तम्—

किंस्तुघ्नकौलवचतुष्पदनागपक्षि-
 ष्वेतेषु तिष्ठति सुभिक्षकदंशुमाली ।

मातङ्गगर्दभकयोश्शयितोऽर्वाहानि
कुर्यान्निविष्ट इतरेषु समं विधत्ते ॥

इति । रज्जुस्त्वाह—

नागे चतुष्पदे तैतिले च शयितस्य सङ्क्रमो भानोः ।
सङ्क्रमणमुत्थितस्य तु शकुने किंस्तुघ्नकौलवयोः ।
विष्टिवववणिजबालवगरेषु भानोर्भवेन्निविष्टस्य ।
वृष्ट्यर्घ्यादेरेवं क्रमशोऽनिष्टेष्टमध्यमता ॥

इति । जन्मादितारावशात् फलमुक्तं नारदेन—

सङ्क्रान्तौ ग्रहणर्क्षं वा जन्मन्युभयपार्श्वयोः ।
नेष्टं ततर्ष्वद्रुमु शुभं पर्यायाच्च पुनःपुनः ।
हानिर्वृद्धिः स्थानहानिस्तत्प्रार्सिर्भीरभीः क्रमात् ॥

इति । सङ्क्रान्तिदोषे तत्परिहारश्रोक्तः ।

तिलोपरि लिखेच्चक्रं तत्तिकोणं त्रिशूलकम् ।
तत्र हेम विनिसिष्य दद्याद्दोषापनुत्तये ॥

इति । अत्र हर्वाणि चोक्तानि—

अन्नं च पायसं भक्ष्यमपूपं च पयो दधि ।
चित्रान्नगुडमध्वाज्यशर्करा भवतो(?) हविः ॥
तिलान् काञ्चनशूलं च नववस्त्रं च दक्षिणाम् ।
संक्रान्तिदोषसंभूतदोषनाशय दापयेत् ॥

तन्मन्त्रं चाऽऽहुः—

सर्वग्रहर्क्षतारेश सर्वेश त्वं हिं भास्कर ।
संक्रान्तिशूलदोषं मे निवारय दिवाकर ॥

इति । हेमाद्रौ—

तत्र क्रूरसमायुक्ते चाशुभं जायते ध्रुवम् ।
शुभग्रहयुते शूले त्वशुभत्वं न विद्यते ॥
षट्के क्रूरसमायुक्ते सत्फलं च न विद्यते ।

इति । तत्रैव शुभचन्द्रताराबलवशात् शुभाशुभं वाच्यमित्युक्तं नारदेन—
यादृशेनेन्दुना भानोस्सङ्क्रान्तिस्तादृशं फलम् ।
ततः प्राप्नोति तद्वाशौ शीतांशोस्साध्वसाधु तत् ।
ताराबलेन शीतांशुः तद्वलाद्वलवान् रविः ।
बली सङ्क्रममाणस्तद्वलात् खेटा बलान्विताः ॥

इति । इह केचिदयनांशसहितस्यैवार्कस्य राश्यन्तरसङ्क्रमात् सङ्क्रान्तिमाहुः । तथाच श्रीपतिः—

यावद्भिरंशैरयनच्युतिस्स्यात्
तद्भागकालेन दिवाकरस्य ।
च्युतिर्भवेद्विष्णुपदादिकानां
ग्रहस्येतन्मुनिभिः प्रदिष्टम् ॥

इति । नन्वत्र कथमयन(चलनां)शैर्कस्य विष्णुपदादिसङ्क्रमाणां च्युतिरभिधीयते, तत्रैव तेषां दृक्साम्यसंभवादिति चेत्, स काममस्तु, (?) को दोषः । तत्पातकालसंख्या चाप्यत्रोक्ता—

उदगयने शतदिवसा याम्ये त्वयने चतुष्षष्टिम्
मेषतुले षोडशभिः शेषा मासा दिनत्रये फलदाः ॥

इति । नारदेन यतो राशौ रवेः प्रवेशः स सङ्क्रम उच्यते । न त्वयननिवृत्त्यादिः । अयनांशैस्तु छायायनयननिवृत्त्यादिस्साध्यते । उक्तं च सूर्यसिद्धान्ते—

तत्संयुक्ताद्रहात्क्रान्तिः छायाचरदलादिकम् ।

स्फुटं दृक्तुल्यतां गच्छेदयने विषुवद्वये ।

इति । तस्मादसारमेतत् । यत्पुनराहुः—

आश्लेषार्धादक्षिणमुत्तरमयनं रवेर्धनिष्ठाद्यम् ॥

इति । तदौत्पातिकं, यस्मात् काश्यपः—

सार्पार्धात् दक्षिणं भानोःश्रविष्ठाद्यं तथोत्तरम् ।

कदाचिदासीदयनमुत्पातं नैव शास्त्रतः ।

इति ।

त्यजन्ति पूर्वं च परं च सङ्क्रमा

दिनानि षट् विष्णुपदात्तथाऽयनात् ।

शुभक्रियायां विषुवात्परं दिनं

परं परेभ्यश्च दिनार्धमुत्सृजेत् ॥ ५१ ॥

विष्णुपदसङ्क्रमदिनादयनसङ्क्रमादिनाच्च पूर्वं च त्रीणि पश्चाच्च

त्रीणि षट् तद्दिनमेकमिति सप्त दिनानि त्यजेत् ॥

तथाच गार्ग्यः—

कृत्तिकायां मखायां च वैशाखे वसुदैवते

अर्कस्योभयपार्श्वस्थं मध्ये सप्तदिनं त्यजेत् ।

इति । भरद्वाजोऽपि—

अयनान्तर्गते सूर्ये त्र्यहं(?)पूर्वमेव तु

त्र्यहं तु निवृत्ते च वर्ज्यास्स्यूष्णडहास्तथा ॥

इति । विषुवसङ्क्रमदिनात्पश्चाद्दिनमेव त्यजेत् । प्राग्दिनत्रयमेव ।

अत्र गुरुः—

पूर्वेऽतीते च विषुवे वर्ज्याषष्टिस्तु नाडिकाः

कालोऽतिपुण्यस्तत्पूर्वं देवानां वा शुभावहः ॥

इति । ननु गुरुणा विषुवात्प्राग्दिनं वर्ज्यमुक्तं, अत्र तु त्रिदिन-
मिति विरुद्धं, नैतदस्ति, गुरुणाऽपि 'मासान्ते तु दिनत्रयम्'
इति सामान्येनाभिधानात् । किञ्च 'कालोऽतिपुण्यस्तत्पूर्वं' इत्यभिदधता
दिनत्रयं दुष्टं तत्र दिनमतिदुष्टं इति विभज्योक्तं भवति । उदग्विषु-
वसङ्क्रमात् पश्चादपि त्रिदिनं त्याज्यमित्याहुः, तथा च गुरुः—

पूर्वेऽतीते च पूर्वस्य दिनत्रयमशोभनम् ॥

इति । आचार्यस्याप्येतदभिमतम्, यस्मात् सौराब्दादौ त्र्यहं परि-
हरोदिति वक्ष्यति । अत्र केचिदेवंमाहुः—विषुवात् प्राक्पश्चाच्च
त्र्यहमिति । तथाच विधिरत्ने—

तुलायां च क्रिये भानोस्संवेशो विषुवं स्मृतम् ।

नवत्यो नाडिका वर्ज्याः पूर्वाश्चैव तथा पराः ॥

इति । नैतत्सारं, प्रागुक्तनिरासात् । षडशीतिमुखसङ्क्रमेभ्यः पश्चाद्दि-
नार्धं त्यजेत् । प्राक् त्र्यहमेव ।

उक्तं च विधिरत्ने—

अन्यराशिषु सङ्क्रान्तेर्भानोः पूर्वापरास्त्यजेत् ।

त्रिंशत्त्रिंशत् नाडीश्च शूलदोषा इति स्मृताः ॥

इति । अब्दानाह —

सौरो रवेर्द्वादशभिस्तु मासै-

श्चान्दैस्तु तैः प्राकृतसंज्ञितोऽन्यः ।

जैवस्तु सूर्याद्विषणोदयादिः
बुधैस्त्रिधेत्यं परिकल्पितोऽब्दः ॥ ५२ ॥

द्वादशभिः सौरमासैरेकसौरौऽब्दः, चान्द्रमासैः प्राकृतोऽब्दः ।
तुशब्दः कदाचिच्चान्द्रैस्त्रयोदशभिर्वैकोऽब्दस्स्यादिति द्योतनार्थः ॥
तथाच श्रूयते—

“द्वादश मासास्संवत्सरः, त्रयोदश मासास्संवत्सरः”

इति च । स चाधिमासाऽऽगमे संभवति । सूर्यात् गुरुदयादि-
नमारभ्य जैवोऽब्दः । इत्थं त्रिधाऽब्दपरिकल्पना ॥ तथाच
भरद्वाजः—

प्राकृताब्दो गुरोरब्दः सौराब्दास्त्रिविधास्समाः
तेषामादौ तथाऽन्ते च त्रयहं वर्जयेच्छुभम् ।
चान्द्रैर्द्वादशभिर्मासैः प्राकृताब्दः प्रकीर्तितः ।
यदा गुरुदयो भानोर्गुरोरब्दस्तदादितः ॥

इति । जैवाब्दस्तूद्यज्जीवस्थितनक्षत्रसंज्ञस्स्यात्, तथाच वराहमिहिरः—

नक्षत्रेण सहोदयमुपगच्छति येन देवपतिमन्त्रि ।
तत्संज्ञो वक्तव्यो वर्षो मासः क्रमेणैव ।

इति । ते तु कार्तिकाद्याः द्वादश, ते पुनः प्रभवाद्याः षष्टिरब्दाः । तेऽपि
बार्हस्पत्यमध्यमराशिभोगसंभवाः । तथा च श्रीपतिः—

इयं हि षाष्टिः परिवत्सराणां
बृहस्पतेर्मध्यमराशिभोगात् ॥

इति । सूर्यसिद्धान्ते—

द्वादशघ्ना गुरोर्याता भगणा वर्तमानकैः ।

राशिभिस्सहिताशुद्धाः षष्ट्या स्युर्विजयादयः ॥

इति । तद्दानयनमुक्तं च श्रीपतिना—

शकेन्द्रकालः पृथगाकृतिघ्नः

शशाङ्कनन्दाऽश्विनयुगैस्समेतः ।

शराद्विवस्विन्दुद्वतस्सलब्धः

षष्ट्याप्तशेषः प्रभवादयोऽब्दाः ॥

इति ।

सप्तान्ते रविवत्सरस्य दिवसांस्तान् पञ्चपञ्चा-
न्ययोः प्रारम्भे दिवसत्रयं परिहरेत् तेषां त्रया-
णामपि । प्रान्तेऽब्दत्रितयस्य पक्षमपरे त्याज्यं
विदुस्सूरयः सप्ताहान्युपरागतोऽथ नृपतिप्राण-
प्रयाणान्तथा ॥ ५३ ॥

सौराब्दस्यान्ते सप्त दिनानि वर्जयेत् । प्राकृतजैवयोरन्ते पञ्च-
पञ्चाहानि । तेषां त्रयाणामप्यब्दानामादौ त्रिदिनं त्यजेत् । अपरे
अब्दत्रयस्यान्ते पञ्चदश दिनानि त्याज्यमित्याहुः । तथाचोक्तं—

घटिकाद्वयमृक्षान्ते मासान्ते तु दिनत्रयम् ।

पक्षान्ते वर्जयेत्पक्षं ग्रहणाद्दिनसप्तकम् ॥

इति । गुरुः—

एषु सर्वेषु कालेषु बहूना दाषसम्भवात् ।

विषतुल्या भवन्त्येते कालास्तेषु शुभास्त्यजेत् ॥

इति । नन्वत्र जैवाब्दस्यान्तयोः जीवबाल्यास्तदोषाभ्यां वर्ज्यत्वे सति पुनर्वर्ज्यत्वाभिधानमनर्थकम्, न, तयोर्मासोक्तकार्येष्ववर्ज्यत्वात् । वर्षाद्यन्तदोषौ तेष्वपि वर्ज्याविति । अथ कुतः प्राकृताब्दान्ते पञ्चाहं वर्ज्यमुक्तं, यस्मात्—

पञ्चम्याः परतः कृष्णे तिथयः परिवर्जिताः ॥

इत्यनेनैवार्थासिद्धिः, नैष नियमः, चन्द्रे प्रबले कृष्णे त्रयोदश्या अपि ग्राह्यत्वात् । अत्र त्रयः कल्पाः—वर्षान्ते वर्जयेत्पक्षं इत्याद्यः । सप्तान्ते रविवत्सरस्येति द्वितीयः । त्र्यहं वर्जयेदिति तृतीयः । तेषु गुणदोषबलाबलं ज्ञात्वा चिकीर्षितकर्मगौरवं चोवेक्ष्य तदनुगुणं योजयेत् । तथाच भरद्वाजः—

गुणदोषांश्च संचिन्त्य मत्वा तेषां बलाबलम् ।

योजयेच्च यथाकालं ज्ञात्वा तत्कर्मगौरवम् ॥

इति । सर्वत्रायमेव न्यायो ग्राह्यः । सूर्येन्द्रोरुपरागतः सप्ताहानि त्यजेत् । अथशब्दोऽत्र मतान्तरद्योतनार्थः । तथाच विधिरत्ने—

चन्द्रसूर्योपरागे तु त्र्यहं पूर्वं शुभं भवेत् ।

सप्ताहमशुभं पश्चात् ग्रहशूलमिति स्मृतम् ॥

इति । अन्ये त्वाहुः—प्राक् त्र्यहं पश्चात्त्र्यहं तद्दिनमेकमिति सप्ताहानीति । तदसत् । यस्मात् गुरुः—

पश्चादेवोपरागेण दोषस्स्यान्नैव पूर्वतः

गृहदाहादयो दोषा यथा स्युर्दहनात् परम् ॥

इति । इह गृहदाहादयो दहनात् प्रागप्रतिपत्तेः परमेव स्युः, उपरागस्तु ग्रहणात् प्रागपि प्रतिपत्तेः न तथेति मन्वानाः केचिद्वचवस्था-माहुः । तथाच नारदः—

उत्पातग्रहणादूर्ध्वं सप्ताहमखिलग्रहे
 नाखिले त्रिदिनं नेष्टं नेष्टं तद्गमृतुत्रयम् ॥
 ग्रस्तास्ते त्रिदिनं पूर्वं पश्चात् ग्रस्तोदये तथा ।
 सन्ध्यायां त्रित्रिदिवसं निश्शेषे सप्तसप्त च ।

इति । नृपतिः—स्वामी, देशाधिपतिर्वा, अस्य प्राणप्रयाणं—निर्याणं—
 मरणं, ततः परं तथा—सप्त दिनानि वज्यानि । इह नृपतिग्रहण-
 मुपलक्षणं, नृपमन्त्र्यादीनां । तथाच गुरुः—

नृपो वा नृपमन्त्री वा दैवज्ञो वा महामतिः ।
 पुरोहितोऽथवा विद्वान् भिषग्वा नृपसेवकः ॥
 यज्वा वा वेदविद्विद्वान् यतिर्वा संयतेन्द्रियः ।
 यत्र देशे मृता ग्रामे सप्ताहं वर्जयेच्छुभम् ॥

इति । नृपादिमरणनिमित्ताशौचसद्भावात् तावद्दिनानि क्रियानर्हत्वा-
 मिधान्ते गुरुज्ञातिबान्धवाद्याशौचेऽपि यावदाशौचदिनं शुभं वर्ज्य-
 मिति सिद्धमेव । यस्मात् यात्रायां नारदोक्तं—

उत्सवोपनयोद्वाहप्रतिष्ठाशौचसूतके ।
 असमाप्तौ न कुर्वीत यात्रां मर्त्यो जिजीविषुः ॥

इति । स्मृतिश्च—

‘नित्यनैमित्तिकानि निर्वर्तेरन्’

‘इति नन्वत्र नृपनिधननिमित्ताशौचमेकाहमेव’ ‘प्रेते राजनि सज्योतिः’
 इति स्मृतेः, कथं सप्ताहमिति, प्रजानामराजकत्वेन मङ्गलासंभवादिति
 ब्रूमः । श्रीदिनान्याह—

क्रमशः सितपक्षपक्षतिप्रमुखा लोचन संयुता-

स्तिथीः । अचलैरपहत्य शिष्यते यदिदं श्रीदिव-
सादि सप्तकम् ॥ ५४ ॥

वर्तमानमासस्य शुक्लप्रतिपदादिगतीर्थाद्वाभ्यां संयोज्य सप्त-
भिरपहत्य यच्छिष्यते—यावद्वशिष्टं तद्वक्ष्यमाणं श्रीदिवसादि दिन
सप्तकं तावत्सङ्ख्यं दिनं भवतीत्यर्थः । तत्रैकस्मिन्नवशिष्टे श्रीदिनं,
द्वयोः कलिदिवसमित्यादि । अत्राऽऽहुः—

तिथिं च त्रिंशता गुण्य द्वाभ्यां च गुणयेत्ततः ।

आहत्य पक्षसङ्ख्याभिर्धरण्या संयुतं पुनः ।

वर्तमानतिथेस्संख्यां संयुज्य गिरिभिर्हरेत् ।

गिरिलब्धफले शेषा योगाः श्रीदिवसादयः ।

इति । एतदेवाचार्येण ध्रुवमनिबन्धेनोक्तं । केचिदन्यथाऽऽहुः—
युगवर्षाणि द्वादशभिर्हत्वा गतमासैः संयोज्य पुनस्त्रिंशता संगुण्य
गततिथिभिः संमिश्र्य त्र्यशीत्युत्तरशतेन छित्वा अवशिष्टेषु षोडशसु
श्रीदिवसः, ततो दशसु कलिदिनमित्यादि । तथाच भरद्वाजः—

दिवसाण्योडश पूर्वं पङ्क्तिः पञ्चादयैकपञ्चाशत् ।

चत्वारिंशच्चैकत्रिंशत् पञ्चैव लोकाष्ट ॥

रूपतुल्यान्युगजातांस्तान(?)तीत्य दिवसगणान् ।

शेषेषूक्तदिनान्ते श्रीदिवसाद्या भवेयुस्ते ॥

ते । एतच्चैकैकस्य कतिपयाहस्स्थायित्वात् मिथो वैषम्याच्चाचार्यस्य
भिमतम् ॥

सप्त दिवसास्स्मृताश्श्रीकलिनन्दनकालकार्णि-
नामानः । जयवधधनार्णवाख्यास्तेषु च विषमा-
श्शुभास्समा न शुभाः ॥ ५५ ॥

अस्य भरद्वाजवाक्यं व्याख्यानं ---

श्रीदिवसः कलिदिवसो नन्दनदिवसश्च कालकर्णी च ।

जयदिवसो वधदिवसो धनदिवसश्चेति सप्तैते ।

इति । सप्तमो धनार्णवदिवसः तेषु सप्तदिनेषु विषमाः कलिदिव-
सादयस्त्रयः कष्टाः । अत्र गुरुः—

श्रीनन्दजयाख्याश्च धनतद्विसेश्वराः ।

योगास्सर्वे समा ह्येते शुभदा बलिनो यदि ॥

इति । एषां शुभाशुभनक्षत्रादियोगेन फलाधिक्यं । तथाच भरद्वाजः—

दिवसे तु तथा प्राप्ते नक्षत्रे च शुभाशुभे ।

द्विगुणं तत्फलं दद्यात् तस्मात्तानुपलक्षयेत् ॥

इति । गुरुशुक्रयोरस्ताद्विपञ्चदोषानाह—

दृश्यौ यदाऽहनि जनैर्व्रजतो यदाऽस्त

मन्योन्यतः स्मरगतौ च यदार्यशुक्रौ ।

कर्माणि तत्र समये न शुभानि कुर्यात्

नैवारभेत शशिजेऽस्तगते च विद्याम् ॥ ५६ ॥

गुरुशुक्रौ यदा अहनि दिवा सूर्यस्यार्धोदयात्परमर्धास्तमया-
द्वर्त्त जनैः पशुपादिभिर्दृश्यौ तदा काले शुभकर्माणि न कुर्यात्, तयो-
र्यावाद्दिनानि दिवा व्योम्नि दृश्यत्वं तावाद्दिनानि शुभं न कार्यमित्यर्थः ।

व्रजतः ; यदा चान्योन्यतः सप्तमभावगतौ स्तः । तस्मिन् काले शुभानि
न कुर्यात् । अत्र गुरुः—

यदा दिवैव दृश्येते जीवशुक्रौ नभस्तले
तयोरन्यतरो वाऽपि स कालो बहुदोषदः ।
ततः प्रभृति सप्ताहमेकाहं शुभनाशनम्
तयोरालोकनं यावत् शुभं तावद्विवर्जयेत् ।
दिवा निदर्शनात् पश्चात् प्रत्यहं सप्तसप्त च
गुरुशुक्रौ यदा मूढं गच्छतो दोषदौ तदा ।
विवाहे विधवा नारी द्विजन्मनि वयोर्मृतिः
चूडाकृते शिशोर्मृत्युः स्थापने देशनाशनं ।
यदा जीवसितौ चक्रे परस्परमुदीक्षितौ
सप्तमस्थौ तदा दोषो मूढत्वादतिरिच्यते ॥

इति । तथा बुधेऽस्तगते विद्यामेव नारभेत, उक्तं च विद्याप्रकरणे
गुरुणा—

‘ शंसन्ति ज्ञेऽध्यनस्तमे ’

इति । विवाहादिकं काममारभेतेत्यवधारणार्थः ।

प्राक्पश्चादुदितं रवेर्भृगुसुतं बालं वदन्ति क्र-
मात् बाणद्वीपदिनानि वृद्धमनयोरस्ते दिनव्य-
त्ययात् । उद्वाहे क्रमशोऽङ्गनापुरुषयोर्हन्ता स एवं
गुरुस्सर्वेषां च तयोश्शिशुस्थविरता विद्वेषिणी क-
र्मणां ॥ ५७ ॥

अस्य भरद्वाजवाक्यं व्याख्यानं —

श्रीदिवसः कलिदिवसो नन्दनदिवसश्च कालकर्णी च ।

जयदिवसो वधादिवसो धनदिवसश्चेति सप्तैते ।

इति । सप्तमो धनार्णवदिवसः तेषु सप्तादिनेषु विषमाः कलिदिव-
सादयस्त्रयः कष्टाः । अत्र गुरुः —

श्रीनन्दजयाख्याश्च धनतद्विवसेश्वराः ।

योगास्सर्वे समा ह्येते शुभदा बलिनो यदि ॥

इति । एषां शुभाशुभनक्षत्रादियोगेन फलाधिक्यं । तथाच भरद्वाजः—

दिवसे तु तथा प्राप्ते नक्षत्रे च शुभाशुभे ।

द्विगुणं तत्फलं दद्यात् तस्मात्तानुपलक्षयेत् ॥

इति । गुरुशुक्रयोरस्ताद्विपश्चदोषानाह—

दृश्यौ यदाऽहनि जनैर्व्रजतो यदाऽस्त

मन्योन्यतः स्मरगतौ च यदार्यशुक्रौ ।

कर्माणि तत्र समये न शुभानि कुर्यात्

नैवारभेत शशिजेऽस्तगते च विद्याम् ॥ ५६ ॥

गुरुशुक्रौ यदा अहनि दिवा सूर्यस्यार्धोदयात्परमर्धास्तमया-
दर्वात् जनैः पशुपादिभिर्दृश्यौ तदा काले शुभकर्माणि न कुर्यात्, तयो-
र्यावाद्दिनानि दिवा व्योम्नि दृश्यत्वं तावाद्दिनानि शुभं न कार्यमित्यर्थः

ननु रात्रिदृश्यानां तारादीनां दिवा दर्शनस्योत्पातत्वात् तस्य

वक्रत्वान्मन्दया गत्या सूर्यविप्रकर्षवशात् प्राच्यां दिश्युर्दितं
दृश्यत्वमापन्नं ; तथा निसर्गात् शीघ्रया गत्या प्रतीच्यां दिशि
दृश्यत्वं प्राप्तं शुक्रं क्रमेण बाणद्वीपदिनानि प्राच्यामुदयदिनोद-
यात् परं पञ्च दिनानि प्रतीच्यामुदयदिनात्परं सप्त दिनानि बालं ।
तथा अनयोः प्राक्प्रतीच्योरन्ते सूर्यसन्निकर्षवशात् दृश्यत्वे सति
दिनव्यत्ययात् वृद्धं वदन्ति, प्राच्यामस्तदिनोदयादर्वाक् सप्त दि-
नानि प्रतीच्यामस्तदिनास्तमयादर्वाक् पञ्च दिनानीत्यर्थः । ब्राह्मा-
दाबुद्धाहे स शुक्रो बालो वधूहन्ता, वृद्धो वरहन्ता, गुरुरप्येवं-शुक्रवत्
बालो वृद्धश्च, तस्य तु वक्रास्तोदयाभावात् प्रच्यामेवोदयः प्रतीच्या-
मेवास्तम् । तत्रोदयदिनोदयात् परं पञ्चदिनानि बाल्यं, अस्तदि-
नास्तमयादर्वाक् पञ्चाहानि वृद्धत्वं । अत्र गुरुः—

प्राक्पश्चादुदितः शुक्रः पञ्चसप्तदिनं शिशुः ।

विपरीतं तयोरस्ते वृद्धस्तद्वत् गुरोरपि ॥

इति । अन्ये त्वन्यथाऽऽहुः । तथाच नारदः—

पश्चात्प्रागुदितः शुक्रो दशत्रिदिवसं शिशुः ।

वृद्धः पञ्चदिनं पक्षं गुरुः पक्षं तु सर्वतः ॥

इति । अन्ये च—

वृद्धश्शुक्रः पतिं हन्ति बालश्शुक्रस्तु योषितं ।

एवमेवामरगुरुः विद्यारम्भे गुरुस्तथा ॥

इति । बुधशुक्रयोः रात्रिसन्दर्शने शुभं कार्यं ।

यथाऽऽह भरद्वाजः—

मूढस्थे तु गुरौ शुके शुभकर्म न कारयेत् ।

यदा सम्यक्प्रदृश्येते आरभेत हि तौ यद्धि ॥

इति । विद्यारम्भे बुधस्यापि बालवृद्धत्वे शुक्रवत् द्रष्टव्ये ।

ननु—

नोत्पातपरित्यक्तः कदाचिदपि चन्द्रजो व्रजत्युदयम् ॥

इति बुधोदये उत्पातश्रूयते, स कथं विद्यारम्भे शस्यत इति, उच्यते—सत्यमुत्पात एव, तथाऽपि तस्य नानेष्टकृत्स्वनियमः, किं तर्हि, सर्वत्र प्रकृत्यन्यत्वमात्रविधिरेव । तथाहि बुधोदये प्राक् वृद्धि-मतां हानिः, हानिमतां वृद्धिः, सुखिनां दुःखं, दुःखिनां सुखं, तस्मात् नायमन्योत्पातसदृश इत्यदोषः ॥ ग्रहवेधमाह—

हरिणाननस्य दशमांशकत-

स्त्यजतु(त) ग्रहान् स्फुटतमानखिलान् ।

अवशिष्टमत्र शुभकर्मणि त-

द्ग्रहवेधदुष्टमिति भं विसृजेत् ॥ ५८ ॥

मकरस्य दशमांशकात् स्फुटांस्तात्कालिकानर्कादिकानष्टौ ग्रहान् विशोध्यत्र यदवशिष्टं नक्षत्रं नत् तस्य ग्रहस्य वेधेन दुष्टमिति यतस्तस्मात् तच्छुभकर्मणि विसृजेत् ।

एतदुक्तं भवति भरद्वाजवाक्येन—

स्थाप्यैकविंशं नक्षत्रं तत्तद्ग्रहगतिं त्यजेत् ।

शिष्टं तद्ग्रहवेधस्स्यात् तत्तच्चारभमादितः ॥

ग्रहवेधयुते चर्क्षे यत्कृतं तद्धिनश्यति ।

क्रूराणां तु हरेत्प्राणान् सौम्यानां कर्मनाशकम् ॥

इति । नन्विहैकविंशनिभेभ्यो ग्रहभुक्तनक्षत्राणि सनाडिकानि विशोध्य-वशिष्टमसङ्ख्यनक्षत्रमाश्विन्यादिकं अविद्धमित्यभ्यघायि, भरद्वाजेन तु

तत्तद्गृहचारक्षादिकमुक्तमिति महद्वैषम्यम्, अत्रोच्यते, नाद्यं, मुनिमतः
विरुद्धत्वात् । नापि द्वितीयं, सर्वत्रैकावशस्य भस्यैव वेधप्रसङ्गात्,
अयमत्रार्थः—मकरस्य दशमांशात् सूयादीन् केवन्तानष्टौ ग्रहान् युग-
पद्विशोध्य शेषे(षो) यावत्संख्यं नक्षत्रं तत्तद्गृहचारक्षात् तावत्संख्यं
तत्तद्गृहविद्धमिति । तथाच गुरुः—

मकरे दशभागेभ्यस्सर्वग्रहगतिं त्यजेत् ।

शिष्टं तद्गृहवेधस्स्यात् तद्गृहस्थर्क्षमादितः ॥

काळरात्रोऽर्कवेधस्स्यात् कुजवेधोऽस्तरात्रकः ।

बुधवेधोऽनुरात्रस्स्यात् गुरुवेधोऽप्यरात्रकः ॥

शुक्रवेधोऽम्रिरात्रस्स्यात् शनिवेधोऽन्त्यरात्रकः ।

राहुवेधो विषाख्यस्स्यात् केतुवेधोऽङ्गरात्रकः ।

ग्रहवेधास्तथा ख्यातास्सर्वरात्रं वदन्त्यसत् ॥

इति । वास्तुनिषिद्धवेधमाह—

धातृश्रीनाथरुद्रानिलरविवरुणाः कालमित्रा-
र्यमाम्भोबुध्न्यार्याश्शक्रपूषाश्वयहिनिर्ऋतिमखा-
स्त्वाष्ट्रवस्वैन्दवानि । भाद्रैन्द्राग्रर्क्षविश्वादितिदहन-
भगाः पञ्चवर्गास्स्युरेषां वर्गं तद्वेधदुष्टं त्यजतु गृह-
विधौ (कृतौ) सग्रहा यत्र ताराः ॥ ५९ ॥

प्राचीः सप्त तिरश्चीः पञ्च रेखाः लिखेत्, चतुर्विंशतिप-
दानि स्युः । तत्प्रात्रेखाप्राणि विषमाणि परस्परसंयोज्यार्धचन्द्रा-
कारं पदत्रयं स्यात् । एवमिदं सप्तविंशतिपदं चक्रं तत्र मरु-
त्कोणादिपदेष्वारोहावरोहक्रमेणाश्विन्यादीनि भानि तेषु तत्स्थग्र-

हांश्च विन्यसेत् । तत्र तिर्यक्पङ्क्तिपञ्चकगतास्ताराः परस्परं विध्य-
न्तीति ता एवाह । चतुर्थपङ्क्तौ रोहिण्याद्याषट्, द्वितीयपङ्क्तौ
भरण्याद्या, आद्यपङ्क्त्यां पूर्वाभद्राद्याषट् ताराः, एवमिमे पञ्चवर्गा-
स्तरागणाः स्युः, एषां मध्ये यद्वर्गतारायां ग्रहस्तिष्ठति स तद्वर्गं
विध्यति, गृहविधौ—वास्तुकर्मणि तन्नक्षत्रगणं त्यजेत् । यथोक्तं—

विधुबिम्बत्रयं न्यस्य दीर्घरेखाश्रतुः क्षिपेत् ।
अश्विन्यादीनि ऋक्षाणि तत्र संस्थापयेत्क्रमात् ॥
ऊर्ध्वाग्रं शुभदं प्रोक्तं तिर्यग्रेखासु निन्दितम् ।
ग्रहस्य चन्द्ररेखायां संस्थितं गृहकर्णिकम् ॥

तत्फलं च—

भानौ राजभयं कुजेऽनलभयं पुत्रक्षयश्चन्द्रजे
जीवे दैत्यगुरौ च हानिरुदिता द्रव्यक्षयस्सूर्यजे ।
रोगं भोगिपतौ च मन्दिरविधौ चन्द्रेण साकं स्थिते
तद्वर्गक्षगते फलं निगमितं केतौ च केचिद्भुजम् ॥

सप्तशलाकाचक्रमाह—

रेखास्सप्त लिखेद्वज्ररभिमुखं तिर्यत् च ता-
स्तावती रेखाग्रेष्वभिजिद्युताः प्रतिलिखेदग्रया-
दिताराः क्रमात् । यत्रैकामधितिष्ठतः प्रतिमुखं
साकं शलाकां ग्रहैश्शीतांशुस्तु शुभैश्च शूलमु-
दितं तत्पापसंज्ञं महत् ॥ ६० ॥

अभिमुखं ऋजूस्सप्तरेखास्तिर्यक्च सप्त लिखेत्, तद्रेखाग्रेषु ऐशा-

न्यादिष्वभिजिद्युताः कृत्तिकाद्यास्ताराः क्रमात् सप्तसप्त विलिख्य
सूर्यादिग्रहान् स्वस्वचारभेषु न्यसेत् । आर्षिमश्चक्रे यत्र नक्षत्रे च-
न्द्रोऽन्यो ग्रहश्च द्वौ परस्परं प्रतिमुखौ भूत्वैकां शलाकां श्रयतः
तन्नक्षत्रं शुभैश्चन्द्रप्रतिमुखस्थैश्शूलम् । पापैर्महाशूलमित्युक्तं, मुनिभि-
रिति शेषः । गुरुः—

प्राचीस्सप्त लिखेद्रेखाः उदीचीस्सप्त विन्यसेत् ।
तदन्तेऽनलभाद्या स्युस्तारा यस्यां ग्रहास्स्थिताः ॥
तद्रेखाभिमुखी तारा महादोषवती तदा ।
महाशूलं च शूलं च पापसाम्याद्द्वैर्ग्रहैः ॥
महाशूले कृतं कर्म विनाशमधिगच्छति ।
शूले कर्तुर्विनाशाय तेषु चन्द्रो यदि स्थितः ॥

इति । ब्रह्मयामके—

स्थिरकार्यं विवाहं च प्रवेशं गमनं तथा ।
न कुर्याच्छूलयोगेऽस्मिन् जातस्यात्र मृतिर्भवेत् ॥

विवाहे विशेषफलमुक्तं—

रविवेधे तु वैधव्यं भौमवेधे प्रजाक्षयः ।
अन्नपानाव्ययोऽप्येवं बुधवेधादुदीरितः ॥
देवाचार्यस्य वेधेन नित्यं भवति दुःखिता ।
शूलवेधे पतिं त्यक्त्वा व्रजेत ललना ध्रुवम् ॥
शनैश्चरस्य वेधेन प्रख्याता गणिका भवेत् ।

इति । अत्रिणा प्रथमार्तवविशेषफलमुक्तं—

सप्तरेखाकृते विद्धे सूर्याद्यैस्सप्तभिर्विधौ ।

दरिद्रा म्रियते बन्ध्या श्रीमती पुत्रिणी क्रमात् ॥

मृता स्त्री कुलटा साध्वी नारी तु प्रथमार्तिवे ।

इति । इन्दोर्यावति भे ग्रहो भवति भातस्मात् पुनस्तावति

स्यादिन्दुर्यादि तत्र शूलमुदितं पापग्रहेस्तन्महत् ॥

इति क्वचित्पाठः । चन्द्राक्षाद्यावति नक्षत्रे ग्रहास्तिष्ठति पुनस्त-
स्मात् ग्रहचारक्षीत् तावति चन्द्रश्चेत् तत्र शूलमुदितं । तथाच
सर्वसिद्धौ—

क्रमात्क्रमेण गणिते नक्षत्रे प्रतिदिक्स्थिते ।

यत्र ग्रहेन्दुभे तुल्ये तत्र शूलं विपत्प्रदम् ॥

इति । अधिमासानाह—

संसर्पो रविमासि दर्शयुगलं पूर्णाद्वयं वाऽस्ति
चेत् तस्मिन् पौष्णयुगं भवेद्यदि विदुस्तं केचिदं-
हस्पतिम् । सूर्येन्दोर्यादि मध्ययोगयुगलं मध्येऽर्क-
मध्योत्थयोः सङ्क्रान्त्यो रविमास आद्य इति वा
मासास्त्रयो निन्दिताः ॥ ६१ ॥

एकस्मिन् स्फुटार्कमासे मध्ये सङ्क्रान्तिद्वयं अमावास्याद्वयं
पूर्णमाद्वयं वाऽस्तिचेत् स मासः संसर्पस्स्यात् । यदि तस्मिन्नर्कमासे
रेवतीद्वयं स्यात् तं मासमंहस्पतिमाहुः । संसर्पाहस्पती केचिद्वदन्ति
तथाच—

पूर्णाह्णद्वयं स्याद्यदि चार्कमासे संसर्पमासः कथितो विरिञ्चिना ।

तत्रैव पौष्णद्वयसन्निपाते चाहस्पतिस्तद्युगले च निन्द्यम् ॥

इति । अन्ये त्वन्यथाऽऽहुः—

रविमासि दर्शद्वयसद्भावस्तु चन्द्ररविसङ्क्रमाभावात् सिद्ध्यतीति ।
संसर्प इति रविमासि दशर्भावोऽहस्पतिरिति । तथाचात्रिः—

यास्मन् मासि न सङ्क्रान्तिस्सङ्क्रान्तिद्वयमेव वा ।

मलमासस्त विज्ञेयस्सर्वकर्मबहिष्कृतः ॥

इति । अथार्कस्य मध्यमोगोत्पन्नयोर्द्वयो राशिसङ्क्रान्त्योर्मध्ये यद्यर्केन्दु-
मध्यसमलिप्ताद्वयं स्यात् सोऽधिमासः, तथाचात्रिः—

रविमध्यमसङ्क्रान्त्योर्दर्शे मध्येऽधिमासकः ॥

इति । एष मध्योऽधिमासः सौरसौम्ययोर्युगपत्प्रवृत्तिमारभ्य क्रमेणोप-
चीयमानं तयोरन्तरमधिमासस्स्यात् । तच्च—

अब्दौ द्वावष्टमासाश्च षोडशाहास्त्रिनाडिकाः ।

विनाड्यः पञ्चपञ्चाशदधिमासान्तरं स्फुटम् ॥

इति अत्रिणोक्तं । यद्यप्यधमधिको गणितेनाप्यानीतः, तथाऽपि न
व्यवहारयोग्यः मध्यत्वात् गृहमध्यवत् ।

यथा ब्रह्मगुप्तः—

यस्मान्न मध्यमसमः प्रतिदिवसं दृश्यते ग्रहो भगणे ।

तस्मात् दृक्कुल्यकरं वक्ष्ये मध्यस्फुटीकरणम् ॥

इति । स्फुटस्तु स्फुटार्केन्दुजन्यत्वाद्व्यावहारिकः ग्रहस्फुटवादिति ।
तमाह—आद्य इति वा । आद्या एकस्मिन् स्फुटार्कमासे स्फुटपुष्पवन्तस-
न्निकर्षातिशयः सम्भवदर्शद्वयसन्निपातजन्मा संसर्पमास एवाधिमासः
इति—सौरचान्द्रद्वयसमाप्तिरित्यर्थः ।

सक्तं च—

* मेषादिस्थे सवितरि यो यो मासः प्रपूर्यते चान्द्रः ।

चैत्राद्यस्त ज्ञेयः पूर्णद्वन्द्वेऽधिमासोऽन्यः ॥

इति । वाशब्दो मतान्तरद्योतनार्थः । तथा सौरे चान्द्रद्वयारम्भश्चेत्
अधिमास इति केचित् । तथा च रल्लः—

यदा शशी याति गमस्तिमण्डलं

दिवाकरस्सङ्क्रमणं च यात्यनु ।

विवाहयज्ञोत्सवनाशहेतुक

स्तदाऽधिमासः कथितस्स्वयंभुवा ॥

इति । अत्र दर्शान्तेऽर्कसंक्रमः, तस्मात्परतः प्रतिपदुत्तरसंक्र-
मादवर्गागेव प्रतिपदिति चान्द्रद्वयारम्भः । भरद्वाजश्च—

सिनीवालीमतिक्रम्य यदा संक्रमते रविः ।

अधिमासस्त विज्ञेयस्सर्वकर्मसु गर्हितः ॥

इति ।

दृष्टचन्द्रा सिनीवाली कुहूगूढनिशाकरा ॥

इति । अन्ये तु मन्वते; द्विश्चन्द्रोदयश्चेदधिमास इति । तथा च
स्मृत्यन्तरे—

एकस्मिन् सौरमासे तु यदेन्दोरुदयो द्विधा ।

अधिमासस्स्फुटः प्रोक्तः कर्मणां निष्फलप्रदः ॥

इति वचनात् स्फुटाधिमास एव व्यावहारिक इत्यत एवेदं ग्राह्य-
मिति । यथोक्तमाग्नेयस्मृतौ—

द्विवारमुदयो यावदिन्दोस्सौरे भवेत्तदा ।
 अधिमासस्त विज्ञेयस्सर्वकर्मबहिष्कृतः ॥
 मूढो(र्धो)त्पत्तिर्भवेदिन्दोर्दर्शान्ते मूक्ष्मरूपिणः ।
 दर्शप्रतिपदादौ तु किञ्चिद्व्यक्तिर्भविष्यति ॥

इति । केचित् पूर्णिमान्तसंयोगनक्षत्रनाम्नां मासानां द्वयोस्साम्यं यदा-
 स्यात् पूर्वस्तयोरधिमास इति ।

उक्तं सूर्यसिद्धान्ते—

नक्षत्रनाम्ना मासास्तु ज्ञेयाः पर्वान्तयोगतः ।
 कार्तिकादिषु संयोगे कृत्तिकादि द्वयं द्वयम् ॥
 अन्त्योपान्त्यौ पञ्चमश्च तिभा मासास्त्रयस्सृताः ।
 वैशाखादिषु कृष्णे च योगः पञ्चदशे तिथौ ॥

इति । सप्तशयोः प्रथमातिक्रमकारणाभावात् प्रथम एवाधिमासः ।
 अन्ये तु त्रिचान्द्रस्पृक्सौरोऽधिमास इति वदन्ति । यथा —

दर्शप्रतिपद्विवरद्वितयं राविमासि यत्र संभवति ।
 अधिमासो भवति तदा यदा च चन्द्रार्कयोगयुगलमपि ॥

इति । अयमत्र स्फुटतमाधिमासो युक्तश्च, यस्मादेकैकस्मिन् सौरे
 एकैकश्चान्द्रस्समाप्यते अन्यः प्रारभ्यते, अत्र तु द्वौ समाप्येते
 द्वावारभ्येते इत्येकोऽधिकः । तथाहि—दर्शान्ते प्राक्तनस्समाप्तः, प्रति-
 पदादावन्यः प्रारब्धः, स च दर्शान्ते पूर्णः, पुनः प्रतिपदादावुत्तरो
 मास आरब्ध इति । किञ्चायमधिमासः सौरचान्द्रान्तरजः, स च
 सौरे चान्द्रत्रयसंस्पर्शादापतति । यथा—चान्द्रसावनान्तरजमवमदिनं
 सावनदिने चान्द्रदिनत्रयसंस्पर्शनात् पतति तद्वदयमित्यनुमितः
 चान्द्रद्वयसमाप्तिराधिमास इत्यादीन्येकदेशलक्षणानि । यस्मात् तत्र

चान्द्रद्वयारम्भो नास्ति, अन्यत्र न चान्द्रद्वयसमाप्तिः । तृतीयेऽपि द्विश्चन्द्रक्षयो नास्ति, चतुर्थे मासनामज्ञानमात्रं कथं चित्संपद्यते । अत्र त्रिचान्द्रमासस्पर्शि सर्वमेतत्संपन्नमिति । संसर्पाहस्पत्यधिकसंज्ञा-
स्त्रयोऽधिमासा निन्दिताश्शुभकर्मस्वित्यर्थः । तथाच गुरुः—

संसर्पाहस्पती मासौ अधिमासश्च निन्दिताः ।

इति । अधिमासश्चेति पृथग्वचनं ताम्यां तस्यातिदोषत्वख्यापनार्थम् ।
तथाचोक्तं—

अधिमासोऽतिनिन्द्यस्स्यात् संसर्पाहस्पती तथा ।

इति । यदा पुनरेकस्मिन् वत्सरे तेषु द्वौ त्रयो वा भवेयुः तत्राधि-
मास एव निन्द्यः, गणितेनाप्यधिकत्वात् ॥ केतूदयादीनाह—

यस्मिन्नस्तमयन्ति वक्रगमनं यत्रारभन्ते ग्रहा
यस्मिन् देवनृपोत्सवादिविविधोत्पाताश्च तं वासरं ।
निर्घातेऽथ सधूमकेतुजनने सोल्कानिपाते दिक्षां
दाहे भूचलने ग्रहप्रहरणे चाह्नां त्रयं वर्जयेत् ॥६२

ग्रहाः कुजादयः पञ्च यस्मिन् दिने अस्तं सूर्यप्रत्यास-
त्तिवशाददर्शनं गच्छन्ति; यत्र वक्रगमनं स्वचारेण भगणे प्राङ्मुखं
गच्छन्तः स्वोच्चाकर्षणवशात् प्रतिकूलगतिमारभन्ते यस्मिन्नेव दे-
वानां नृपाणां चोत्सवादिः प्रवर्तते; यस्मिन् विविधा उत्पाताश्च
संभवन्ति तद्दिनमेकं वर्जयेत्, अत्र भरद्वाजः—

ग्रहाणां पञ्चसङ्ख्यानां येनाह्नाऽस्तमयः कृतः ।

तदहः परिहर्तव्यं वक्रारम्भे दिनं तथा ॥

तद्दिनावगमाय कृतदृक्संस्कारं शीघ्रग्रहमुदयकालिकं मन्दग्रहम-
स्तकालिकं कृत्वा तदर्कान्तरांशान् प्राक् स्वोदयेन पश्चादस्तोदयेन
हत्वा त्रिभिश्शतैर्विभज्य आसेप्वंशेषु सप्तदशत्रयोदशैकादशनवप-
ञ्चदशमितेषु कुजादयोऽस्तं गच्छन्ति । तदूनाधिकेष्वनुपाताद्दिनं साध्यम् ।
तथा दिनावगमनाय ग्रहाणां स्वमध्यमस्फुटयोरन्तरमधिकृत्य स्फुटा-
न्मध्यन्यूने तत्स्थशीघ्रमध्यमे विशोध्याधिके संयोज्य तस्मात् स्फुटे
त्यक्ते शिष्टाश्चत्वारो राशयः पूर्णाश्चैद्विक्रमारभन्ते । देवानामुत्सवाः—
प्रतिष्ठास्नपनपर्वादयः, नृपाणामभिषेककुमारोदयविवाहाद्याः, आदि-
शब्देन ग्रामदेशजात्यादीनामुत्सवा गृह्यन्ते । गुरुः—

यास्मिन् ग्रामे नृपाणां वा देवानां वोत्सवो भवेत् ।

स दिनोऽवश्यतस्त्याज्यस्त्रिदिनं यन्न शक्यते ।

अहानि यानि तान्यत्र देवानामुत्सवस्य च ।

तानि सर्वाणि वज्यानि यथोक्तं शुभकर्मसु ।

अत्र केचिदेवमाहुः—

यस्मिन् काले ग्रहा अस्तं गतवद्व्योम्नि न दृश्यन्ते स कालस्त्याज्यः ।

यस्मात् भरद्वाजः—

शुक्रार्केन्दुबुधाचार्याश्च्रेष्ठाः पञ्च महाग्रहाः ।

तेष्वेकोऽप्यम्बरे दृष्टो नास्ति चेन्नास्ति तद्गुणः ।

व्यपेतदोषे विमलाम्बरे च

सूर्येन्दुताराग्रहसम्भवांश्च ।

तदा समीक्ष्य प्रयतेत नित्यं

समृद्धिमारोग्यजयाभयार्थी

इति । यत्र काले वक्रगमनं—प्रतिकूलस्थितिमानिष्टस्थानस्थितिं ग्रहाः कुर्वन्ति तं कालं वर्जयेत्, यस्मात् भरद्वाजः—

यदा ग्रहाणां वैषम्यं सर्वारम्भं परित्यजेत् ।

कार्यविघ्नकरा ह्येते कृतमप्यत्र नश्यति ॥

इति । यद्वा ग्रहाः यदा अस्तं निष्प्रभतां गच्छन्ति तदा वक्रगमनं गतिविकारमारम्भे, तदा शुभं वर्जयेत् । यस्मात् भरद्वाजः—

अविकारगतिच्छायाः प्रसन्ना स्स्युर्यदा ग्रहाः ।

आरभेत शुभं नित्यं विकारे नैव कारयेत् ।

ग्रहादन्यत्र विद्येत लोकेषु हि शुभाशुभे ।

तथा—

कालावस्था ग्रहावस्था ज्ञातव्याः पूर्वमेव तु ।

वर्णाचारप्रभाश्चैव ग्रहनक्षत्रयोस्तथा ॥

इति । अत्र देवोत्सवो यज्ञादिः, नृपोत्सवः सङ्ग्रामादिः । तथाच यस्मिन् काले देशे वा जना अस्तं क्षयं यान्ति तदा वक्रगमनं गतिस्तम्भं यान्ति । तथा च भरद्वाजः—

राजदुर्भिक्षयोगादिभयस्थे नैव कारयेत् ।

यस्मिन् जनपदे ग्रामे स्वगृहे वा विशेषतः ॥

देशे प्रसन्ने कर्तव्यं व्यपेतभयहेतुके ।

मङ्गल्यानि च कार्याणि प्रीतैस्साधुजनैर्वृतैः ॥

इति । उत्पातास्त्रिविधाः भौमा आन्तरिक्षा दिव्याश्च । तत्र भूमिगता अनग्निज्वलनादयो भौमाः । ध्वजादिरूपा व्योम्नि दृश्यमाना आकारविशेषाः आन्तरिक्षाः । नक्षत्रसंस्थिता उल्काकारास्तेजस्कन्धाः दिव्याः । यथाह नारदः—

दिव्यान्तरिक्षभौमास्ते शुभाशुभफलप्रदाः
 ध्वजाश्च शस्त्रभवनरथवृक्षगजोपमाः ।
 स्तम्भशूलशिखाकाराः आन्तरिक्षाः प्रकीर्तिताः
 नक्षत्रसंस्थिता दिव्या भौमा ये भुविसंस्थिताः ॥
 एते (हि) विभिन्नरूपास्त्युर्जन्तूनामशुभाय मे ।

गर्गश्च —

स्वर्भानुकेतुनक्षत्रग्रहतारार्कचन्द्रजम् ।
 दिवि चोत्पद्यते यच्च तद्दिव्यमिति कीर्तितम् ।
 वाय्वभ्रसन्ध्यादिग्दाहपरिवेषतमांसि च ।
 खपुरं चेन्द्रचापं च तद्विद्यादन्तरिक्षजम् ।
 भूमावुत्पद्यते यच्च स्थावरं वाऽथ जङ्गमम् ।
 तदैकदेशिकं भौममुत्पातं परिचक्षते ।

किञ्च देवप्रतिमादीनामनिमित्तचलनजल्पिताद्यनग्निज्वलनं त-
 रूणामनृतप्रसवः । शुष्कविरोहः पतितोत्थानादि रक्तवर्षणमकाल-
 वृष्टिर्नदीनां रक्तप्रवाहादि रात्राविन्द्रधनुर्दर्शनं अनभिहततूर्यनादादि
 प्रतिसूर्यदर्शनं पञ्चग्रहवक्रारम्भ इत्यादि । यदन्यत्—प्रकृत्यन्यत्वं
 स सर्वं उत्पात इति तद्दर्शने तद्दिनमेकमवश्यं वर्जयेत् । सप्त-
 रात्रमित्यन्ये । तथाच नारदः—

अकालजाम्बु नृपतिर्विद्वद्युज्जननवृष्टिषु ।
 उत्पातेषु त्रिरूपेषु सप्तरात्रं न च व्रजेत् ॥

इति । केचित् महोत्पाताः धूमकेत्वादयस्तेषु विशेषमाह—निर्घात इति ।
 विविधगतीनां पातानामन्योन्याभिघातात् सशब्दं भूमौ पातो निर्घातः ।
 उक्तं च वराहमिहिरेण—

पवनः पवनाभिहतो गगनादवनौ यदा समापतति ।

निर्घातो भवति तदा

इति । धूमसमवर्णश्चापाकारो व्योम्नि दृश्यमानः केतुर्धूमकेतुः ।
तथाच नारदः—

अनिष्टदो धूमकेतुः शक्रचापस्य सन्निभः ।

द्वित्रिंशत्तुल्यशूलरूपः स च राज्यान्तकृत्तदा ॥

इति । नरापचारसंकुद्धदेवताविसृष्टास्त्रमयी चतुर्हस्तदीर्घाऽल्पपुच्छा
बृहच्छिराः निपतन्ती तेजोरूपा उल्का नाम, उक्तं च—

उल्का शिरसि विशाला निपतन्ती वर्धते प्रतनुपुच्छा ।

दीर्घा च भवति परुषा भेदा बहवो भवन्त्यस्याः ॥

इति । अकस्मादग्निज्वालावलीढानामिव धूमाकुलितजनदृष्टीनां दिशां
दर्शनं दिग्दाहः । अकस्माच्च भुवस्स्वस्थानाञ्चलनं भूचलनं, अत्र नारदः—

भूभाराभिन्ननागेन्द्रशीर्षविश्रामसंभवः ।

भूकम्पस्सोऽपि जगतामशुभाय भवेत्तदा ॥

ग्रहाणां स्वस्व कक्ष्यावशात् उपर्यधश्चरतामप्यतिदूरतया दृष्ण्डल-
साम्यादेककक्ष्यारूढानामिव दृश्यमानानां राश्यंशकालकृतक्षेत्रप्रदेश-
साम्याद्याऽन्योन्ययोगसंपादिनी दृष्टिस्तद्ग्रहयुद्धम् । उक्तं च वराहमि-
हिरेण—

दिवसकरेणास्तमयः समागमश्शीतरश्मिसहितानां ।

कुसुतादीनां युद्धं निगद्यतेऽन्योन्ययुक्तानाम् ॥

वियति चरतां ग्रहाणामुपर्युपर्यात्ममार्गसंस्थानाम्

अतिदूराद्दृग्बिषये समतामिव संप्रयातानाम् ॥

आसन्नक्रमयोगात् भेदेऽल्लेखांशुमर्दनात् सङ्घैः ।

युद्धं चतुष्प्रकारं पराशराद्यैर्मुनिपिरुक्तम् ॥

इति । एतानि निर्घातानि यस्मिन् दिने भवन्ति तद्दिनादि दिनत्रयं वर्जयेत् । अत्र गुरुः—

दिग्दोहो वा महादाहपातनेऽनम्बुवर्षणे ।

उल्कापाते महापाते महाशनिनिपातने ।

अनन्नेऽशनिपाते च भूकम्पपरिवेषयोः ।

ग्रामोपान्ते शिवाशब्दे दुर्निमित्ते न शोभनम् ।

केतवो यत्र दृश्यन्ते स भूमा वा पृथग्दिशः ।

युद्धे ग्रहाणामन्योन्यं निर्घाते वा कुकम्पने ।

महापातयुते काले सप्तरात्रं शुभं त्यजेत् ॥

इति । इह यत्सप्तरात्रं शुभं त्यजेदित्युक्तं तत् बहुत्पातसन्निपाते वेदितव्यम् । यदा त्वेकैको महोत्पातस्तदा त्रिदिनमेव । यदा पुनरेकैकः क्षुद्रोत्पातस्तदा तद्दिनमेव त्याज्यमिति व्यवस्था । किञ्चायमप्यर्थः उक्तः—निर्घातो महानदृष्टनिमित्तशब्दः । धूमो नाम दिग्बिषयप्यदृष्टभूलक्षुर्निरोधकः । केतवो दृश्यमानरूपा ग्रहाः, तेषां प्रादुर्भावश्चेत् तदुपलब्धिदिनानि परं च दिनं वर्जयेत् । यथाऽऽह गुरुः—

केतवो धूमसंयुक्ता दृश्यन्ते यदिवा नाशि ।

तस्या दर्शनतः पश्चात् तदाऽप्यशुभदोषदाः ॥

इति । अत्र केचिदर्या द्योतिताश्च सन्ति, यथा—यस्मिन् ग्रहा अस्तं रश्मिक्षयं गच्छन्ति नतस्तुग्रमिति । अत्र गुरुः—

वृश्चिके दश भागा स्स्युरर्कस्यास्मिन् शनेश्वरः(?) ।
 मकरेऽत्यष्टिभागाश्च सोमस्य स्वामिनोदिताः ॥
 कुम्भेऽष्टौ भूमिपुत्रस्य गुरोरस्मिश्च तद्विदुः ।
 कन्यायां नव भागास्स्युर्भृगुजस्य च चान्द्रिणः ॥
 राहोरष्टौ क्रिये केतोर्यमे भागास्त्रयोदश ।
 एवं ग्रहाणां सर्वेषां राशिभागाः क्रमात् स्थिराः ॥
 स्वात्स्वादुक्तस्थिरात् शोघ्याः स्वस्वशुद्धप्रदाः क्रमात् ।
 शिष्टा राश्यंशल्लिप्तास्स्युस्वकीया ग्रहरश्मयः ॥
 स्वकीया रश्मयस्तेषां स्वतुल्यफलदास्मृताः ।
 बलैर्हीनयुतस्यापि रश्मयोऽप्यबलाबलाः ॥

इति । तथा यस्य जन्मर्क्षे ग्रहास्तमयवक्रयुद्धकेतूद्योत्पातादयो भवन्ति
 स च शुभकर्म वर्जयेत् ॥ तथा च भरद्वाजः—

वक्रं वाऽस्तमयं युद्धं राहुकेत्वोश्च दर्शनं ।
 यस्य यस्मिस्तु नक्षत्रे प्रवर्तन्ते तथाविधाः ।
 सर्वारम्भं परित्यज्य तूष्णीमासीत बुद्धिमान् ।

तथा यस्मिन्नक्षत्रे कुजादयोऽस्तमयं वक्रगतिं कुर्वन्ति यत्र वा उत्पाता
 दृश्यन्ते तन्नक्षत्रं शुभकर्मसु त्यजेत् । तथा विक्रमसिंहः—

यदुक्तं शनिराहुसूर्यरुधिरविडं च यच्चाचला-
 कम्पोल्कापतनोपरागपरिधिप्रायैरपायैर्हतम् ।
 भुक्तं यद्विधुनाऽन्यथा विरहितज्योतिर्ग्रहास्तोदयो
 यस्मिन् यद्गृहवक्रपीडितमुडु छिष्टं तदाचक्षते ।

इति । केचिदेवं योजयन्ति—गृह्यन्ते इति ग्रहाः पदार्थाः यस्मिन् दिने
 अस्तमयन्ति दुर्दिनत्वादस्तामिता इवाद्दृश्या भवन्ति, ऋजुजन्मयोनयोऽ-

प्यस्पष्टलक्ष्यत्वात् वक्रं कौटिल्यं श्रयन्ते, यस्मिन् राजोत्पातादयो विविधा उत्पाताश्च तद्दिनं कृत्स्नं देवनृपोत्सवादिप्रतिष्ठाभिषेकादि शुभं वर्जयेत् । कालाध्वनोरत्यन्तसंयोग इति द्वितीया । अत्र भरद्वाजः—

निर्मलं सुदिनं प्राहुर्दुर्दिनं कलुषाम्बरम् ।
सुदिने तद्धि कर्तव्यं दुर्दिने चैव वर्जयेत् ॥
चन्द्रादित्यगतं तेजस्तत्काले न तमोवृतम् ।
न कुर्याद्यावत्स्तावत् दीप्तिदोषहतो भवेत् ॥

इति । केतुजनने केतूदये शुभं वर्जयेत् । तथाच गुरुः—

केतवो राहुजाशून्यास्त्रयस्त्रिंशच्चरन्ति च ।
रवेर्व्यये द्वितीये च षोडशात्यष्टिसङ्ख्यकाः ।
एतेषामुदये राशौ कृतं सर्वं विनश्यति ।

भरद्वाजोऽपि—

दुर्विज्ञेया हि बहवो ग्रहास्सूर्येण सञ्चराः ।

गुरुः—

तस्मात्सूर्यान्वितं क्षेत्रमतीव भयदं भवेत् ॥
षण्णवत्यप्यहो भानुर्यावच्चरति कालतः ।
महादोषप्रदः कालः शुभान्यत्र विवर्जयेत् ॥

इति । सर्वसिद्धौ—

अर्कात् कर्मांशुगौ राशी राहुकेतू विनिन्दितौ ।
न चेत्तत्राभिजिद्योगो युतिद्वष्टिस्तु वा सतः ॥

इति । वेधमाह—

द्वेद्वे कोणाद्विकोणं प्रतिलिखतु पुरः पञ्चपञ्चाथ
तिर्यग्नेखास्तास्वीशकोणप्रभतिष गणयेत् भा-

नि वह्न्यादिकानि । यस्मिन्निन्दुर्ग्रहश्च प्रतिमुख-
मयतः साकमेकां शलाकां नक्षत्रं वेधदुष्टं परिण-
यनविधौ तद्विपत्तिं विधत्ते ॥ ६३ ॥

कोणादिकोणं प्रति—ईशानान्निरुक्तं अग्रेर्वायुं प्रति द्वेदे
रेखे ऋज्वयौ, पुरः पञ्च तिर्यक्, निरश्रीः पञ्चरेखा लिखतु । अथ तद्वे-
खाग्रेष्वीशकोणे दक्षिणकोणाग्रमागम्य कृत्तिकादीनि साभिजिद्धानि
विन्यस्य स्वचारक्षेपु ग्रहांश्च न्यस्य गणयेत् । यस्मिन् ऋक्षे चन्द्र-
स्मूर्याद्यन्यो ग्रहश्चोभौ परस्पराभिमुखौ भूत्वा युगपदेकां शलाकां यदि
प्राप्नुतः तन्नक्षत्रं नद्ग्रहवेधेन दुष्टं परिणयनविधौ विवाहे विपत्तिं करोति
श्रीपतिः—

ऊर्ध्वा रेखाः पञ्च तिर्यक् स्थिताश्च
द्वेदे रेखाकोणयोरत्र चक्रे ।
अग्रे धिष्ण्यं शम्भुकोणे द्वितीयां
नाड्यां न्यस्येत्तान्यतस्साभिजिन्ति ।
चक्रे तस्मिन्नेकरेखास्थितेन
ज्ञेयं विद्धं नूनमृक्षं ग्रहेण ।
कैश्चित् तस्मिन् प्रोच्यते पादवेधो
भानां चिन्त्यश्चात्र लत्तानिपातः ॥

ग्रहवशात् फलमुक्तं सुबोधे—

एतस्त्रिवेव चक्रे प्रतिमुखभगताः शर्वरीशस्य नेष्टाः
शुक्रज्ञाचार्यपातारुणकुजशनयः कुर्युरेते क्रमेण ।
वेश्यां वन्ध्यामपुत्रां मरणभयमथो भर्तृनाशं प्रजानाम्
नाशं मनापहानिं परिणयनविधौ वेधदोषाः प्रदिष्टाः ॥ इति ।

अत्रैकां शलाकां नक्षत्रपादवशात् जतुर्धा विभज्याद्यन्तयोर्मध्ययोश्च
पादयोः वेयं केचिदाहुः, तथा च रल्लः—

बालाग्रेणापि यथा दृक्चलने वेधकस्य लिखाग्रात् ।

खलु सिद्ध्यते न सोऽर्थस्तद्वेधोऽपि विभ्रष्टः ।

तस्माद्वेधशलाकां कृत्वा पादैश्चतुर्भिरन्वेप्यम् ।

पादात्पादान्तरितो भ्रष्टशलाकस्त्वसमवेधस्स्यात् ।

विषप्रदिग्धेन हतस्य पत्रिणा

मृगस्य मांसं शुभदं क्षतादृते ।

यथा तथाऽत्राप्युदुपाद एव

प्रदूषितोऽन्यत्तितयं शुभावहम् ॥

इति । अत्र व्यवस्था नारदेनोक्ता—

पादोऽप्येव शुभैर्विद्धे निन्दितेनैव ¹ कृत्स्नम् ।

क्रूरविद्धयुतं धिष्यं निखिलं नैव पादतः ॥

इति । लतादोषश्रोतः श्रीपतिना—

ऋक्षं द्वादशमुष्णरश्मिरवनीसूनुस्तृतीयं गुरु-

ष्णष्टं चाष्टममर्कजश्च पुरतो हन्ति स्फुटं लतया ।

पश्चात् सप्तमामेन्दुजश्च नवमं राहुस्सितः पञ्चमम्

द्वाविंशं परिपूर्णमूर्तिरुदुपः सन्ताडयेन्नतरः ॥

इति । तत्फलं चोक्तं ब्रह्मयामले—

सूर्येण पुत्रनाशस्स्यात् कुजराहुशनैश्चरैः ।

मरणं जीवलतायां बन्धुनाशो भवेत् प्रिये ।

शुक्रेण कार्यविभ्रंशमनर्थशशिसूनुना ।

चन्द्रेण सुमहांस्त्रासो लताघातफलं स्मृतम् ॥

¹ निन्दते नैव इति स्यात्

इति । स्यादेतत्—कस्यायं लत्तापात इति, न दिनर्क्षस्य चन्द्राङ्गा-
विंशस्यासंभवात् । नापि जन्मर्क्षस्य, अप्रकृतत्वात् । यस्मान् श्रीपतिः—

क्रूरैर्मुक्तं क्रूरगन्तव्यमृक्षं

क्रूराक्रान्तं क्रूरविद्धं च नेष्टम् ।

यच्चोत्पातैर्भौमदिव्यान्तरिक्षै-

र्जुष्टं तद्वत् क्रूरलत्ताहतं च ॥

इति । उच्यते—दिनर्क्षस्यैव शुक्लान्तचन्द्राद्वाविंशस्य संभवात् ।
उक्तं हि—‘ द्वाविंशं परिपूर्णमूर्तिः ’ इति । ईशकोणे द्वितीयां नाडीमार-
म्याग्रचादिभानि न्यसेदित्यत्र को नियम इत्याशङ्क्य तत्परिहरन् अभि-
जिद्रुक्तिमाचष्टे—

पादश्चतुर्थः किल विश्वभस्य

नाड्यश्च विष्णोः प्रथमाश्चतस्रः ।

उक्ताऽभिजिद्रुक्तिरितीयमस्यां

स्थितो ग्रहो विध्यति घातृताराम् ॥ ६४ ॥

उत्तराषाढस्यान्यः पादः श्रवणस्याद्यपादादिगताश्चतस्रो घटिका
इत्येषैकोनविंशतिनाड्यात्मिकाऽभिजिन्नक्षत्रभुक्तिः । अत्र स्थितो ग्रहो
ग्रहस्थितां रोहिणीं विध्यति । तथाच श्रीपतिः—

अन्तः पादो वैश्वदेवाह्वयस्य

विष्णोर्धिष्ण्यस्याद्यनाड्यश्चतस्रः ।

उक्ता भुक्तिश्चाभिजित्संज्ञकस्य

तत्स्थे खेटे रोहिणीनां च वेधः ।

इति । यत्पुनरत्रिणोक्तं—

श्रोणादौ विश्वभान्त्ये स्यादभिजित् घटिकाष्टकम् ।

इति, तत् सिद्धान्तोक्तनक्षत्रभुक्तिविरुद्धत्वात् नाभिमतम् । ननु सप्त-
विंशतिनक्षत्राणि, किमिदमभिजिन्नाम, भूबलशास्त्रेषु शलाकानामा-
दिचक्रसिद्धिचर्यमभिजिन्नामाष्टाविंशं नक्षत्रं वदन्ति ।

तथाच भरद्वाजः—

आषाढात्परतस्तद्वत् श्रवणात्पूर्वमेव तु ।

अभिजिन्नाम नक्षत्रं शून्यगारं विराजते ॥

इति । कतिषुचित्क्रियासु ग्रहशुद्धिनिगमस्थानान्याह—

इच्छन्त्यग्रहतां स्मरादिषु पदेषूद्वाहविप्रक्रिया-
चौळप्राशनमौलिवन्धनगृहप्रारम्भणेषु क्रमात् ।
लग्नस्थास्स्मरसंस्थिताश्च नियमात् पापाः फलं
कर्मणां सर्वेषां क्षययन्ति जीवशशभृत्पापाश्च
रन्ध्रस्थिताः ॥ ६५ ॥

उद्वाहो-विवाहः-विप्रक्रिया, उपनीतिः । चौळं—क्षुरकर्म, प्राशनं
शिशूनां प्रथमान्नभुक्तिः । मौलिवन्धनं राज्ञां पट्टबन्धः । गृहप्रारम्भणं
नगरग्रामगृहादिवास्तुनिवेशः । एतेषु षट्सु स्थानेष्वग्रहतां ग्रहाणाम-
भावं इच्छन्ति । तथा विवाहे सप्तमस्थाने शुभाशुभानामनवस्थितिरेष्ट-
व्येत्यादि । उक्तं च—

षाण्णां प्रयोगसमये खलु सप्तमादि

स्थानेषु षट्सु परिशुद्धिमुञ्चन्ति सन्तः ।

वैवाहिकोपनयचौळनवान्नभुक्ति-

मौळिक्रिस्मभवनवृद्धि (त्ति) रिति क्रमेण ।

इति । केचित् गृहारम्भाद्येकादशकर्मसु द्वितीयादिस्थानेषु शुद्धि-
माहुः । तथा च विधिरत्ने—

गृहारम्भे प्रवेशे च वस्त्राणां धारणे तथा ।

यात्रौषधविवाहेषु क्षुरे कर्णस्य वेधने ॥

भोजने पितृकार्ये च गर्भन्यासे तथैव च ।

घनस्थानाद्वचयान्तेषु शुद्धिमित्थं विदुर्बुधाः ॥

इति । लग्नस्थाः सप्तमस्थाश्च पापाः सामान्येन सर्वशुभकर्मणां
फलमवश्यं नाशयन्ति, तस्मात् तल्लग्नसप्तमयोः पापानामनवस्थानं
सर्वकर्मस्विष्टमित्यर्थः । अत्र भरद्वाजः—

लग्ने द्वितीये जामित्रे निधने क्रूरसंयुते ।

तल्लग्नं क्रूरमित्याहुरन्यथा तु शुभं भवेत् ॥

इति । तथा च जीवचन्द्रौ पापाश्चाष्टमस्थाः सर्वकर्मफलनाशकतः ।

लग्नाष्टमस्थे कुजे महादोषः इति । नारदः—

कुजाष्टमो महान् दोषो लग्नादष्टमगे कुजे ।

शुभत्रययुतं लग्नं त्यजेत्तत्तुङ्गे यदि ।

श्रीपतिः—

प्रायश्शुभा न शुभदा निधनव्यवस्था

धर्मान्त्यधीनिधनकेन्द्रगताश्च पापाः ।

सर्वार्थसिद्धिषु शुभो न शशी विलग्न

सौम्यान्वितोऽपि न शुभो निधने विवाहे ॥

इति । चौळादीनां वर्ज्यकालमाह—

सर्वारम्भेष्वयनमवदन्नुत्तरं श्रेष्ठमार्या-

श्रौळादीनामितरदशुभं कर्मणां वार्षिकाणाम् ।

ब्राह्मोद्वाहे त्यजतु चतुरश्रैत्रयुक्तांश्च मासा-
नाषाढादींस्तमपि शुभदं मासमूचे वसिष्ठः ॥६६॥

सर्वेषु शुभकर्मारम्भेषूत्तरायणं—मकरादिमासषट्कं श्रेष्ठं इतरत् दक्षि-
णायनं—कक्यादिमासषट्कं चौळादीनां वर्षसङ्ख्ययोक्तानां कर्मणा-
मारम्भेष्वशुभमिति पूर्वाचार्या उक्तवन्तः । तदन्येषां मासोक्तानां
च मध्यममित्यर्थसिद्धम् । उक्तं च भरद्वाजेन—

पूर्वाह्ने पूर्वपक्षे च अयने चोत्तरे दिवा ।
निर्मले दिवसे कुर्यात् शुभकर्माणि नित्यशः ।
अपरे निन्दितं प्राहुः कालस्याङ्गं विशेषतः ।
पूजितेष्वेव कर्तव्यं सततं शुभमिच्छता ।

अन्यत्र—

गृहप्रवेशवैवाहप्रतिष्ठामौज्ज्वलधनम् ।
मखादि मङ्गलं कर्म विधेयं चोत्तरायणे ।
याम्यायने शुभं कर्म मासप्राधान्यकर्म च ।

इत्यादि । अत्र केचिदाहुः—

तैषाद्विदग्गयनमाषाढादक्षिणं निशा ।
तैषादिमासद्वन्द्वेषु केचित् षडृतवोऽवदन् ॥

इति । नैतत्सारम् । औत्पातिकत्वात् । सारं तु सूर्यचारकृतमेव ।
यस्मात् भरद्वाजः—

भास्करे विषुरेखाया उदक्स्थे चोत्तरायणम् ।
दक्षिणस्थे ततस्मूर्ये विद्यात्तदक्षिणायनम् ।

अन्यत्र च—

सौम्यायनं मासषट्कं मृगाद्यं भानुभुक्तिः ।

अहस्सुराणां तद्वात्रि कर्क्याद्य दक्षिणायनम् ।

इति । श्रीपतिश्च—

मृगादिराशिद्वयभानुभोगान्

षट् चर्तवस्त्युशिशिशिरो वसन्तः ।

ग्रीष्मश्च वर्षाश्च शरच्च तद्वत्

हेमन्तनाम्ना कथितस्तु षष्ठः ॥

इति । यत्पुनरुक्तं—

माघादिमासौ द्वौ द्वौ षडृतवशिशिशिरादयः ।

इति । तच्चान्द्रविषयम् । तथा च श्रूयते—

“मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू” इत्यादि । अनयोस्सौर-
चान्द्रयोः देशस्थित्या परिग्रहाः । अथ ब्राह्मे ब्राह्मणानामुक्ते—
ब्राह्मे प्राजापत्ये दैवे आर्षे च विवाहे चैत्रेण सह आषाढादिमासच-
तुष्टयं वर्जयेत् । तथाच गुरुः—

चैत्रे चाषाढपूर्वेषु चतुर्ष्वपि च वर्जयेत् ।

अन्ये सुशुभदा मासाः सौरैरेणैतेऽतिशोभनाः ।

इति । वसिष्ठः आषाढमासमपि शुभदमुक्तवान् । चैत्रश्रावणभाद्रपदा-
श्वयुजाश्चत्वारो मासा निन्दिताः । तथा च तद्वाक्यं—

अष्टौ मासाः प्रशस्तास्त्युः चत्वारः परिवर्जिताः ।

प्रशस्तेष्वेव मासेषु विवाहं योजयेद्बुधः ।

चत्वारो निन्दिता मासाः श्रावणाश्वयुजौ तथा ।

चैत्रे प्रोष्ठपदे चैव विवाहं नैव योजयेत् ।

इति । पौषः प्रागेव शून्यतानिन्दित इति षडपि निन्दिता इति केचित्,
तथा च भरद्वाजः—

माघफाल्गुनवैशाखज्येष्ठमासाश्शुभावहाः ।

मध्यमः कार्तिको मार्गशीर्षोऽन्ये निन्दिताः परे ।

इति । आषाढाद्याश्रत्वारो निन्द्या इत्याद्यः, त एव सचैत्रा इति
द्वितीयः । सचैत्रस्तेषां तृतीयः त एव चाऽऽप्याषाढपौषाश्रत्वार इति
चतुर्थः । माघफाल्गुनाषाढास्त्रयः इति पञ्चमः । एषु पञ्चसु पक्षेषु प्राक्तनैः
प्रोक्तेषु अयं श्रेयान् अयं कनीयानित्यूरीकर्तुं दूरीकर्तुं चानुचितम् ।
यतस्ते सर्वेऽपि महान्तः पृथक्पृथक् शास्त्रप्रणेतारः त्रिकालदर्शन-
संपन्नास्सत्संप्रदायाश्च भवन्ति । यस्माद्दृढगर्गः—

स्वयं स्वयंभुवा दृष्टं चक्षुर्भूतं द्विजन्मनाम् ।

वेदाङ्गं ज्योतिषं ब्रह्मसमं वेदैर्विनिस्मृतम् ।

मया स्वयंभुवः प्राप्तं क्रियाकालप्रसाधकम् ।

वेदानामुत्तमं शास्त्रं त्रैलोक्यहितकारकम् ।

मत्तश्चान्यान् ऋषीन् प्राप्तं पारम्पर्येण पुष्कलम् ।

तैस्तथा दृष्टिभिर्भूयो ग्रन्थैः स्वैस्स्वरूपाद्वृतम् ।

शास्त्रार्थानां परित्यागे महान् प्रत्यवायश्च, यस्माद्गुरुः—

मुहूर्तं वा क्रिया वाऽपि दोषश्श्रुत्यर्थ एव वा ।

शास्त्रार्थः कापि न त्याज्यस्त्यक्तोऽतीव प्रमादकृत् ।

दृष्टादृष्टविरोधश्च वर्गसंपद्भिनाशनः ।

देवैरतो मनुष्यैश्च न त्याज्यश्शास्त्रचोदितः ।

तदपरित्यागे कालसङ्कोचात् क्रिया न संपद्येत । एवं स्थिते देशध-
र्माद्याश्रयणियम् ।

उक्तं च रल्लेन—

देशाचारस्तावदादौ विचिन्त्यो
देशेदेशे या स्थितिः मैव कार्या ।
लोकद्विष्टं पण्डिता वर्जयन्ते
दैवज्ञोऽतो लोकमार्गेण यायान् ।

इति । गुरुश्च—

अर्थप्रकरणाख्यादिलिङ्गौचित्यादिभिः सदा ।
देशकालादिभिश्चैव वाक्यान्तरविरोधतः ।
अपवादादिभिर्वाक्यैः सामान्येन विशेषतः ।
सर्वत्र सर्वानालोच्य ज्ञानी कालं समादिशेत् ।

इति । अत्र ब्राह्मोद्वाह इति विशेषाभिधानान् गान्धर्वादयः सर्वदा
कार्या इत्यर्थसिद्धम् । तथा च नारदः—

प्राजापत्यब्राह्मदैवविवाहा आर्षसंयुताः ।
उक्तकालेषु कर्तव्याश्चत्वारः फलदायकाः ।
गान्धर्वासुरपैशाचराक्षसाख्यास्तु सर्वदा ॥

इति । केचित् ज्येष्ठमासाद्यगर्भयोर्वधूवरयोर्मङ्गलं वर्जयन्ति ।

तथाच श्रीपतिः—

जन्ममासि न तु जन्मभे तथा
नैव जन्मदिवसेऽपि कारयेत् ।
आद्यगर्भदुहितुः सुतस्य वा
ज्येष्ठमासि न तु जातु मङ्गलम् ॥

इति । जन्ममासेऽपि केचिद्वर्जयन्ति । तथाचात्रिः—

जन्मभे जन्मदिवसे जन्ममासे शुभं त्यजेत् ।

मौञ्जचुद्धाहप्रतिष्ठादि मासि तान् कुर्वते परे ।

ज्येष्ठो ज्येष्ठगार्ति विद्यात् स्नानं चौळं गृहं त्यजेत् ।

इति । केचित् भानोराद्राप्रवेशमारभ्य आस्वात्यन्तात् दशक्षेपु
वर्जयन्ति । तथा च नारदः—

न कदाचिद्दशक्षेपु भानोराद्राप्रवेशनात् ।

विवाहं देवतानां च प्रतिष्ठां चोपनायनम् ।

न गुरौ सिंहराशिस्थे मिहांशकगतेऽपि वा ।

इति । रात्रिवर्ज्यानाह—

कृषिं बीजवापं नरेन्द्राभिषेकं

सविद्यागृहारम्भदेवप्रतिष्ठाः ।

क्रियास्सप्त चौळादिका नामधेय-

क्रियां च क्षपायां न कुर्वन्ति सन्तः ॥ ६७ ॥

विद्यारम्भगृहारम्भदेवप्रतिष्ठासहिताः चौळादिकाः चौळोपन-
यने होतृशुक्रियोपनिषद्गोदानादिचत्वारि व्रतानि समावर्तनं चेति
सप्त क्रियाः नामक्रियां चैतानि कृष्यादीनि चतुर्दश कर्माणि रात्रौ
वर्जयन्ति । दिवैव कुर्यादित्यर्थः । तथाचात्रिः—

नाम पुंसवनं क्षौरं बीजोप्तिस्थापनादिकम् ।

राजाभिषेकं स्थानाद्यं विद्यारम्भोपनायनम् ।

गृहप्रवेशसीमन्तश्राद्धाद्याश्च दिवोदिताः ।

एतेषां सविता देवः शेषास्सौम्या निशास्वपि ।

इति । व्रतान्यपि सवितृदैवत्वात् दिवोक्तानि । भरद्वाजः—

बीजानां वापनं क्षौरं वास्तुकर्म कृषिं तथा ।

रात्रौ तु न च कुर्वीत कुर्वन् सिप्रं विनश्यति ।

गुरुः—

नवानां नगरादीनां प्रवेशं कर्णवेधनम् ।

राजाभिषेकं शर्वर्यामुपनीतिं न कारयेत् ।

सन्ध्ययोर्निशि निर्वेशं प्रवेशं क्षुरकर्म च ।

(?)वज्यास्त्युस्तैलाभ्यङ्गं विशेषतः ।

इति । सन्ध्यात्रये सर्वकर्माणि वर्जयेदित्यन्ये । तथा भरद्वाजः—

मध्याह्ने चार्धरात्रे च सन्ध्ययोरुभयोरपि ।

कुर्यान्न शुभकर्माणि सिद्धिकामस्तु नित्यशः ।

पैशाची पश्चिमा सन्ध्या प्राक्सन्ध्या रौद्रिकोच्यते ।

राक्षसी चार्धरात्री स्यात् ब्राह्मी मध्याह्न उच्यते ।

सन्ध्याप्रमाणं नारदेनोक्तं—

स्यादर्धास्तमयात् सन्ध्या घटिकात्रयसंमिता ।

तथैवार्धोदयात् प्रातर्घटिकात्रयसंमिता ।

इति । सन्ध्या मुहूर्तमात्रेऽपीति पौराणिकाः । तथा च विष्णुपुराणे—

सन्ध्या मुहूर्तमात्रा स्यात् ह्यसवृद्धचोश्च सा स्मृता ।

इति । अर्धरात्रौ घटीद्वयमेव । यस्मादुक्तं—

“महानिशा द्वे घटिके ” इति । मध्याह्नेऽपि घटिकाद्वयमेव,

स चाभिजित्कालत्वात् यात्रादौ शुभ इति वक्ष्यति ।

कृष्यादिकान्यत्र चतुर्दशैवं

कर्माण्यनुक्तानि निशासु यानि ।

सकर्णवेधेषु गृहप्रवेश-

यक्तेषु तेष्वष्टमशुद्धिमाहुः ॥ ६८ ॥

कृष्यादिनामान्तानि यानि रात्रावनुक्तानि चतुर्दश कर्माणि
तेषु कर्णवेधे गृहप्रवेशे च लग्नादष्टमस्थाने शुद्धिमाहुः। यद्यपि कर्णवेध-
गृहप्रवेशावपि शास्त्रेषु रात्रावनुक्तौ तथाऽपीह कृष्यादिकानि चतुर्द-
शेति परिगणनात् पुनः पाठः। षडशीतिमुखदोषमाह—

चरादिकेषु त्रिषु मन्दिरेषु
भागान् क्रमात् शैलशराङ्कसंख्यान् ।
रवौ प्रसन्ने सति दुष्प्रधर्षं
वदन्ति दोषं षडशीतिवक्त्रम् ॥ ६९ ॥

चरस्थिरोभयेषु त्रिषु राशिषु सप्तमपञ्चमनवमान् भागान्
रवौ प्राप्ते षडशीतिमुखं नाम दारुणं दोषं प्रवदन्ति । एतदुक्तं भवति
भरद्वाजेन—

चरेषु सप्तमं भागं स्थिरेष्वपि च पञ्चमम् ।
उभये नवमं चैव षडशीतिमुखं विदुः ।
षडशीतिमुखे प्राप्ते षष्टिनादीर्विवर्जयेत् ।
अन्यथा चेद्विनश्यन्ति षडशीतिगते रवौ ॥

इति । गण्डान्तमाह—

राशितिथितारकाणां गण्डान्तं जलधिविषय-
नवमान्ते । तत्रोभयतो नाढ्यः शशिगुणशरसंमि-
तास्त्याज्याः ॥ ७० ॥

राशीनां जलध्यन्ते कर्कश्यन्ते वृश्चिकान्ते मीनान्ते, तिथीनां विषयान्ते पञ्चम्यन्ते दशम्यन्ते पञ्चदश्यन्ते च, नक्षत्राणां नवमान्ते आश्लेषान्ते ज्येष्ठान्ते रेवत्यन्ते च गण्डान्तं भवति । तत्रोभयपार्श्वयो-
रेकत्रिपञ्चनाब्जस्त्याज्याः । राशीनामेकस्तिथीनां तिस्रस्तिस्त्रः नक्ष-
त्राणां पञ्चपञ्चेति । अन्ये त्वाहुः—राशीनां घटिकार्धं तिथीनां घटिका-
द्वयं भानं पादोनं घटिकाचतुष्कं तथा च नारदः—

कुळीरसिंहयोश्चापकीटयोर्मौनमेषयोः ।
गण्डान्तमन्तराळं स्यात् घटिकार्धं मृतिप्रदम् ।
पूर्णानन्दाख्ययोस्तिथ्योस्सन्धिर्नाडीद्वयं तथा ।
गण्डान्तं मृत्युदं जन्मयात्रोद्वाहव्रतादिषु ।
सार्पेन्द्रपौष्णभेष्वन्त्यषोडशांशा भसन्धयः ।
तदग्रभेष्वाद्यपादपादं गण्डान्तसंज्ञितम् ।

इति । अपरे च—

सार्पेन्द्रपौष्णधिष्ण्यानां अन्त्यपादा भसन्धयः ।
तदग्रभेषु पादार्धं गण्डान्तं नाम कीर्त्यते ।

इति । तिथ्यृक्षादिसन्धयश्च वर्ज्याः । अत्र भरद्वाजः—

अशुभास्सर्पनक्षत्रसन्धयस्तिथिजास्तथा ।
द्वेद्वे तयोस्तु संयोगे वर्ज्यास्सप्तार्धनाडिकाः ।
अवमाधिकमासान्ते वर्षस्यान्ते तथैव च ।
राश्यन्ते च मुहूर्तान्ते वर्जयेत् प्रयत्नतः ।
तिथिसन्धिद्वयं यस्मिन् दिने म्यात्तदिनं त्यजेत्

यच्छीपतिः—

यत्रैकं स्पृशति तिथिद्वयावसानं
वारश्चेदवमादिनं तदुक्तमार्यैः ।
यत्स्पर्शात् भवति तिथित्रयस्य चाह-
स्त्रिचुस्पृक् पुनरपि तद्वयं च नेष्टम् ।

गुरुश्च—

यदा चावमरात्राणि दृश्यन्ते तेषु शोभनम् ।
वर्जयेद्यत्नतो विद्वान् कृते तत्कुलनाशनम् ॥

इति । लग्नदोषानाह—

लग्नस्य दोषास्त्यज पापदृष्टि
पापोदयं चोभयपापतां च ।
अपापलाभारिसहोत्थतां च
शुभग्रहानाश्रितकेन्द्रतां च ॥ ७१ ॥

लग्नस्य दोषान् अनुक्तराशिभिर्भागादीन् वक्ष्यमाणान् पाप-
दृष्ट्यादीन् त्यजेति पुरस्थं पृच्छकं प्रत्युक्तिः । अनुक्तराश्यादयः
तत्तत्कर्माभिहितराश्यादिभ्योऽन्ये, यथा—कन्यातुलायुग्मराश्यंशा वि-
वाह उक्ताः । तदन्ये अनुक्ताः । तथा च नारदः—

तुलामिथुनकन्यांशा धनुरन्त्यांशकाः खलु ।
अप्यन्यांशाः शुभतरा यदि वर्गोत्तमाह्वयाः ।
अन्ये नवांशाः न ग्राह्याः यतस्ते कुनवांशकाः ।
कुनवांशकलग्नं यत् त्याज्यं सर्वगुणान्वितम् ।

इति गार्ग्यः—

धनुरजवृषकन्याः स्वाद्यदृक्काणगृध्राः
षट्हरितुल्युग्मा मध्यदृक्काणगृध्राः ।
मकरस्रषकृळीरा वृश्चिकान्त्या वराहा
यदि भवति विलग्नं जीवितान्तं करोति ॥

अत्र ।

मेषांशादिषु वृश्चिचादिविलग्नः प्रकीर्तिताः ।
विलग्नो कृतं कर्म कुलक्षयकरं भवेत् ।

इति । तथा पापदृष्ट्यादीन् पञ्च लग्नदोषांस्त्यज । पापदृष्टिः पूर्णा
न्यूना वा ग्राह्या । तत्फलं च तादृशं । यद्भरद्वाजः—

द्वितीयं द्वादशं षष्ठं निधनं च विना ग्रहाः ।
निरीक्षन्ते यथा सारं सर्वं दृष्टिवशात् फलम् ॥

इति । पापेद्यश्च राश्यन्तरस्थोऽपि लग्नभावाद्यन्तान्तर्गतो ग्राह्यः ।
यद्भराहमिहिरः—

लग्नस्य ? येऽशाऽभ्युदितो ग्रहो य-
स्तेषु स्थितो लग्नफलं स दत्ते ॥

इति । उभयपापता—पापद्वयाश्रितोभयपार्श्वत्वं कर्तरी इति । यद्गुरुः—
वक्रचारौ यदा पापौ द्वितीये द्वादशे स्थितौ ।
तदा कर्तरियोगस्स्यात् महादाषो विलग्नतः ।

अत्र द्वितीयस्थश्चेदयं दोषः, तदैव लग्नस्य पापद्वयस्याभिमुख्यतं-
भवात् । यन्नारदः—

लग्नाभिमुखयोः पापग्रहयोरुभयस्थयोः ।

इति । लाभारिसहोत्थेषु पापा न सन्तीति अपापलाभारिसहोत्थं
एकादशषष्ठतृतीयेषु पापानामन्वस्थानं, शुभग्रहैरनाश्रितानि केन्द्रा-
ण्यस्येति शुभग्रहानाश्रितकेन्द्रं केन्द्रे शुभानवस्थानं, एतान् वर्ज-
येत् । अत्र भरद्वाजः—

अकर्मण्यं बलाद्धीनं शुभस्येक्षणवार्जितम् ।

लग्नं तत्परिहर्तव्यं पापैर्दृष्टयुतं तथा ॥

यत्नारदः—

कर्तरीदोषदुष्टं यत् लग्नं तत्परिवर्जयेत् ।

अपि सौम्यग्रहैर्युक्तं गुणैस्सर्वैस्समान्वितम् ।

सर्वे पापग्रहाः एकादशस्थिताः ।

तेष्वेकोऽपि यदि श्रेष्ठः लग्नं निन्दितमन्यथा ।

भरद्वाजः—

केन्द्रैश्चतुर्भिस्संपन्नैर्होरासंपादिहोच्यते ।

एकत्राशुभसंयुक्ते नेष्टं श्रेष्ठं शुभैर्युते ।

इति । चन्द्रदोषानाह—

रिफ्काऽऽवासं पापवर्गप्रवेशं

वेलावस्थाकर्मणां चाशुभत्वम् ।

प्रोक्तांश्चेन्दोः सर्वकार्येषु जह्यात्

ज्ञातं चान्यदुन्निमित्तं क्षुताद्यम् ॥ ७२ ॥

इन्द्रोः रिफ्काऽऽवासं—द्वादशभावस्थितिं, पापवर्गप्रवेशं, वेलादी-
नामशुभत्वं, प्रागुक्तान् पापदृष्ट्यादींश्च पञ्च एतान् दोषान् सर्व-
शुभकार्येषु वर्जयेत् । नारदः—

। ङष्टरिप्फगे चन्द्रे तल्लग्रं दोषसंयुतम् ।
तल्लग्रं वर्जयेद्यत्नादपि जीवसितान्वितम् ।
उच्चगे नीचगे वाऽपि मित्रगे शत्रुराशिगे ।
अपि सर्वगुणोपेतं दम्पत्योर्मरणप्रदम् ।

दम्पत्योरिति कर्तुरुपलक्षणं यदन्ये—

षष्ठगोऽष्टमगोऽन्त्यस्थः सपापः पापवीक्षितः ।
दुष्कर्मा षड्विधश्चन्द्रो मृत्युदः पक्षयोर्द्वयोः ।

इति । अत्रिः—

शुभदृष्ट्युदया वर्गा वर्ज्यर्क्षेऽपि शोभनाः ।
पापोदयदृ(का)गाणाद्याः प्रोक्तर्क्षेऽपि वर्जिताः ।
स्वांशस्थो दोषदः कृष्णे चन्द्रस्त्वोच्चे सिते शुभः ।

अन्यैवर्चातिरेकेणोक्तं—

अंशकवशेन चन्द्राद्विदुः फलं सर्वकार्येषु ।
तस्मात् शुभांशसहिते सर्वारम्भः प्रयोक्तव्यः ।

इति । नीचशत्र्वंशादयश्च वर्ज्याः । तथाच भरद्वाजः—

प्रशस्तपक्षे शुभदे शशाङ्के
नीचारिनाशांशकवर्जिते च ।
शुभग्रैर्हवीर्ययुतैस्तु दृष्टे
चन्द्रे भवेत् श्रेष्ठतमं विलम्बम् ।
उपचयराशौ चन्द्रयुक्तक्षेत्रेऽपि विग्रहे
शुभैर्दृष्टे शुभांशस्य शुभद्वस्तर्वर्कमसु
सौम्यग्रहयोर्मध्ये यदि तिष्ठेत् शुभः शशी ।

पापग्रहाद्विनिर्मुक्तः चन्द्रस्याद्विदस्तथा ।

इति ।

चन्द्रलग्नयोरष्टमषष्ठराश्यंशा वज्र्याः, यदुक्तं तेनैव—

नैधनं मरणं षष्ठे व्याधिश्चन्द्रस्थितांशके ।

चन्द्रस्यैव तथा लग्नात् जन्मराशेस्तथैव च ।

इति ।

शिष्टं लग्नस्थोक्तं चन्द्रस्यापि समं । यस्मात्तयोरविशेष-
लत्वम्, तथाच भरद्वाजः—

चन्द्रयुक्तं शरीरं स्यात् लग्नं तु प्राणसंज्ञकम् ।

तावुभौ संपरीक्ष्यैव कर्तव्यं श्रेय इच्छता ।

इति । तथा ¹तात्कालिकं ज्ञातं क्षुताद्यं दुर्निमित्तं च त्यजेत् यदुक्तं—
सर्वतः क्षुतमशोभनं विदुः

इति । आद्यशब्देन छिन्धि छिन्धि इत्यादि दुरुक्तं गृह्यते । अन्यच्च
कलहाक्रोऽऽशरोदनादि त्यजेत् । यथोक्तं नारदेन यात्राध्याये—

महिषास्त्रभुजां युद्धे कलत्रकलहागमे ।

वस्त्रादेः स्वल्पेन क्रोधे दुरुक्ते न व्रजेत् क्षुते ।

इति । परस्तादेतत्प्रपञ्चायिष्यामः ।

वेलादीनामशुभत्वं वर्ज्यमित्युक्तं कास्ता वेलाद्या इत्यत्राह—

इन्दोर्लिप्ताः खाऽऽकाशेभै-

र्हत्वा शिष्टास्तिथ्यग्रयङ्कैः ।

¹ तत्काले.

² वेला इ.

हत्वा खाभ्रश्रोत्रैर्लब्धाः

कर्मविस्थावेला ज्ञेयाः ॥ ७३ ॥

तात्कालिकस्य राश्यादिभिस्सह कलीकृतस्येन्दोः लिप्ताः अष्टा-
भिश्शतैर्विभज्य लब्धानि गतमानि स्युः, अवाशिष्टकलापिण्डं राशी-
कृत्य प्रथमं पञ्चदशभिः द्वितीयं त्रिभिः तृतीयं नवभिः हत्वा
विंशत्या पृथक्पृथक् विभज्याप्ता सैका कर्मविस्थावेला भवन्ति ॥

काऽत्रोपपत्तिः—एकस्मिन्नक्षत्रे षष्टिकर्माणि द्वादशावस्थाः
षट्त्रिंशद्वेलाः एतै (ते गु) गुणकाराः एकनक्षत्रलिप्ताः, अष्टशतानि भाग
हारः । तेषामपवर्तनात् तिथ्यग्रचङ्काः गुणकाराः विंशतिर्भागहा-
राश्च भवन्ति । तत्रेदं पुनस्त्रैराशिकं—पूर्णनक्षत्रतिलिप्ताभिः कि-
यत्यश्रन्द्रक्रियादयः भुक्तिलिप्ताभिः कियत्य इत्यत्र तिथ्यग्रचङ्काः
फलराशयः विंशतिः प्रमाणराशिः भुक्तिलिप्ता इच्छाराशिः लब्धा-
श्रन्द्रक्रियादयः । अत्राऽऽर्थभटः—

त्रैराशिकफलराशिं तमथेच्छाराशिना हतं कृत्वा ।

लब्धं प्रमाणभाजितं तस्मादिच्छाफलमिदं स्यात् ।

इति । चन्द्रक्रियास्तावदाह—

स्थानभ्रष्टस्तपस्वी परयुवतिरतस्तस्करो ह-
स्तिमुख्यारूढस्सिंहासनस्थो नरपतिररिहा दण्ड-
नेता गुणी च । निष्प्राणश्छिन्नमूर्धा क्षतकरचर-
णो बन्धनस्थो विनष्टो राजा वेदानधीते स्वपिति
सुचरितं संस्मरन् धर्मकर्ता ॥ ७४ ॥

सद्वंश्यो निधिसंगतः श्रिततुलो व्याख्यापर-
शत्रुहा रोगी शत्रुजितः स्वदेशचलितो भृत्यो
विनष्टार्थकः । आस्थानी च समन्त्रकः परमहीह-
र्ता सभार्यो गजत्रस्तः संयुगभीतिमानातिभयो
लीनोऽन्नदाताऽग्निगः ॥ ७५ ॥

क्षुद्धावासहितोऽन्नमत्ति विचरन् मांसाशनोऽ-
स्त्रक्षतः सोद्वाहो धृतकन्दुको विहरति द्यूतैर्नृपो
दुखितः । शय्यास्थो रिपुसेवितश्च ससुहृत् ध्यानी
च भार्यान्वितो मृष्टाशी च पयः पिबन् सुकृतकृत्
स्वस्थस्तथाऽऽस्ते सुखम् ॥ ७६ ॥

एताश्चन्द्रक्रियाः पञ्चपञ्चाजादिषु राशिषु ।
प्रकल्प्य तत्समं ब्रूयात् सर्वकार्येषु तत्फलम् ॥ ७७ ॥

स्थानाङ्गष्टः । तपस्वी—तपश्चरति । नृपती—राजादिसेवितः ।
अरिहा—शत्रूणां हन्ता । गुणी—षड्गुणयुक्तः । छिन्नपाणिपादः ।
स्वदेशभ्रष्टः । राजा—प्रजारजनकृत् । स्वपति—निद्रां करोति । सुचरितं—
स्वधर्मं स्मरति । भूदानादिधर्मस्य कर्ता । सद्वंश्यः—सद्वंशे संभवन्नि ।
निधिसंगतः—निधानं लभते । श्रिततुलः—सुवर्णतुलामारोहति । शि-
ष्येभ्यो व्याख्यापरः । शत्रून् कामादिषड्विपून् हन्ति । रोगी—ज्वर-
रोगार्तः । शत्रुभिः पराजितः स्वदेशात् शत्रुभिर्निर्वासितः । अन्य-
माश्रित्य दासवत्त्या जीवति । विनष्टार्थः—शत्रुहृतधनः । आस्थानगतः

नन्त्रिभिस्सेवितः । शत्रुराज्यमपकर्षति । भार्यया सहैकासनगतः । गज-
हस्तात्तस्तः । शत्रुतोऽतिभयवान् भीत्या क्वापि लीनः । विप्रेभ्योऽन्नदाना ।
अग्निगः—अग्नौ पतति । परमान्नं भुङ्के । विचरन् भुक्त्वा शनैः पर्यटति ।
नरमांसाशनः । सोढाहो वधूकरं गृह्णाति । क्रीडार्थं घृतकन्दुकः ।
नृपः—महाराजपदाश्रितः । दारिद्र्यदुःखवान् । आधिभिः शय्यां
भजते । मुह्यत्परिवृतः । योगध्यानयुक्तः । भार्याऽन्वितः पत्न्या सह
गृहस्थधर्मं करोति । पयः पिबन् पायसभुक् । सुकृतकृन् अति-
थिपूजां करोति । स्वस्थः आरोग्यवान् आसने सुखमास्ते । एता-
प्षष्टिश्रन्द्रक्रियाः द्वादशधा विभज्य मेषादिराशिषु पञ्चपञ्च प्र-
करूप्य तासां तत्तत्क्रियागुणुणं ब्रूयात्, शुभक्रियायां शुभफलं पाप-
क्रियायां पापफलमित्यर्थः । तथाच गुरुः—

नक्षत्रे षष्टिकर्माणि कुर्यादिन्दुशुभाशुभान् ।
नक्षत्रषष्टिभागेषु प्रथमं पञ्चकं क्रिये ।
द्वितीयं पञ्चकं चोक्षिग तृतीयं मिथुन उच्यते ।
एवं च राशयोऽन्येषु पञ्चकैर्नवभिः क्रमान् ।
स्थाननाशस्तपश्चेन्द्रोः परनारीरतिः क्रमात् ।
चौर्यं नागाधिरोहश्च मेषे कर्माणि वृत्रहन् ।
सिंहासनस्थितो राजा राजभिस्सेवितश्शशी ।
रिपुहन्ता च सेनानीः वृषभे पञ्चके गुणी ।
प्राणहानिः शिरश्छिन्नः पाणिपादविनाशनः ।
बन्धितो देशनाशश्च मिथुने शीतलोः क्रियाः ।
राजा सुवेदाध्यायी च स्वायि धर्मं स्मरन् शशी ।
धर्मकर्ता च पञ्चैताः कुळीरे कुरुते क्रियाः ।
सद्वंशे संभवश्चन्द्रो निधि(क)धर्मतुलामपि ।

आरोहेन् व्याख्यया युक्तः सिंहे शत्रुविमर्दनः ।
 उन्नतार्तः स्थानविभ्रष्टः (ध्वस्त) शत्रुभिर्देशतो गतः
 अन्यमाश्रित्य कन्यायां वसेद्विपुद्गतार्थकः ।
 आस्थानस्थो भवेच्चन्द्रो मन्त्रिभिश्च ततः परम् ।
 रिपुराष्ट्रहतो वाऽपि सजानिर्गजहस्ततः ।
 सन्नस्तो युद्धभीरुश्च भयार्तः क्वापि चाऽऽवसन् ।
 विप्राणामन्नदाता च वृश्चिकेऽग्नौ पपात च ।
 दुधार्तश्चान्नभोक्ता च विचरन्नरमांसभुक् ।
 कुठारनिहतश्चन्द्रश्चापे पञ्चगुणा अमी ।
 सुस्त्रीणां तु करग्राही तासां कन्दुकभृन् शशी ।
 द्यून् रतो महाराजः दुःखी च मकरे भवेत् ।
 शेते रिपुनृपैस्तेव्यो मित्रराजभिरेव च ।
 मुनिभिर्योग्यव्यानी च सजानिश्च घटे शशी ।
 मृष्टान्नाद्याशनो मीने पायसाशी च पायसम् ।
 दत्त्वान्नं नृत्यति स्मेन्दुः स्वस्थ आस्ते सुखासनः ।
 एवं चन्द्रगुणाद्वेषु शुभेषु शुभमाचरेत् ।
 सर्वदोषा विनश्यन्ति विशेषात् स्थापनाविधौ ।
 प्रश्नकाले गुणश्चेन्दोश्शुभो यदि शुभप्रदः ।
 प्रश्नश्चाशुभकर्मस्थे चन्द्रे प्रश्नोऽशुभप्रदः ।

इति । चन्द्रावस्था आह—

आत्मस्थानात्प्रवासो महितनृपपदासक्तता प्रा-
 णहानिर्भूपालत्वं स्ववंशोचितगुणनिरती रोग आ-
 स्थानगत्वम् । भीतिः क्षुद्धाधितत्वं युवतिपरिणयो

रम्यशय्यानुषक्तिः मृष्टाशित्वं च गीता इति भव-
नवशात् सद्भिरिन्दोरवस्थाः ॥ ७८ ॥

नृपपदं—सिंहासनं तदपाश्रयणं । भूपालत्वं प्रजारजनका-
रित्वं, स्ववंशोचितगुणा—औदार्यशौर्यपाण्डित्यादयः तेषु निरतत्वं ।
रोगो—ज्वरार्तिः । शत्रोर्भीतिः । एता द्वादश चन्द्रस्यावस्थाः,
राशिवशाद्भवन्ति । मेषादावेकैकस्मिन् राशौ एकैकाऽवस्थेत्यर्थः ।
उक्तं च—

चन्द्रस्य द्वादशावस्था राशौराशौ यथाक्रमम्
यात्रादिप्रश्नसमये संज्ञातुल्यफलप्रदाः ॥

इति । केचिन्—राशौराशौ द्वादशावस्था आहुः, उक्तं च—

षष्टिभ्रं चन्द्रनक्षत्रं तत्कालघटिकाऽन्वितम् ।
वेदघ्नमिषुवेदासमवस्था भानुभाजिताः ॥

इति । श्रापतिः—

प्रवासनष्टाख्यमृताजयारुया
हास्यारतिक्रीडितसुप्तभुक्ताः ।
ज्वराऽऽह्वयाकम्पितसुस्थिते च
द्विषट्कसङ्ख्या हिमगोरवस्थाः ॥

इति । केचिद्वर्णसङ्ख्या शुभाङ्गतमसासंपच्चरुतेजसङ्ख्यनक्षत्रघटीषु
प्रवासाद्यवस्थाः कल्पयन्ति ।

प्रवासस्वस्थनष्टारुयाहसितो विजयी ज्वरी ।

रतिर्मृतोपवासश्च क्रीडितस्सुप्तभुक्तिदा ।

VIDYAMADAVIAM.

इति केचिदाहुः । अन्ये—

प्रोत्थस्वस्थो मृतो जातो हसितो रमितश्शशी ।

स्नातो भुक्तश्च सुप्तश्च कम्पितो ज्वरितस्सुखी ॥

इति । वेला आह—

मूर्धाऽऽमयो मुदितता यजनं सुखाऽऽस्था ने-
त्राऽऽमयः सुखितता वनिताविहारः । उग्रज्वरः
कनकभूषणमश्रुमोक्षः क्ष्वेळाशनं निधुवनं जठ-
रस्य रोगः ॥ ७९ ॥

क्रीडा जले हसनचित्रविलेखने च क्रोधश्च
नृत्तकरणं घृतभुक्तिनिद्रे । गानक्रिया दशनरुक्कलहः
प्रयाणमुन्मत्तताऽथ सलिलाऽऽप्लवनं विरोधः ॥ ८० ॥

स्वेच्छास्थानं क्षुद्रयं शास्त्रलाभः स्वैरं गोष्ठी-
योधनं पुण्यकर्म । पापाचारः क्रूरकर्म प्रहर्षः
प्राज्ञैरेताश्चन्द्रवेलाः प्रदिष्टाः ॥ ८१ ॥

यजनं—देवपूजाकरणं । आस्था—आसनं । निधुवनं—सुरतं ।
आप्लवनं मज्जनं । क्षुद्रयं—क्षुधार्तिः । शास्त्रस्य लाभः—श्रवणं
प्रहर्षः—मनःप्रीतिः । एताः षट्त्रिंशत् चन्द्रवेलाः । उक्तं च—

शिरोरोगो महाप्रीतिः देवकार्यं सुखासनम् ।

नेत्ररोगस्सुखं कर्म नारीक्रीडा महाज्वरः ।

सुवर्णभूषणं साश्रुविषभुक्तिश्च मैथुनम् ।

क्षिरोगो जलक्रीडा हसनं चित्रलेखनम् ।
 गोधनं नृत्तकरणं घृतभुक्तिस्मुनिद्वजा ।
 गान्धर्वं दन्तशूलं च कलहं चैव गच्छति ।
 उन्मादस्तनानकार्यं च विरोधश्चैव तिष्ठति ।
 क्षुधा च शास्त्रश्रवणं स्वैरं गोष्ठी च युध्यते ।
 सत्कर्मा पापकर्मा च क्रूरकर्मा प्रहर्षितः ।

इति । एताः मेषादिषु तित्त्वस्तित्त्वः प्रकल्प्य संज्ञासमं फलं वदेत् ।
 दोषाध्यायमुपसंहरति—

इत्थं विद्यामाधवीयेऽनवद्यै-
 ह्यैः पद्यैर्गुम्भितोऽस्मिन्नशीत्या ।
 निर्दोषोऽपि द्योतितादोषदोषो
 दोषाध्यायः पूर्ण आसीद्वितीयः ॥

इति विद्यामाधवीये दोषाध्यायो द्वितीयः.

अनवद्यैः—पदवाक्यवाक्यार्थदोषरहितैः तद्गुणसंपन्नतया रम-
 णीयैः । अशीत्या पद्यैः रचितः पुनरुक्तातिविस्तरादिदोषरहितः प्रक-
 टितसर्वमुहूर्तदोषः दोषाध्यायः संपूर्णोऽभूत् ।

इत्थं विद्यामाधवीये मुहूर्तोऽऽदर्शो
 विद्यामाधवस्यात्मजेन ।
 व्याख्यातोऽभूत् विष्णुनैव द्वितीयो
 दोषाध्यायस्सर्वदोषाभिधायी ॥

इति विद्यामाधवीयव्याख्यायां मुहूर्तदीपिकायां दोषा-

थापवादाध्यायस्तृतीयः.

तत्र तावत् शुभकर्मचिकीर्षुभिरपि पुरुषैरल्पभाग्यैरशेषदोषरहि-
तमुहूर्तस्य दुर्लभत्वात् उत्सर्गाणामपवादवैवर्थावृत्तिदर्शनाच्च उत्सर्गा-
णामपवादगुणान् वक्ष्ये इति प्रतिजानीते—

दोषैरमीभिरखिलै रहितं मुहूर्तं
लोकः कलौ न लभते खलु मन्दभाग्यः ।
ते यान्ति नाशमपवादगुणैर्यतोऽस्मात्
तेषां क्रमादभिदधेऽहमिहापवादान् ॥

इह—अध्याये दोषाणां क्रमेणापवादान् वदामि । यस्मा-
दुक्तैरशेषदोषैः रहितं मुहूर्तं कलावल्परदैवैः पुरुषैर्न लभ्यते । कथं
तर्हि शुभक्रियाः कार्या इत्यत्राऽऽह—यतो दोषास्सन्तोऽपि अपवाद-
गुणैर्नाशं यान्ति, तथाचोक्तं—

ये दोषास्स्वापवादस्ते सत्सु चाभावतां ययुः ।

यथा पापा ययुस्सर्वे प्रायश्चित्तरभावताम् ।

इति । न केवलं स्वापवादैः, गुणैश्च दोषा नश्यन्तीत्यन्ये, तथाच गुरुः—

दोषाश्च गणितास्सर्वे गुणेभ्यो बहवः कलौ

तथाऽपि दोषा नश्यन्ति स्वापवादैर्गुणैरपि ।

इति । अपवादैर्गुणैश्चेति द्वन्द्वः । ननु अपवादगुणानामेव दोषबाध-
कत्वं नान्येषां यद्वल्लः—

गुणशतमपि दोषः कश्चिदेकोऽपि विद्धं
क्षपयति यदि नान्यस्तद्विरोधी गुणोऽस्ति ।

घटमिव परिपूर्णं पञ्चगव्यस्य शक्त्या
मलिनयति सुराया बिन्दुरेकोऽपि सर्वम् ॥

इति । नैतत् बलवतां तदन्येषामप्यस्येव । यस्मात् गुरुः—

दोषलक्षणसद्भावे सत्यप्यतिबले गुणे ।
अभावतैव दोषाणां व्यत्यये व्यत्ययो भवेत् ॥

इति । मैवं वादीः, महादोषास्तु गुणप्राबल्येन गुणबाहुल्येन वा न
बाध्यन्ते । यस्मात् भरद्वाजः—

यथा चाऽऽशीविषं लोके तथा दोषान् गुरुन् विदुः ।
इतरेषु तु विज्ञेयं बहुलं च बलाबलम् ॥

इति । एवं तर्हि ब्रूमः, महादोषाणामेव स्वापवादगुणैर्बाध्यत्वमस्तु, तद-
न्येषां गुणान्तरेर्बाध्यत्वमिति । तेष्वपि बलाबलमन्वेष्टव्यम् । यथा
गुरुः—

न सङ्ख्याभिर्बलं चिन्त्यं गुणदोषेषु सूरिभिः ।
स्वभावकथितैरेव बलैर्योज्यं हि कालजैः ॥
यस्य प्रबलभावस्स्यात् तयोस्तस्यैव भावंना ।
नास्तिता दुर्बलस्यात्र कालोत्थगुणदोषयोः ॥

इति । छिद्रापवादमाह—

शुभकर्मणि बलिनीन्दौ छिद्रास्तिथयः क्रमाच्च-

तुथ्याद्याः । नवनवमनुतत्वदिशांशरघटिकाभ्यः
परं शुभा ज्ञेयाः ॥

चन्द्रे बलवति सति चतुर्थ्याद्याः षट् तिथयः क्रमेण नवादि-
घटीरतीत्य परतः शिष्टाः शुभकर्मणि शुभाः । यथा चतुर्थीषष्ठ्यौ
नव, अष्टमी चतुर्दश, नवमी पञ्चविंशती, द्वादशी दश, चतु-
र्दशी पञ्च घटीरतीत्य परतश्शुभाः । तथाच गुरुः—

पक्षछिद्राऽऽह्वयेष्वेषु तिथिष्वेताश्च नाडिकाः

क्रमात्तिथ्यादितो दोषाः शुभकार्येषु वर्जिताः ।

भूत-क्लमनुतत्वाङ्कदशशेषास्सुशोभनाः

पक्षछिद्रोक्तनाडीषु शत्रुमारादि कारयेत् ॥

इति । एतच्च तिथेश्चन्द्राधीनत्वादुक्तं, तथाच भरद्वाजः—

तिथिमूलमिदं सर्वं कालनक्षत्रसङ्ग्रहम्

तिथिनक्षत्रयोस्सिद्धौ यो हेतुश्चन्द्र उच्यते ।

चन्द्रस्य क्षयवृद्धिभ्यां विज्ञेयाऽत्र तिथिस्सदा

यदा पञ्चदशो भागो वर्धते क्षीयतेऽपि वा ॥

कालेन यावता चन्द्रः स कालस्तिथिरुच्यते ।

इति । अतश्चन्द्रस्य सर्वबलसंपत्तौ कात्स्नर्च्येन तिथयश्शुभाः, मध्य-
बलत्वे प्रोक्तघटिकाभ्यः परं शिष्टाः । अल्पबलत्वे कात्स्नर्च्येन
निन्द्या इति सिद्धम् । जीवकेन्द्रे चन्द्रश्छिद्रशेषादित्यत्रिः । तथा च—

केन्द्रे जीवस्य पूर्णेन्दुशुभेऽहि छिद्रशेषहा ।

इति । पापवारापवादमाह—

देवाऽऽराधनमन्त्रभेषजविधौ वाजिद्विपाऽऽरोहणे

भूपानामभिषेचने व्रतविधौ विद्याकृषिप्रक्रमे ।
गार्ग्योऽर्कस्य शुभं जगाद दिवसं दृष्टस्य सौम्यैः परे
सर्वेष्वम्बरधारणाञ्च भवनारम्भादृते केचन ॥

देवाऽऽराधनं—देवार्चनारम्भः । मन्त्रविधिः मन्त्रदीक्षास्वीकारः ।
भेषजविधिः औषधप्रयोगः । वाजिद्विपग्रहणं अन्येषां यानाना-
मुपलक्षणं । व्रतानि काम्यानि प्रक्रमः—आरम्भः । एतेष्वष्टकर्मसु
अर्कस्य दिनं गार्ग्यः शुभं जगाद । परे भरद्वाजादयः सौम्य-
ग्रहदृष्ट्यार्कस्य दिनं सर्वकर्मसु शुभमाहुः । केचित् वस्त्रधारणं
गृहारम्भं वर्जयित्वा अन्येषु कर्मस्वर्कदिनं शुभमाहुः । गार्ग्यः—

आरोहणं वाजिगजेश्वराणां
मन्त्रौषधं देवगृहार्चनं च ।
नृपाभिषेकं च हिरण्यदानं
विद्याकृषिश्चार्कदिने प्रशस्ता ॥

इति । भरद्वाजः—

अङ्गारकस्य सौरस्य दिवसौ द्वौ विवर्जयेत् ।
भास्करोऽपि शुभैर्दृष्टः कार्यदोषं न यच्छति ।

अन्ये—

सूर्यवारोऽम्बरादानं गृहकार्यं विना शुभः ।

इति । स्वोच्चसहस्रहस्थे ग्रहे तद्दिनं शुभम् । नीचारिगृहस्थे नेष्टम् ।
तथाच भारद्वाजः—

स्वक्षेत्रोच्चक्षेत्रेषु दिनेशो वृद्धिमावहेत् ।
शेषा दोषकरा ज्ञेया विफलाय तथैव च ।

यस्य प्रभुग्रहः क्रूरः शस्तं तत्तस्य योजयेत् ।
शुभकर्मसु नेष्टव्यः स्थानयोगेषु दारुणः ।

नारदः—

बलप्रदस्य खेऽटस्य वारे सिद्ध्यति यत्कृतम् ।
तत्कर्म बलहीनस्य दुःखेनापि न सिद्ध्यति ।

श्रीपतिस्तु—

वारे ग्रहस्योपचयाऽऽवहस्य
कार्यं यथोद्दिष्टमूपैति सिद्धम् ।
भवेत्तदेवापचयाऽऽवहस्य
प्रयत्नतो निर्मितमप्यसाध्यम् ।

गुरुः—

पापग्रहोऽपि वारेऽशो लग्नात्त्रयाचारिविक्तगः ।
स्ववारकथितं दोषं न शुभेषु प्रयच्छति ।

भरद्वाजः—

भौमभास्करवर्गभ्यां मृदुकार्याणि वर्जयेत् ।
अत्युष्णं दारुणं रूक्षं रिक्तं चैव समाचरेत् ।
क्षिप्रसाध्यं महायत्नं दुस्साध्यं क्रूरमेव च ।
आरम्भे भास्करस्योक्तं वर्गे सौम्यनिरीक्षिते ।
चन्द्रशुक्रस्ववर्गभ्यां क्रूरकर्माणि वर्जयेत् ।
मृदुशीतलसौम्यानि शुभकर्माणि साधयेत् ।

इति । किञ्च—

स्वाभिहितकर्मसु सर्वे वाराश्शुभा एव । यस्मात्तेषु तानि
नियतानि, तानि चोक्तानि रक्षेन—

कुर्यात् मङ्गलपौष्टिकानि नृपतेर्यात्राभिषेकौ तदा
सेवाभेषजचर्मवर्मकनकग्राह्याग्रकर्माणि च ।

विद्याज्ञान(व)परव्रतानि भवनं शिल्पं रणं साहसं
क्षिप्रालङ्कारणे दिने दिनकृतो लग्नस्थिते वा रवौ ॥

दिवाकार्यं तु—

सेवापण्यविभूषणाम्बुगमनं गीतं तथा भेषजं
वृक्षाऽऽरोपणसेतुधान्यसलिलक्षिप्रणि देवाऽलयम् ।
यज्ञं शान्तिकपोष्टिकानि भवनं रत्नक्रिया कर्षणं
वाणिज्यं सरसायन पितृमखं मङ्गल्यमप्यैन्दवे ॥
रक्तस्त्रावविषास्त्रकर्महुतभुग्दाहानि वादं रणं
शत्रोर्बन्धविधिं च दुष्टदमनं सेतुप्रभेदं तथा ।
वृक्षोच्छेदनभेदनानि मृगयां चौर्यं तथा साहसं
सेनान्यं कृषिकर्म धातुकरणं भौमस्य लग्नेऽह्नि वा ॥
मङ्गल्यध्रुवपौष्टिकानि सलिलाचर्यां तथा भेषजं
सेवा पण्यविभूषणानि च तथा बीजोत्तियुक्तिक्रिये ।
राज्ञामप्यभिषेचनं परमथ क्षेत्रं च मैत्रं लिपिं
विद्याशिल्पविवाहवाहनविधिं सन्धिं च बौधेऽह्नि ॥
देवार्चां गुरुसेवनं व्रताविधिं यज्ञक्रियां पौष्टिकं
यात्रां च ध्रुवकर्म शिल्पमपि च ¹क्षिप्रं प्रतिष्ठामपि ।
विद्यारम्भमध्निकार्यमसकृज्जातक्रियां वैदिकं
मङ्गल्यानि बुधोदितानि च गुरोर्लग्नेऽह्नि वा कारयेत् ॥
उद्धाहं गमनं तुरङ्गजयोः पूर्वं तथा वाहनं
मङ्गल्यध्रुवपौष्टिकानि भिषजां कर्माणि शिल्पान्यपि ।
नानारत्नविभूषणानि सुरतं ²दृष्योपयोगांस्तथा
यत् प्रोक्तं बुधजीवयोश्च दिवन्ने कुर्याद्दिने तद्भूगोः ॥

¹ क्षिप्रप्रतिष्ठामपि ² दृष्योपयोगां

दासीदासखरोष्ट्रपाक्षिमहिषी¹लोहास्यनार्याश्मकां
 नली²कङ्कटचर्मसङ्ग्रहमथ क्षामास्त्रयोगानपि
 दीक्षां भिक्षुजनस्य वेश्मविशनं कर्म ध्रुवं बन्धनं
 भौमोक्तं च शनेर्विवाहसहितं कूयात् न सत्पौष्टिकम् ॥

इति । तेषां कालहोरास्वापि कार्यम् । उक्तं च—

ग्रहदिवसे यत्प्रोक्तं वर्षे मासे च कालहोरायाम् ।
 विद्यात् कर्मगुणमेतत्(?) सौम्ये केषां च समवाये ॥

इति । तिथयोऽप्येवं, उक्तं च नारदेन —

चित्रलेख्योत्सवक्षेत्रयानशय्यासनादिकम् ।
 वृक्षच्छेदनलोहाश्मकर्म प्रतिपदीरितम् ॥
 पुरग्रामप्रवेशं च

अन्ये—

मङ्गल्यमौल्लियात्राश्च मुरस्थापनमौषधम् ॥
 ग्रहणं पौष्टिकं कर्म द्वितीयायां विधीयते ।
 प्रतिष्ठाशिल्पबीजोसिविद्या निखिलमङ्गलम्
 अश्वदिदमनं गानं तृतीयायां विभूषणम् ।
 अथर्वणविषाग्रचस्त्रबन्धनोच्चाटनादिकम्
 चौर्ययात्राऽऽदिकं कर्म रिक्तास्वेव विधीयते
 यानोपनयनोद्वाहगृहशान्तिकपौष्टिकम् ।
 चरस्थिराखिलं कर्म पञ्चम्यां मङ्गलोत्सवम्
 मारणोच्चाटनं चैव बन्धनं विषदापनम् ॥
 तथाऽन्यत्क्रूरकर्मापि षष्ठ्यां चैव तु कारयेत् ।
 कर्षणं भूषणं चैव गमनागमने तथा

¹ लोहास्यनार्यात्मनां ² नीलाकण्टकचर्म

शोभनं ध्रुवकर्माणि सप्तम्यां कारयेन्नरः ।
 सेनावाणिज्ययन्त्राश्मलोहसंग्रामभूषणम्
 शिवस्थापनशान्त्यादि कर्माष्टम्यां विधीयते ।
 प्रवेशं स्थापनं यानमुद्वाहव्रतमङ्गलम् ॥
¹शान्तिपुष्ट्यखिलं कर्म दशम्यां जलकर्म च ।
 रणोपदानवैवाहकृषिवाणिज्यभूषणम् ॥
 शिल्पं नृत्तगृहं यानमेकादश्यां विचित्रकम् ।
 चरस्थिराखिलं कर्म दानं शान्तिकपौष्टिकम् ।
 यात्राऽन्नग्रहणं त्यक्त्वा द्वादश्यां निखिलं हितम् ।
 अग्रचाधानं प्रतिष्ठा तु त्रिवाहव्रतबन्धनम् ।
 निखिलं मङ्गलं यानं त्रयोदश्यां ध्रुवं तथा ।

अन्यत्र—

मन्त्रयन्त्रप्रवेशं च क्षुद्रोपद्रवसाधनम् ।
 देवतापूजनं चैव चतुर्दश्यां तु कारयेत् ।

नारदः—

तैलस्त्रीमांसगमनदन्तकाष्ठोपनायनम् ।
 सक्षौरं पौर्णमास्यां च विनाऽन्यदखिलं हितम्
 पितृकर्मावास्यायां मुक्त्वा स्नानं जपाऽऽहुतिः
 न विदध्यात्प्रयत्नेन यात्किञ्चिन्मङ्गलादिकम् ॥

इति ।

आग्नेयादिभान्यपि विहितकर्मस्वत्याज्यानि । उक्तं च नारदेन—
 वस्त्रोपनयनक्षौरसमिन्ताभरणक्रिया ।
 स्थापना शिल्पयानास्त्रकृषिविद्यादयोऽश्वमे ।

रछः—

धनधान्यवाहनायुधपरिग्रहं दुष्टदमनमुग्रं च
विषमादिसाहस्रानां कुर्यात्कर्माणि भरणीषु ।

नारदः—

अग्न्याधानास्त्रशस्त्रोग्रसान्धिविग्रहदारुणाः ।
सङ्ग्रामौषधवादित्रक्रियाश्शस्ताश्च वह्निभे ।
सीमन्तोपनयोद्वाहवस्त्रभूषास्थिरक्रियाः ।
क्षेत्रवास्त्वभिषेकाश्च प्रतिष्ठा ब्रह्मभे शुभाः ।

रछः—

शान्तिकपौष्टिकवास्तुक्षुरकर्मविवाहयानशिल्पाऽऽद्याः
मृगशिरसि च कार्यं स्यात् विद्योपनयं सबीजोप्तिः ।

नारदः—

ध्वजतोरणसङ्ग्रामप्राकारास्त्र क्रियाश्शुभाः ।
बन्धविग्रहचौर्याऽऽद्याः साहसं कर्म शाङ्करे ।
प्रतिष्ठा यानसीमन्तवस्त्रवास्तूपनायनम्
क्षौराश्वकर्मादितिभे विद्याभूषणभेषजम् ।
यात्राप्रतिष्ठासीमन्तव्रतबन्धप्रवेशनम् ।
करग्रहं विना सर्वं कर्म देवेड्यभे शुभम् ।
साहसं दुष्टदमनं धातुवादौषधाऽऽह्वाः ।
विवाहवधवाणिज्यकर्म कद्रुजभे शुभम् ।
कृषिवाणिज्यगोधान्यरणोपकरणादिकम् ।
विवाहनृत्तगीताऽऽद्यं साहसं कर्म पैतृभे ।

विवाहविषयस्त्राग्निदारुणोऽहवादिभ्यः ।
 पूर्वात्रयेऽखिलं कर्म कर्तव्यं मांमविक्रयम् ।
 वस्त्राभिषेकसीमन्तविवाहव्रतबन्धनम् ।
 प्रवेशस्थापनाश्चैव वास्तुकर्मोत्तरात्रये ।
 प्रतिष्ठोद्वाहसीमन्तयानवस्त्रोपनायनम् ।
 क्षौरवास्त्वभिषेकाश्च भूषणं कर्म भानुभे ।
 प्रवेशवस्त्रसीमन्तप्रतिष्ठा व्रतबन्धनम् ।
 त्वष्ट्रभे वास्तुविद्याश्च क्षौरभूषणकर्म यत् ।
 प्रतिष्ठोपनयोद्वाहप्रवेशाम्बरभूषणम् ।
 बीजोत्तचश्वेभक्त्यादि क्षौरकर्म समीरभे ।
 वस्त्रभूषणवाणिज्यवसुधान्यादिमङ्गलम् ।
 इन्द्राग्निभे नृत्तगीतशिल्पलेखनकर्म च ।

लङ्घ्यम्—

ऐन्द्राग्नेऽग्निग्रहणं सुराऽऽलयाचीं प्रतिष्ठा च ।
 क्षेत्रोद्यानादीनामारम्भाश्च प्रशस्यन्ते ।
 प्रवेशस्थापनोद्वाहव्रतबन्धाष्टमङ्गलम् ।
 यात्राबीजोत्तिवास्त्वश्वा मैत्रभे सन्धिविग्रहम् ।
 क्षौरास्त्रवस्त्रवाणिज्यगोमहिष्यम्बुकर्म च ।
 इन्द्रभे नृत्तवादित्रशिल्पलोहाश्मलेखनम् ।
 विवाहकृषिवाणिज्यदारुणाऽऽहवऽभेषजम् ।
 नैऋते शिल्पनृत्तास्त्रसन्धिविग्रहलेखनम् ।

रङ्गः—

आप्ये कूपाऽऽरम्भे जलसेतुविधिक्रियाऽऽम्बुमोक्षश्च ।
 वापीतटाकूपरिखाप्रारम्भश्चैव कर्तव्यः ।

वैश्वेऽलङ्कारविधिः कन्यादानं तथा विवाहश्च ।
 स्थैर्यार्थाश्चाऽऽरम्भा गृहप्रवेशश्च कर्तव्यः ।
 प्रतिष्ठा क्षौरसीमन्तयानोपनयनौषधम् ।
 पुराःऽऽमगृहाऽऽरम्भं विष्णुभे पट्टबन्धनम् ।
 वस्त्रोपनयनक्षौरप्रतिष्ठा यानभेषजम् ।
 वसुभे वास्तुसीमन्तप्रवेशश्चैव भूषणम् ।
 प्रवेशस्थापनक्षौरमौञ्जीबन्धनभेषजम् ।
 अश्ववास्तु च भेषज्यं जलकर्म जलेशभे ।
¹अजैकपदे कुर्यात् साहसं कर्म वाहनाऽऽद्यं च ।
 परवधबन्धच्छेदाः परविभवो वा परग्रहश्चैव ।
 आहिर्बुध्नये सर्वं स्थैर्यार्थं पौष्टिकं च कर्तव्यम् ।
 नौयानं यात्रा च क्षेत्राऽऽरम्भो गृहाणां च ॥
 विवाहव्रतबन्धाश्च प्रतिष्ठायानभूषणम् ।
 प्रवेशवास्तुनौयानक्षौरभेषजमन्यभे ।

रहः ।

इति कर्मोक्तं भानामनुपहतानां तु तद्रहैः क्रूरैः ।
 क्रूरैस्तूपहतानां कार्यं स्यात्क्रूरकर्मैव ।

इति नित्ययोगेष्वपि कैश्चिदुक्तानि—

चौकं गजाश्वाऽऽरोहं च स्त्रीसङ्गं दन्तकर्षणम् ।
 काष्ठकर्म विषोच्चाटं विष्कम्भे चैव कारयेत् ।
 नृत्तगीतविलेपांश्च भूषणान्नपरिग्रहम् ।
 राजाभिषेकं वश्यं च प्रीतियोगे तु कारयेत् ।
 बीजाऽऽवापं धनं विद्यामायुरारोग्यसिद्धये ।

¹ अजैकपादे कुर्यात्.

विवाहं वस्त्रबन्धं च आयुष्ये चैव कारयेत् ।
 वस्त्रबन्धमलङ्कारं सौभाग्यालेपकर्म च ।
 सोमपानं सुरापानं सौभाग्येन तु कारयेत् ।
 विवाहं दानकर्माणि भूषणं भूपरिग्रहम् ।
 राजाभिषेकमायुष्यं शोभने तु प्रकारयेत् ।
 विग्रहं निग्रहं चैव रोधनं वधबन्धनम् ।
 भेदनं वञ्चनं क्षुद्रमतिगण्डे तु कारयेत् ।
 विप्रकर्म गृहस्थानं कल्याणं भूपरिग्रहम् ।
 राजाभिषेककार्याणि सुकर्मणि तु कारयेत् ।
 नगरं पत्तनं खेटं स्थिरकर्म मुशोभनम् ।
 क्षेत्रोद्योगं तटाकं च धृतियोगे तु कारयेत् ।
 क्रूरकर्म रिपूच्चाटं मरणं दहनं तथा ।
 बन्धनं चावमानं च शूलयोगे तु कारयेत् ।
 शत्रूच्चाटं विषोत्सारं तटाकं सेतुबन्धनम् ।
 क्षेत्राऽऽरम्भं गजाऽऽरोहं गण्डयोगे तु कारयेत् ।
 बीजाऽऽवापं धनं मन्त्रं विवाहं वस्त्रभूषणम् ।
 शान्तिकं पौष्टिकं चैव वृद्धियोगे तु कारयेत् ।
 वस्त्रबन्धमलङ्कारं तटाकं सेतुबन्धनम् ।
 भूषणं बहुरत्नानि ध्रुवयोगे तु कारयेत् ।
 बन्धनं रोधनं चैव विघातं छेदनं तथा ।
 बहूनि क्रूरकर्माणि व्याघाते कारयेद्बुधः ।
 वस्त्रबन्धं गजाऽऽरोहं विवाहं भूषणं तथा ।
 राजाभिषेकमायुष्यं हर्षणे चैव कारयेत् ।
 शस्त्रकर्म विषोच्चाटं शस्त्राणां च परिग्रहम् ।

सेनाऽऽधिपत्यकार्यं च वज्रयोगे तु कारयेत् ।
 हननं भेदनं चैव श्राद्धं देवादिपूजनम् ।
 रिपूच्चाटं विषं कर्म व्यतीपाते तु कारयेत् ।
 हारकाञ्चनमुक्तानि हस्ताऽऽभरणमेव च ।
 अङ्गुलीभूषणं चैव ¹वरीयसि तु कारयेत् ।
 बन्धनं दहनं चैव भेदनं च वधं तथा ।
 तथाऽन्यक्रूरकर्माणि परिधे चैव कारयेत् ।
 मौक्तिकं कटिसूत्रं च वज्राऽऽभरणमेव च ।
 कर्णयोर्भूषणं चैव शिवयोगे तु कारयेत् ॥
 प्रतिष्ठां देवताऽऽदीनां गृहाणि नगराणि च ।
 प्राकारतोरणाऽऽदीनि सिद्धयोगे तु कारयेत् ॥
 देवतागुरुपूजा च विद्याऽऽरम्भं सुखाऽऽवहम् ।
 वस्त्रभूषणानुलेपादि साध्ययोगे तु कारयेत् ॥
 बीजाऽऽवापं महोत्साहं धनधान्याऽऽदिसंग्रहम् ।
 सर्वरत्नमिति ग्राह्यं शुभयोगे तु कारयेत् ॥
 लेपनं भूषणं चैव तर्पणं राजदर्शनम् ।
 कन्यादानं महोत्साहं ²शुक्लयोगे तु कारयेत् ॥
 शान्तिकं पौष्टिकं चैव तटाकं सेतुबन्धनम् ।
 चौळोपनयनं चैव ब्रह्मयोगे तु कारयेत् ॥
 कन्यादानं गजाऽऽरोहं स्त्रीसङ्गं वस्त्रभूषणम् ।
 काव्यगीतं च नाट्यादि चैन्द्रयोगे तु कारयेत् ॥
 घातनं परराष्ट्राणां छेदनं दहनं तथा ।
 लेपनं क्रूरकर्माणि वैधृते तु प्रकारयेत् ॥

इति । करणेष्वपि—

शान्तिकं पौष्टिकं चैव स्थावरं मौञ्जिवन्धनम् ।
 मङ्गलं गृहकर्माणि प्रशस्तं कारयेद्वे ॥
 बीजाऽऽवापं महोत्साहं विवाहं वस्त्रवन्धनम् ।
 यात्रामज्जनसौभाग्यं कारयेत् बालवाऽऽद्वये ॥
 विवाहं मौञ्जिवन्धं च वस्त्रं विद्यां तथैव च ।
 शान्तिकं पौष्टिकं चैव कारयेत् कौलवाऽऽद्वये ॥
 बीजाऽऽवापं महोत्साहं विवाहं वस्त्रभूषणम् ।
 यात्रामज्जनसौभाग्यं तैतिले तु प्रकाशयेत् ॥
 बीजावापं कृषिं चैव विवाहं भूपरिग्रहम् ।
 स्थिरकर्मादि माङ्गल्यं गरजे तु प्रकाशयेत् ॥
 सौभाग्यं लेपनं चैव वाणिज्यं नृपदर्शनम् ।
 यानवाहनवस्त्राणि वणिजे तु प्रकाशयेत् ॥
 शस्त्रघातं विषं कर्म भेदनं दहनं तथा ।
 शुभवर्ज्यानि विष्टयां तु कारयेदशुभानि वै ॥
 शान्तिकं पौष्टिकं चैव मूलमन्त्रौषधानि च ।
 देवतापूजनं चैव शकुने तु प्रकाशयेत् ॥
 स्नानं च जपहोमं च श्राद्धसङ्कल्पनं तथा ।
 देवतापितृपूजां च कारयेत् चतुष्पदे ॥
 गृहकर्म विषोच्चाटं मारणं दहनं तथा ।
 भेदनं वञ्चनं चैव नागे चैव तु कारयेत् ॥
 वाहनं भोजनं चैव भूषणं भूपरिग्रहम् ।
 शोभनं शुभकार्याणि किंस्तुप्त्रे तु प्रकाशयेत् ॥

इति गार्ग्यः । चन्द्रवर्गापवादमाह—

समस्तकार्येषु वलक्षपक्षे

निशाकरस्योदयवारवर्गाः ।

शुभाः प्रदिष्टाः बहुले त्वनिष्टा-

स्सदाऽप्यनिष्टोऽभ्युदयो विवाहे ॥

शुक्लपक्षे चन्द्रस्योदयादयस्सर्वकार्येषु शुभाः । बहुले पक्षे ते सर्वेऽनिष्टा भवन्ति । चन्द्रोदयस्तु सदा शुक्ले कृष्णे वा विवाहेऽनिष्टः । तथा च नारदः—

शुभग्रहयुते चन्द्रे स्वोच्चस्थे मित्रराशिगे ।

यदि लग्नगतस्तोऽपि दम्पत्योर्मरणप्रदः ॥

इति । अयं चार्थो द्योत्यते—शुक्लप्रतिपदि चन्द्रः शुभश्चेत् स पक्षः शुभो भवति । कृष्णप्रतिपद्यशुभश्चेत् स चाशुभः । तथा च नारदः—

शुक्लपक्षाऽऽद्यादिवसे चन्द्रो यस्य शुभप्रदः ।

स पक्षस्तस्य शुभदः कृष्णपक्षेऽन्यथाऽशुभे ॥

इति । पापवारे स्वीकृतादन्यकर्मणोऽवश्यकार्यत्वेऽपि विशेषमाह—

पापस्य वारेऽपि जनस्य कार्य-

मवश्यकार्यं यदि तत्र तस्मात् ।

शुभांशयुक्ता शुभकालहोरा

ग्राह्यैव नीचान्महितेव विद्या ॥

जनस्य यत्किञ्चिदवश्यकं कार्यं चेत्, तत् पापवारेऽपि तद्दिने कार्यमेव । आवश्यकत्वात् । कथमित्यत्राऽऽह—तस्मात्—पापवारात्

शुभवारांशसहिता शुभकालहोरा तत्राऽऽवश्यके ग्राह्या भवति । न तु कृत्स्नं दिनं । अत्र लोकप्रसिद्धचनुगतं निदर्शनमाह—नीचात् पुरुषादप्युत्तमा—पुरुषार्थसाधनी धातुवादादिविद्या यथा ग्राह्या इति । उक्तं च 'नीचादप्युत्तमा विद्या' इति ॥

पापवारेऽपि रात्रौ न दोष इत्याह—

**आत्मोपलब्धाविव यामवत्यामुपाऽऽगतायां
ग्रहवासेषु । सर्वेषु भूतेष्विव बुद्धिमन्तो हीनोत्त-
मत्वं न खलु स्मरन्ति ॥**

आत्मन उपलब्धिः—ज्ञानं आत्मोपलब्धिः, अत्मज्ञान इव रात्रौ प्राप्तायां सर्वेषु भूतेषु प्राणिजातेष्विव ग्रहवारेषु हीनोत्तमत्वं बुद्धिमन्तो न स्मरन्ति, यथा—आत्मा एकः व्यापी सर्वभूतस्थः, स च मायारचिनेषु सर्वोपाधिशरीरेषु जीवात्मना संसरति; यथा व्योममध्यवर्ती भास्वानेकः स्वर्णाद्युदकुम्भेषु प्रतिबिम्बाऽऽत्मनाऽवभासते, तत्र तद्वताः कम्पमालिनिमाऽऽदयो विकाराः प्रतिबिम्बस्यैव न व्योममध्यवर्तिनस्सूर्यस्य; तथा शरीरगता धर्मा जीवात्मन एव न परमात्मनः । तस्य निर्विकारत्वात् । तेऽपि धर्मा धर्मवर्णाऽऽश्रमहीनोत्तमत्वादयो जीवात्मानि भ्रान्तिनिबन्धना एवा-रोप्यन्ते, यथा रज्ज्वां सर्पाश्रिताः । ते तु तत्त्वतो न सन्त्येव । इत्यादिविचारसंपन्नो योगी प्राणिजातेषु वर्णाश्रमादिभिः हीनोत्तमत्वं न मन्यते तथा रात्रौ ग्रहवारकृतं पापत्वदोषं न स्मरन्ति ॥ उक्तं च—'न रात्रौ वारदोषोऽस्ति' इति । पापराश्यपवादमाह—

**पापाऽऽस्पदानि शुभवीक्षणसंप्रयोगात्
क्रौर्यं विहाय हि भजन्ति शुभस्वभावम् ।**

ज्ञेयानि मध्यमफलानि ततश्शुभेषु ग्राह्याण्यृते धरणिनन्दनमन्दिराभ्याम् ॥

पापराशयो मेषसिंहाद्याः शुभानां दृष्टियोगाभ्यां निमि-
ताभ्यां स्वाभाविकं क्रौर्यं पापत्वं विहाय शुभस्वभावं भजन्ति ।
नारदः—

सौम्योग्रतैषां राशीनां प्रकृत्या न भवत्यसौ
योगेन सौम्यपापैश्च खेचरैर्वीक्षितेन च ॥
सौम्याऽऽश्रितत्वात् क्रूरोऽपि स राशिश्शोभनस्मृतः
सौम्योऽपि राशिः क्रूरस्यात् क्रूरग्रहयुतो यदि ॥
ग्रहयोगावलोक्यां राशिर्दत्ते ग्रहोद्भवम् ।
फलं ताभ्यां विहीनोऽसौ स्वभावमुपसर्पति ॥

इति । ग्रहदृष्टियोगाभ्यां राशीनां स्वभावानिवर्तनात् ग्रहभावसंश्रयाच्च
मध्यमफलास्ते स्युः । ततश्शुभक्रियासु ग्राह्याश्च भवन्ति । मेषकीटयो-
स्त्वतिक्रौर्यात् शुभाऽऽलोकाऽऽसनाभ्यामपि स्वभावो न निवर्तते इत्याह—
ऋते धरणिनन्दनमन्दिराभ्यामिति । मेषकीटौ शुभदृष्टियुतावपि न
ग्राह्यौ । यतस्तात्कालिकात् प्रकृतिरेव गरीयसी ।

शुद्धेषु राशिषु कृत्यं रक्षेनोक्तं—

मेषोदये प्रकुर्यात् नृपाभिषेकाऽऽह्वं विरोधं च ।
ध्यात्वा करसंबन्धं साहसयुक्तं च यत्कर्म ।
वृषभोदये विवाहं ध्रुवकर्म तथा गृहप्रवेशं च ।
कन्यावरणं दानं क्षेत्राऽऽरम्भादिकं कुर्यात् ।
मिथुनोदये तु कुर्यात् विज्ञानकलाऽऽश्रयं व्रताऽऽदेशम् ।
वृषभोदये यदुक्तं तच्चापि विभूषणाऽऽद्यं च ।

नारदः—

वापिकूपतटाकादिवारबन्धनमोचने ।
पौष्टिकं लिपिलेख्यादि कर्तव्यं कर्कटोदये ।
इक्षुधान्यवाणिक्पण्यं कृषिदेवादि यत् स्थिरम् ।
साहसाऽऽहवभूषाऽऽद्यं सिंहलग्रे प्रसिध्यति ।
मेषोदयवत्सर्वं कर्तव्यं सिंहराश्युदये ॥

इति । रत्नः—

विद्या शिल्पौषधं कर्म भूषणं च चरस्थिरम् ।
कन्यालग्रे विधेयं तत् पौष्टिकाखिलमङ्गलम् ।
कृषिवाणिज्ययानाश्वपशूद्वाहव्रतादिकम् ।
तुलायां निखिलं कार्यं तुलाभाण्डाऽऽश्रितं च यत् ।

कन्यावत् तुलायामिति रत्नः—

स्थिरकर्माखिलं कार्यं राजसेवाभिषेचनम् ।
कृषिवाणिज्यचौर्यादि कर्तव्यं वृश्चिकोदये ।
व्रतोद्वाहप्रयाणाश्वगजशिल्पकलाऽऽदिकम् ।
चरस्थिरास्त्रशस्त्रादि कर्तव्यं कार्मुकोदये ।

रत्नः—

मकरोदये तु कुर्यात् कर्म क्षेत्राऽऽश्रयं स्थले यात्राम् ।
उदकस्य बन्धमोक्षौ दास्युष्ट्रचतुष्पदाम्बुचरणं च ।

नारदः—

कृषिवाणिज्यवश्यादि शिल्पकर्म कलाऽऽदिकम् ।
जलयात्रास्त्रशस्त्रादि कर्तव्यं कलशोदये ।
व्रतोद्वाहाभिषेकाम्बुस्थापनं सन्निवेशनम् ।
भूषणं जलयात्राश्वकर्म मीनोदये हितम् ।

मेषादिषु विलम्बेषु शुद्धेष्वेतत् प्रसिद्धयति ।

क्रूरग्रहेक्षितेष्वेषु संयुतेषूग्रमेव हि ।

इति । शुद्धे सौम्यराशावपि पापांश उद्यति क्रूरकर्म कार्यं । पापराशौ शुभांशे सौम्यकर्मैव राशेरंशस्यैव प्राबल्यात् ।

यस्मात् भरद्वाजः—

राशेर्वरिष्ठो द्रेक्काणो द्रेक्काणादंशको बली ।

तस्माच्छग्नबलं सर्वमंशकेष्वेव तिष्ठति ।

इति । तिथीनामुत्तममध्यमविभागमाह—

त्रिंशत्प्रारभ्य शुक्लप्रतिपदमिह याः सन्ति तासु तिथीनां क्षोणीवह्नयङ्गबाणस्मरविशिखशरब्रह्मसङ्ख्याः क्रमेण । विज्ञेयाः कष्टमध्योत्तममहिततमश्रेष्ठमध्यातिकष्टाः कृष्णे पक्षे त्रयोदश्यपि बालिनि विधावुत्तमा कैश्चिदुक्ता ॥

स्मरविशिखाः पञ्च, ब्रह्माणि पञ्च, इह मासे मासे शुक्लप्रतिपदमारभ्यामावास्यान्ताः त्रिंशत्तिथयः । तासु क्षोणीवह्नयादिसङ्ख्यास्तिथयः कष्टमध्यादिका भवन्ति । उक्तं च सर्वसिद्धौ—

विंशतिस्थितयो मुख्याः शुक्लप्रतिपदादयः ।

मध्यमाः परतः पञ्च पञ्चातः परतोऽधमाः ॥

इति । इह शुक्लप्रतिपदमुख्याऽभिहिताऽपि—

“दर्शस्वपार्श्वसहितो वर्ज्यः”

इति वचनात् कष्टेत्युक्ता, द्वितीयाऽऽद्यास्तिस्वस्तु चन्द्रस्यारूपबलत्वात् मध्या उक्ताः, एकादश्याद्याः पञ्च चन्द्रस्यातिबलत्वाच्छे-

ष्ठतमाः, कृष्णे त्रयोदश्यपि चन्द्रस्य स्थानादिवलसंपत्त्यां सत्या-
मुत्तेमति कैश्चिदुक्ता, तथा चाऽऽहुः—

चन्द्रेऽपि बलसंयुक्ते पूजितास्सर्वकर्मसु ।

कृष्णपक्षे तु ते त्रिंशे त्रयोदश्यपि कैश्चन ॥

इति । अपराहो वर्ज्यं इयुक्तं अत्राऽऽह—

षड्भिस्सूर्यस्योदयान्नाडिकाभिः प्रातःकालस्स-
ङ्गवश्चाथ षड्भिः । मध्याह्नाऽऽख्यास्तद्वदन्योऽपराह्ण-
स्सायंकालश्चात्र निन्द्यौ परौ द्वौ ॥

सूर्यस्याधोदयादूर्ध्वं षड्घटिकाः प्रातःकालः । तदनन्तरं षड्-
घटिकाः सङ्गवः । ततः परं षण्मध्याह्नाख्यः । तद्वत् मध्याह्नात्परं
षडपराह्णः । तस्मात्परं षड्घटिकाः सायंकालः । अत्रैषु पञ्चसु
द्वौ परौ—सायाह्नापराह्णौ निन्द्यौ, यद्यपीह षड्घटिका इति काल-
प्रमाणं नियमितं, तथाऽपि दिनपञ्चमांश एव ॥

यथोक्तं विष्णुपुराणे ।

लेखाप्रभृत्यथाऽऽदित्ये त्रिमुहूर्तगते तु वै ॥

प्रातःकालस्तत्र भागः सोऽहस्तु पञ्चमस्मृतः ।

तस्मात्प्रातस्ततःकालात् त्रिमुहूर्तस्तु सङ्गवः ॥

मध्याह्नस्त्रिमुहूर्तस्तु तस्मात्कालात्तु सङ्गवात् ।

तस्मान्माध्याह्निकात्कालादपराह्ण इति स्मृतः ॥

अपराह्णाद्व्यतीतात्तु कालस्सायाह्ण उच्यते ।

इति । केचित् पूर्वाह्नमध्याह्नापराह्णान्स्मिन्यामानाहुः, तथाचाऽऽग्नेयस्मृतौ—

उदयप्राह्णमध्याह्नापराह्णान्त्याह संज्ञिताः ।

यामाः पञ्चैवमहस्तु प्राह्णान्त्याह्नयोऽपरे ॥

नारदश्च—

त्रिधा विभज्य दिवसं तत्राऽऽदौ कर्म दैविकम् ।

द्वितीये मानुषं कार्यं तृतीयेऽंशे च पैतृकम् ॥

इति । भरद्वाजः—

मानुषे चैव दैवे च कर्तव्यं शुभमिच्छता ।

पितृकाले ह्यनुप्राप्तं नैवं(व)कुर्यात् शुभं बुधः ॥

इति । अत्राऽऽहुः—पूर्वाह्णशुभः अपराह्णो वर्ज्यः मध्याह्णो मध्यमः ।

तस्य पूर्वमर्धं पूर्वाह्णः अपरमपराह्णः इत्यन्ये, तथाचोक्तं—

दिने प्रभातो गव्यश्च पूर्वाह्णश्चापराह्णकः ।

रौहिणश्चाऽऽसुरश्चेति षड्यामास्स्युर्दिनस्य वै ।

इति । एतदुक्तं भवति—उदयादूर्ध्वं दशघटिकान्तः श्रेष्ठतमः, दिनार्धान्तश्श्रेष्ठः । ‘पूर्वाह्णे सर्वकर्माणि’ इति वचनात् । दिनार्धात्परं घटीत्रयमवश्यकार्ये गुणातिशययोगे वा ग्राह्यम् । घटिकापञ्चकमप्यत्यापदि ग्राह्यम् । अन्त्यस्त्रिभागो वर्ज्यः ।

धूमादीनामपवादमाह—

दिनकरवारसमेतं नक्षत्रं सशुभवारयोगं वा ।

उपचयसंस्थो वाऽर्को दोषानपहरति पञ्च धूमाऽऽदीन्

सूर्यवारेण युक्तं सन्नक्षत्रं, अथ वा शुभवारयोगैर्वारसिद्धामृताद्यैः युक्तं नक्षत्रं वा, लग्नोपचयस्थोऽर्को वा, एतद्योगत्रयमप्यविशेषेण धूमाऽऽदिपञ्चदोषान् हरति । अत्र गुरुः—

शुभयोगेऽर्कवारेण नक्षत्रे सहितेऽथ वा ।

योगा धूमाऽऽदयः पञ्च भङ्गमृच्छन्ति दोषजः ॥

इति । सौराणामपवादमाह—

भरद्वाजः प्रोचे वपुषि शशिशुक्रेक्षणयुते
क्रमात् सौरैष्वाद्यौ प्रशममयतोऽन्यौ गुरुयुते ।
क्रमेणाद्र्यंकोर्वीवसुतिथिषु सर्वेऽप्यथ पुन-
स्ववर्गस्वोच्चस्थे सशुभदृशि भानाविति गुरुः ॥

भूकम्पादिषु सौरदोषेषु सत्सु लग्ने शशिशुक्रयोर्दृष्टियुते
सति क्रमादाद्यौ—भूकम्पोल्कापातौ प्रशम्यतः । अन्यौ—ब्रह्मदण्ड-
ध्वजौ तु गुरुदये प्रणश्यतः । शशिदृष्ट्या भूकम्पः, शुक्रद-
ृष्ट्या उल्कापातः, गुरुदयेन ब्रह्मदण्डध्वजौ इति भरद्वाज आह ।
तथा च तद्वाक्यं—

दण्डध्वजौ गुरोर्लग्ने कम्पश्चन्द्रनिरीक्षणे ।

उल्का शुक्रमेण संदृष्टे लग्ने वा स्युश्शुभावहाः ॥

इति । अथैते चत्वारः क्रमेण सप्तम्यादितिथिषु चतुर्षु नश्यन्ति,
सप्तम्यां सितायाममितायां वा भूकम्पः, नवम्यामुल्कापातः, प्रति-
पदि ब्रह्मदण्डः, अष्टम्यां ध्वज इति । उक्तं च—

अष्टम्यां च नवम्यां च सप्तम्यां प्रतिपद्यपि ।

ध्वजोल्काकम्पदण्डास्स्युः शुभास्तज्ज्ञैरुदाहृताः ॥

इति । गुरुस्त्वाह—स्ववर्गस्थे स्वोच्चस्थे वा शुभदृष्टे वा भानौ तच्चा-
रभवाः सर्वे सौरा नश्यन्तीति । तद्वाक्यं—

अर्के स्ववर्गे तुङ्गस्थे शुभग्रहनिरीक्षिते ।

भूमिकम्पादयस्सौरा दोषा भङ्गं ययुस्तदा ॥

VIDYAMADAVIAM,

अयमेव विद्युदादीनामप्यपवादः, प्रागतिनिन्द्यतयोक्ता नाज्योऽपि शुभास्त्युः । अर्धप्रहारादीनामपवादमाह—

**अर्धप्रहारकस्य प्रथमे यमकण्टकस्य मध्यगते ।
अन्त्ये गुळिकस्य द्वे नाड्यौ नियमात्परित्याज्ये ॥**

अर्धप्रहारादीनामादिमध्यान्तेषु द्वे एव घटिके नियमेन वर्जयेत् न सर्वं, केचित् तदंशं त्रिभिर्विभज्यार्धप्रहारे आद्यमंशं यमकण्टके मध्यं गुळिके अन्त्यं त्यजन्ति । एतदाचार्यस्य नाभिमतं, यस्मात् गुळिकः क्षणिकः तत्कालश्च सूक्ष्मः बहुसिद्धान्तभेदादुरवगमः । तस्मात् तत्स्थूलकालमभिन एकैका घटिका निन्द्या । अन्याऽपि तद्वदिति । तत्कालोऽप्यपवादैर्भज्यत इत्याह—

**वारेशो गुळिकं निहन्ति बलवान् मूर्तौ स्थितस्सद्रूपो विक्षेप्ता यमकण्टकस्य च शुभः केन्द्र-
त्रिकोणस्थितः । पीयूषत्विषि सत्क्रियाजुषि शुभैर्दृष्टे शुभांशस्थिते लग्नेश्च बलान्विते सति सतां
नार्धप्रहाराद्रयम् ॥**

तद्वाराधिपतिर्ग्रहशुभः तत्काले बलयुक्तश्च स यदि लग्नगते गुळिकं निहन्ति । तथा च गुरुः—

सौम्यग्रहेऽथ वारेशे बलाढ्ये लग्नेऽपि वा ।

गुळिकोदयदोषोऽत्र नास्तीति श्रुतिचोदितम् ॥

एतद्योगत्रयमित्यन्ये । इयं गळिकं निहन्तीत्यविशेषोक्तिः ‘अन्त्ये गुळि-

कंस्य' इति विशेषोक्तेरबाधिका । अतस्तदंशशेषस्यैवायमपवादः ।
तथाचात्रिः—

गुळिकांशः शुभशेषो वारेशश्चेच्छुभो बली ।

इति । न तत्कालस्यापवादापवाददर्शनात्, लग्नाच्चन्द्राद्वा केन्द्रस्थितो वा
बलादद्यः शुभो यमकण्टकस्य विक्षेपा नाशकः । तथा च गुरुः—

त्रिकोणे कण्टके वाऽपि शुभास्थिष्ठेत् बलान्वितः ।

यमकण्टकदोषोऽपि नात्र स्याच्चन्द्रलग्नयोः ॥

इति । चन्द्रे शुभांशस्ये सत्कर्मयुक्ते यथासंभवं शुभैर्दृष्टे एको योगः,
लग्नाधिपे सति शुभे बलादद्ये सत्यन्यः, एतद्योगद्वये सतां बलाबलनि-
श्चितधियामर्धप्रहारादयं नास्ति । एतद्योगद्वयमर्धप्रहारं नाशयति ।

शुभकर्माणि चन्द्रे वा शुभांशे शुभवीक्षिते ॥

नार्धप्रहारदोषोऽस्ति लग्नेऽर्के च बलान्विते ।

इति सर्वसिद्धौ । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । अयं योगोऽपि यमकण्ट-
कस्य नाशक इति । तथा च गुरुः—

शुभकर्माणि चन्द्रे शुभांशे शुभवीक्षिते ।

यमकण्टकसंभूतो दोषो नैवात्र विद्यते ॥

गुरुण। अपवादान्तरमुक्तं—

शुभांशे शुभकार्यस्थः शुभकेन्द्रे शुभेक्षितः ।

लग्नादुपचये चन्द्रो यमकण्टकनाशनः ॥

इति । दिनमृत्युरोगभङ्गमाह—

निशायां क्षीणसामर्थ्यौ दिनमृत्युदिनामयौ ।

न तौ दोषाय कल्पेते दिवाऽपीन्दौ बलान्विते ॥

दिनमृत्युदिनरोगौ रात्रौ दुर्बलौ । दिवैव निन्दितौ न रात्रावि-
त्यर्थः । चन्द्रे बलान्विते दिवाऽपि दोषाय न कल्पेते । शुभकर्म दूष-
यितुं न प्रभवतः । गुरुः—

एषु नक्षत्रपादेषु दिवैवाह पितामहः ।
निशि चेदंशकेनैव मृत्युरोगाः प्रकीर्तिताः ॥
दिनमृत्युसमाख्याश्च दिनरोगसमाख्याः ।
चन्द्रो बलसमग्रश्चेत् दिवसेऽपि न दोषदाः ॥

इति । निशामृत्युश्च दिवा न दोषः । रात्रावपि चन्द्रबले न दुष्यति ।
यथाऽऽहात्रिः—

शुभकृच्छ्रभट्टग्वेन्दुरंशेऽंशे दुर्बलेऽशुभः ।

इति । विष्टिभङ्गमाह—

विष्टिर्यदाऽहनि तिथेरपरार्धजाता पूर्वार्धजा
निशि तदा शुभदा च पुच्छे । तत्कालभूरपि निजो-
दययामवाह्या ग्राह्या शुभे बलिनि लग्नपतौ नि-
जांशे ॥

तिथेर्निशाभागजा विष्टिर्दिवा चेत्, दिवाभागजा निशि चेत्,
तदा सा शुभदैव । तथा च गुरुः—

दिवा परार्धजा विष्टिः पूर्वार्धोत्था यदा निशि ।
तदा विष्टिशुभायैव कमलासनभाषिता ।

एवं प्रतीपगत्यैव यामे (ऽति) पि शुभदा भवेत् ।
विष्टिर्लगाधिपस्सौम्यो निजांशे बलवान्यदि ॥

इति । अन्ये त्वाहुः—

¹स्वपक्षे विहिता विष्टिः परपक्षे तु भद्रिका ।
कार्यनाशकरी विष्टिर्भद्रा सर्वत्र मङ्गला ॥
परीता विपरीता वा विष्टिः पुच्छे शुभैव सा ।

तथा—

प्रथिव्या यानि कार्याणि सुशुभान्यशुभानि वा ।
तानि सर्वाणि सिद्धयन्ति विष्टिपुच्छे न संशयः ॥

इति । अथ तत्कालभूः दिवाभागजा दिवानिशाभागजा निशि
प्राप्ताऽपि स्वोदययामं परिहृत्य कदाचित् शुभा स्यात् । यदा
लग्नाधिपश्शुभो बलवान् स्वांशे वर्तते तदा स यामोऽपि ग्राह्य
इत्यन्ये । तथा च कालदीपे—यामोऽपि तत्स्थो बली सौम्यरा-
शाविति । स्यादेतत्—विष्टिर्न ग्राह्या अपवादापवादात्

परीता विपरीता वा विष्टिर्नेष्टा तु मङ्गले ॥

इति नारद्वचनाच्च । नैतत् । अपवादापवादस्य विष्ट्युदययामा-
पवादावधनेन चरितार्थत्वात् । ततश्चायमर्थस्सिद्धः—विपरीता सदा
ग्राह्या, परीताऽपि स्वापवादे सति, स्वोदययामस्तु न कदाचिदिति ॥

दुष्टयोगमङ्गमाह—

प्रातःकाले वारयोगो बलीया-
नाद्ये वारेणांश एवेति केचित् ।

मध्याह्नान्तं योगमाहुस्त्रयाणा- मन्ये योगास्तद्वियोगावसनाः ॥

तिथिभिर्नक्षत्रैर्वाराणां योगो वारयोगः । स प्रातःकाले बल-
वान् । सङ्गवेऽल्पबलः । ततः परं दिवा रात्रौ च दुर्बल इत्य-
र्थसिद्धं । केचित् आद्ये वाराधिपांशे यामार्धवारयोगो बलवान्
ततः परं दुर्बल इत्याहुः—

काळकूटान्वया योगाः सर्वे ते गुणनाशनाः ।

यामार्धात्परतस्सर्वे पुष्टिदाश्शुभकर्मसु ॥

इति । त्रयाणां योगं—वारक्षेतिथियोगं मध्याह्नान्तं बलाढ्यमाहुः ।
अन्ये तिथ्यृक्षादिवियोगान्ताः—तेषामन्यतमविरामे योगफलं नास्ति ।
वारयोगानामपवादान्तरं गुरुराह—

एषूक्तयोगदोषेषु वारेशे बलवर्जिते

न दोषायैव योगास्स्युः शुभकर्मात्र शोभनम् ।

वारेशे बलसंयुक्ते स्वोच्चे रश्मिसमन्विते

नक्षत्रेशदृशा युक्ते दुष्फलं प्रोक्तवद्भवेत् ॥

यद्यप्युक्ताः शुभा योगाः न दद्युः स्वं फलं निशि ।

प्रथमयामार्धे वारक्षेयोगानामपवादोऽत्रिणोक्तः—

शुभेषु वर्ज्या बहवश्शुभदृष्ट्या विवर्जिताः ।

बलिनौ चेतदंशेशचन्द्रौ दोषान् हतश्शुभौ ।

तिथिवारयोगापवादश्च—

पक्षयोरग्निदास्त्वेता वारेशो बलवान् न चेत् ।

बलवद्भिश्शुभैर्दृष्टाः(?) दग्धदोषदाः ।

गुरुश्च—

दग्धयोगश्च वारेशे बलैरिद्धे न दीप्यते
यथा महार्णवे वह्नेः कणा नश्यन्ति पातिताः ।

नारदश्च—

ये दोषास्तिथिवारोत्था योगा नक्षत्रवारजाः ।
भूणपङ्कवशे देशे वर्ज्या नान्यत्र दोषदाः ॥

इति । दग्धराश्यपवादमाह—

गोकन्याकर्किमीनस्थः शुभदृष्टदशुभांशगः ।

उद्धर्ता दग्धदोषाणां बली कुमुवान्धवः ॥

वृषादिराशिषु स्थितः तेषु शुभनवांशगतो यथासंभवं
शुभदृष्टो बलवांश्चन्द्रो राशीनां दग्धदोषस्य नाशकृत् । उक्तं च—

कन्यावृषकुळीरस्थः शुभांशे शुभकर्मकृत् ।
चन्द्रो बलसमग्रश्चेत् दग्धदोषान् व्यपोहति ॥

इति । कूपभङ्गमाह—

आपूर्यमाणो बलवान् हिमांशु-

जीवेन दृष्टो यदि वा सितेन ।

वर्गोत्तमे वा तिथिवारकाणा-

मापूरयत्येव हि निम्ननाडीः ॥

शुक्लपक्षः वर्धमानः स्थानप्रदिवलसंपन्नः जीवशुक्रयोरन्यतरेण
दृष्टो, यद्वा यत्र तत्र राशौ वर्गोत्तिमांशगतो वा चन्द्रास्तिथि-

नक्षत्राणां निम्ननाडीरापूरयति—निम्नदोषं हरतीत्यर्थः । उक्तं च—

तिथिनक्षत्रनिम्नानि पूरयेद्वलवान् विधुः ।

शुभग्रहेक्षितश्चन्द्रश्शुभकर्माणि संस्थितः ॥

इति । कालगण्डभङ्गमाह—

विनिहन्ति कालहोरा शुभस्य काळाह्वयं दो-
षम् । कालेऽशकस्तृतीयो विनिन्दितो गण्डसंज्ञिते
प्रथमः ॥

तत्काले शुभकालहोरा यदि स्यात् सूर्यादिवारेषु कालांशा-
ख्यं दोषं नाशयति । कालनक्षत्रे तृतीयोऽशः मन्दारूढनक्षत्रादा-
रम्य सप्तविंशोऽशो निन्दितः । गण्डनक्षत्रे प्रथमः मन्दाक्रान्त
नक्षत्रपादात् सप्तसप्ततितमोऽशः ॥

अत्र कण्टकादिभङ्गमाह—

स्वोच्चे स्ववर्गे च यदा प्रविष्टौ
दृष्टौ यदा भास्करभूमिपुत्रौ ।
तौ कण्टकस्थूणसमाह्वयाना-
मेकोत्थमेको हरति द्विजं द्वौ ॥

स्वोच्चे स्ववर्गे वा स्थितः शुभैर्दृष्टसूर्यः शुभश्च कण्टकस्थू-
णसंज्ञकदोषाणामेककृतमेको हरति । द्वाभ्यां कृतं तादृशौ द्वौ
हरतः । सूर्यः कण्टकं, कुजः स्थूणं रक्तस्थूणं च, तौ कण्टकस्थू-
णमित्यर्थः ।

अत्र गुरुः—

भास्कराङ्गारकौ स्वोच्चस्ववर्गस्थौ शुभोसितौ ।

कण्टकस्थूणनामाऽपि दापो गच्छति भङ्गताम् ॥

इति । सूर्यकुजयोरेकोऽपि कण्टकस्थूणं हरतीत्यन्ये—एतस्मादामूल-
संख्याया भग्नत्वात्, दोषस्तु द्वाभ्यामामूलमङ्गचाद्वययोगजात इति ।
पाताख्यो हरास्त्रदोषश्च सौराष्ट्रादिदेशेष्वेव दुष्टः । तथा च नारदः—

सौराष्ट्रसाल्वदेशेषु पातितं भं विवर्जयेत् ।

कलिङ्गवङ्गदेशेषु पातितं भमुपग्रहम् ॥

बाह्यीककुरुदेशेषु चान्यदेशे न दूषितम् ।

इति । दग्धराश्यादिभङ्गमाह—

ये दग्धाख्या राशयो मृत्युसंज्ञाः

ये च प्रोक्तास्स्वामिदृष्टाश्शुभास्ते ।

वागीशेन स्फीतवीर्येण दृष्टा-

स्तंयुक्ता वा सर्वकार्येष्वनिन्द्याः ॥

तत्काले लग्नगताश्चन्द्रयुता वा दग्धमृत्युसंज्ञा राशयः स्वस्वा-
मिना शुभेनान्येन वा दृष्टाः शुभास्त्युः । बलिष्ठेन गुरुणा दृष्टा
युक्ता वा सर्वकर्मसु शुभाः ॥ तथा च गुरुः—

दग्धमृत्युसमाख्याश्च होरास्वामिदृशा युताः ।

बलवद्गुरुदृष्टा वा युता नैते स्वदोषदाः ॥

यद्वा मृत्युयोगकृत्सु फलाब्ध्येषु च तदभावः । तथा च गुरुः—

ग्रहयोगेन योगास्ते मृत्युदा इति कीर्तिताः ।

ते सर्वे बलसंयोगे ग्रहैरेवान्यथाऽन्यथा ॥

इति। अन्धमङ्गमाह—

हन्ति शुभो बलवान् शाशिकेन्द्रे
द्वीक्षणभान्युदितोऽन्धजदोषम् ।
सौम्यनवांशकगस्सुकृदिन्दु-
स्तत्र सलोचनभा(न्यु)भ्युदयो वा ॥

द्विनेत्रर्क्षगतो बलवान् शुभश्चन्द्रकेन्द्रे स्थितः अन्धनक्षत्रदोषं
हन्ति, शुभांशकगतः सत्कर्मकृत् चन्द्रः ; तथा तत्काले प्राग्लभ्ये
द्विनेत्रनक्षत्रोदयश्चान्धदोषं हरति । तथा च गुरुः—

चन्द्रकेन्द्रे शुभस्तिष्ठेत् द्विनेत्रर्क्षे बलान्वितः ।
चन्द्रेऽन्धर्क्षगते वाऽपि न दोषश्शुभकर्मणि ॥
शुभांशकगतश्चन्द्रश्शुभकर्मरतो यदि ।
इन्दृक्षकस्य नान्धत्वं द्विनेत्रर्क्षोदयेऽपि च ॥

अत्रिश्च—

शुभकृत् शुभदृक्स्वाच्चे खाम्बुस्थोऽप्यन्धदोषहा ।

गुरुः—

चन्द्रे स्वे शुभतारास्थे शुभदृष्टे शुभे रते ।
यात्रादाबन्धकाणर्क्षदोषा नाशं ययुस्स्वयम् ॥

सर्वसिन्धौ च—

उपनेत्रा(न्ध्य)म्बुभांगेशो लग्नार्धत्रिव्ययायगः ।
शुभकर्मा बली वेन्दुः शुभो वा केन्द्र उच्चगः ॥

बधिरादिभङ्गश्चात्रिणोक्तः—

स्वोत्तमांशे विधोः केन्द्रे गुरुरन्धादिदोषहा ।

इति । दग्धादिदोषाः मध्यदेशेष्वेव निन्द्या इति नारदः—

तिथयो मामदग्धा ये दग्धलग्नानि यान्यपि ।

मध्यदेशे विवर्ज्यानि च दूष्याणीतरेषु नु ॥

पङ्कवन्धकाणलग्नानि मामशून्याश्च राशयः ।

गौडमागधयोस्त्याज्यास्त्वन्यदेशे न गर्हिताः ॥

इति । जन्मर्क्षकृत्यमाह—

आद्ये जन्मनि नव्यभुक्तिवसनालङ्कारपुण्यैर्वि-
ना सर्वं कर्म शुभाशुभं परिहरेद्भुक्तिं नवां चार्भकः ।
हित्वाऽभ्यङ्गविधिं निषेकलहितं क्षौरं च शिष्टं शुभं
कार्यं कार्यमुशान्ति केचिद्विषयो जन्मर्क्षयोरन्ययोः॥

नव्यानामन्त्रानां भुक्तिः, नव्येषु स्वर्गपात्रेषु भुक्तिर्वा न-
व्यभुक्तिः । नव्यवस्त्राणां वसनं, नव्यहर्म्यादिषु निवामश्च नव्य-
वसनं । नवाभरणानां धारणं, नवदृष्ट्याद्युपभोगश्च नव्यालङ्कारः ।
पुण्यानि दानहोमादीनि च एतानि प्रथमजन्मर्क्षेऽपि कार्याणि ।
नदन्यानि सर्वाणि शुभकर्मण्यशुभकर्मणि च वर्जयेत् । अत्रात्रिः—

गान्धर्वं भूषणं वस्त्रं नवकांस्यादिभोजनम् ।

आरोहं नवयानादेशशान्तिकं पौष्टिकं गृहम् ॥

दानं च मन्त्रग्रहणं विद्यामृगविमोचनम् ।

यच्चान्यदीदृशं कर्म तत्तत्कर्त्तव्यमिति ॥

सीमन्तक्षौरयात्रायुग्मेषजोद्धाहवैतृकाद् ।

त्यजेज्जन्मसु चान्यर्क्षे कर्मर्क्षेषु नतिशृमा ।

गर्भिणीगर्भसंस्कारं जन्मनाससु वर्जयेत् ॥

बालप्रथमान्नभुक्तिं च त्यजेत् । यत् गुरुः—

जन्मर्क्षं परिहर्तव्यं विशेषाद्भोजने शिशोः ।

इति । कर्माधानर्क्षयोर्विवाहादि सर्वं शुभं कुर्यात्, संस्कारजन्मनामसु वर्जयेत् । उक्तं च—

मुक्तैकं जन्मर्क्षं द्वे तारे जन्मनामनी शुभदे ।

उपनीताबुद्धाहे प्रयाणभुक्तयोः प्रवेशे च ।

इति । केचित् तयोः तैलाम्यङ्गस्त्रीसङ्गक्षौराणि न कार्याणीत्याहुः ।
तथा च गुरुः—

पञ्चदश्यां चतुर्दश्यामष्टम्यां च त्रिजन्मनि ।

व्यवायं क्षौरतैलं च वर्जयेदन्तधावनम् ॥

इति । क्षौरादिव्यतिरिक्तं सर्वं शुभकार्यं कार्यमिति सिद्धम् ।

विपदादिभङ्गमार्ह—

सर्वानेव विपत्तिपञ्चमवधेष्वग्नेषु भेष्वंशकान्
मध्येष्वाद्यतुरीयपावकमितानन्त्येषु वा वर्जयेत् ।
सत्कर्मा बलवान् शुभांशकगतो दृष्टश्च सौम्यैर्ग्रहैः
जन्मप्रत्यरजान् विपद्वधभवान् दोषान् विधुर्वाधते॥

आद्येषु विपदादिषु सर्वानंशकान् वर्जयेत्, मध्येषु विपदि
प्रथमं प्रत्यरं चतुर्थं वधे तृतीयमंशं त्यजेत् । अन्त्येषु तदंशास्त्य-
जेद्वा न वा । अत्रायं विभागः—शुभांशान् न त्यजेत् । पापांशास्त्य
जेदिति । तथा च सर्वसिद्धौ—

विपत्प्रत्यरनैधर्क्षेष्वग्नेषु सकलांस्त्यजेत् ।

मध्येष्वाद्यन्त्यवध्वचंशानन्त्येषूमांशकांस्त्यजेत् ॥

केचिदाहुः—आद्येषु जन्मादिषु पूर्णफलं मध्येषु अर्धफलं अन्येषु
पादफलमिति । तथाचाऽऽहुः—

जन्मर्क्षमाद्यं सकलं तदर्धं
द्वितीयमर्धं च ततस्तृतीयम् ।
संपत्तिभादिष्वपि तद्वदेव
फलं स्वनामानुगुणं गृणन्ति ॥

इति । अन्ये त्रिन् कल्पानाहुः—विषदादिषु मर्वांशकान् त्यजेदि
त्याद्यः । आद्यन्तमध्यांशानिति मध्यः । वर्जयेन्न वेति चरमः । तेषु
प्रथमो मुख्यः प्रागुक्तो ग्राह्यः । मध्योऽपि सापवादः, तथा च नारदः—

अभिजित्काथिते भागे लग्नस्थे कण्टके गुरौ ।
विपत्प्रत्यरसंज्ञर्क्षे वधर्क्षे च क्रमाद्विना ।
चन्द्राब्ध्यग्रचंशकैश्शेषाः ऋसांशा दोषनाशनाः ॥

इति । मध्यस्त्वापदि निरपवादोऽपि ग्राह्य इति गुरुः—

आद्योऽंशो विषदि त्याज्यः प्रत्यरे चरमोऽशुभः ।
वधे त्याज्यस्तृतीयोऽंशः शेषास्तेष्वपि शोभनाः ॥

इति । चरमोऽप्यापदि सापवादो ग्राह्यः, यस्मान् सुकर्मा पक्षादि-
बलाद्भ्यः शुभनवांशगतः शुभदृष्टः जन्मविषदादिकृतदोषान्नाशयति ।
तथा च गुरुः—

बलकर्मरतश्चन्द्रो बलवान् शुभवीजिनः ।
विपत्प्रत्यरनैवर्क्षत्रिजन्मर्क्षोत्थदोषहा ॥

.धिरक्षेऽपि—

विषदि प्रत्यरे चैव यदि मित्रांशको भवेत् ।
जन्मलग्नपयोश्चापि चन्द्रश्शस्तश्शुभेक्षितः ॥

कालेदीपे—

सत्क्रियो बल्युतश्शुभेक्षित-
शशोभनांशशुभभावगशशी ।
जन्मधिष्ण्यविपदादिपापयुक्
ताः प्रकाशयमकण्टकादिभे ॥

इति । जन्मदिनेऽपि मङ्गल्यादि कार्यं । यत् भरद्वाजः—
सर्वारम्भो न कर्तव्यो वासो जन्मदिने सदा ।
मङ्गल्यानि प्रकुर्वीत भूषणाच्छादनानि च ॥

इति । अष्टमराशिबिनाशार्क्षमङ्गमाह—

स्वकीयजन्माष्टमराशिपत्यो-
मैत्र्यां न जन्माष्टमराशिदोषः ।
जन्मेशकर्म्मेश्वरमित्रभावः
क्षिणोति वैनाशिकदोषमुग्रम् ॥

कर्तुर्जन्मराशिस्वामिनः तदष्टमराशिस्वामिनश्च तात्कालिकमैत्र्यां सत्यां
अष्टमराशिदोषो नास्ति । अत्र गुरुः—

जन्मेशाष्टमराशीशा मिथो मित्रे यदा तदा ।
अष्टमर्क्षोदयोत्थं यत् दोषं नश्यति भावतः ॥

अयमेव जननलग्नाष्टमराशेरपि भङ्गः अष्टमचन्द्रस्यापि । यत् गुरुः—

जन्मेशमृत्युराशीशा मिथो मित्रे यदा तदा ।
जन्माष्टमर्क्षचन्द्रस्थदोषो भङ्गत्वमाव्रजेत् ॥

तयोरेकाधिपत्येऽपि दोषाभावः । यदत्रिः—

जन्माष्टेशैक्यमैत्रे वा स्वोच्चे वाऽष्टेन्दुदोषह्नां ।

द्वादशराशेरपि तद्वृद्धः । षष्ठस्तदभावेऽपि शुभः यदत्रिः—

षडष्टान्त्यास्त्यजेद्राशीन् यात्रोद्वाहसुरेषु च ।

तथा—जन्मराशीशस्य कर्मराशीशस्य च नात्कालिकमैत्र्यां वैनाशि-
क्षयोगो नास्ति । तथा च गुरुः—

जन्मकर्मक्षणाथौ द्वौ मिथो मित्रे यदा नदा ।

वैनाशिकांशकक्षोत्थदोषा भङ्गं ययुस्तदा ॥

इति । केचिन्नैसर्गिकमैत्रीमृषादायाहुः, नैतत्, सर्वेषां मिथो नैसर्गि-
कमैत्र्यभावात् । एकार्गळभङ्गमाह द्वाभ्याम्—

यदि शाशिरवी तारायुग्मे द्वितीयतृतीयकौ
प्रथमचरमौ वाऽशौ प्राप्तौ क्रमात् बलवांस्तदा ।
प्रशिथिलबलः प्राज्ञैरेकार्गळः कथितोऽन्यथा ।
कतिचिदथ तं दोषं शंसन्त्यवन्तिषु केवलम् ।
बलिनौ शुभवर्गगतौ स्ववर्गगौ वा शुभैर्ग्रहैर्दृष्टौ ।
एकार्गळदोषहरौ रविशशिनाविति वदन्यन्ते ।

चन्द्रार्कौ स्वाक्रान्तनक्षत्रयौः एको द्वितीयमन्यस्तृतीयम्, अथै-
कः प्रथममन्यश्चरममंशकं यदि प्राप्तौ तदैवैकार्गळस्य प्राबल्यं । अन्यथा-
तयोरंशकस्थितिर्व्यत्यये तस्य दौर्बल्यम् । अत्र प्रागुक्तं चक्रं विलिख्य
चन्द्रार्कक्रान्ततारारेखे पादसङ्ख्या चतुर्धा विभज्य चन्द्रार्कौ स्वाक्रा-
न्ततारांशकयोर्न्यस्य गणिते यद्युभावेकतारापादरेखागतौ स्तः तदै-
कार्गळः प्रबलः । यदा तु भिन्नतारोपादरेखागतौ तदा तयोरन्योन्य
दृष्टिपाताभिघाताभावाद्बलः । अथ केचिदेष दोषोऽवनत्यादिदेशेष्वेव

दुष्ट इत्याहुः । अन्ये पुनरेवं वदन्ति—बलिनौ शुभषड्वर्गगतौ वाऽर्क-
चन्द्रौ शुभग्रहैर्दृष्टौ यदि स्तः तदैकार्गळं नाशयतः इति । अत्र नारदः—

१एकार्गळं समाङ्घ्रिश्चेत् तत्र लग्नं विवर्जयेत् ।

अपि शुक्रेड्यसंयुक्तं विषसंयुक्तदुग्धवत् ॥

अन्यत्र—

लक्षां मालवके देशे जातः कौनलके तथा ।

एकार्गळमवन्त्यादौ वेधं सर्वत्र वर्जयेत् ।

सौराष्ट्रसाल्वेषु चलन्ति ? भङ्गं कळिङ्गवङ्गादिषु पातितं च ।

उपग्राहाख्यं कुरुबाङ्गिकेषु त्यजेच्च सर्वं तु सवेधमृक्षम् ॥

इति । शून्यादिभङ्गमाह—

स्वस्वामिजीवशशिजैस्साहितं विलग्नं

दृष्टं तु वा हरति शून्यविषादिदोषान् ।

केन्द्रत्रिकोणगृहगो बलवान् शुभश्च

मासर्क्षराशितिथिशून्यभयापहारी ॥

शुभेनान्येन वा स्वस्वामिना जीवेन बुधेन वा सहितं तेषामन्य-
तमेन दृष्टं लग्नं शून्यादिविषादिदोषान्—शून्यतिथिनक्षत्रराशिदोषान्
विषलग्नांशयोगदोषांश्च नाशयति । तथा च गुरुः—

मासशून्याह्वयास्तारा राशयो वा विषाह्वयाः ।

स्वामिजीवबुधैर्दृष्टा युक्ता वा नैव दोषदाः ॥

आदिशब्देन विरोधादियोगांश्च नाशयति । तथा सर्वसिन्धौ—

लग्ने जीवबुधाधीशैर्दृष्टे युक्ते न चापरैः ।

योगदोषा विनश्यन्ति सप्तदोषास्तथैव च ॥

अथ लग्नस्य केन्द्रे त्रिकोणे वा स्थितो बलवान् शुभग्रहश्च शून्य-
मासनक्षत्रराशितिथिदोषान्नाशयति । तथा च गुरुः --

केन्द्रत्रिकोणयोस्सौम्यो बलवांश्च स्ववर्गगः ।

मासशून्यकृतं दोषं राशिशून्यं च नाशयेत् ॥

चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन दग्धदोषांश्च हरति । तथा च नारदः--

ये दोषा मासदग्ध्यास्तिथिलग्नसमुद्भवाः

ते सर्वे नाशमायान्ति केन्द्रस्थाने बृहस्पतौ ॥

इति । दग्धराशिभङ्गमाह--

भास्वन्मन्दाचार्यभौमैर्गृहं यत्

दग्धं भूयस्तत्प्रयाति स्वभावम् ।

मासादब्दाद्वत्सराधार्त्तदर्धा-

द्राहूत्पातादाहवाद्यैश्च दुष्टम् ॥

सूर्यादिभिर्दग्धं क्षेत्रं तत्परित्यागादिनात् प्रभृति सूर्येण मासात्
मन्देन वर्षात् गुरुणा मासषट्कात् भौमेन मासत्रयात् परं पुनस्स्व-
भावमुपैति । यद्गुरुः--

दग्धमर्केण यत् क्षेत्रं त्रिशता दिवसैस्तु तत् ।

पूर्वभावमथायाति यथा वृक्षस्तु नीरदैः ॥

वत्सरेण तदर्थेन तस्मादर्थेन यान्ति ते ।

मन्दजीवकुजैर्दग्धराशयः पूर्वजं गुणम् ॥

बुधेनाक्रान्तं सद्यः प्रकृतिं याति चित्तवत् ।

राहुचारादिदुष्टं च तद्वच्छुद्ध्यति ॥

VIDYAMADAVIAM

वृष्ट्यम्बुसेकाद्धर्षते तथा ग्रहदग्धमृक्षं जलात्मकशुक्रांशुसंपर्काद्ध-
र्षते । शुक्रेन्दुयोगादिति केचित्, तथा च गुरुः—

चन्द्रशुक्रसमायोगादुडुनि शुभतां ययुः ।

विशेषाच्छुक्रसंयोगात् ग्रहमुक्तं सुबृंहते ॥

तथा ग्रहदग्धसं भुक्त्वा दाहकग्रहमप्राप्य तयोर्मध्ये विचरन् चन्द्र-
स्तत्तद्ग्रहदाहपीडां निवार्य नक्षत्रं रक्षति । यथा बलिना प्रतिभटेन
निवारितं दुर्बलं नरं बलवान् कश्चिदुपसृत्य तयोर्मध्ये स्वयमवस्थाय
बलवत्प्रतिभटपीडां निवार्य रक्षति तद्वदित्युपमालङ्कारः । भरद्वाजः—

ग्रहनक्षत्रयोर्मध्ये यदा चरति चन्द्रमाः ।

स रक्षति च नक्षत्रं पीडादोषाद्वचपोहति ॥

स्यादेतत्—प्रतिमासं भाविनेन्दुना योगेन भानं यदि दग्धत्वमपैति
तत्कुतः कुजादिदग्धानां त्रिमासादिकालेन शुद्धिरभ्यधायीति ? एवं
मन्यते—या स्वकालकृता शुद्धिः स मुख्यः कल्पः । या शुक्रयोगकृता
स मध्यः । या चन्द्रयोगकृता स कनीयानिति ॥ अथ भौमादीनामति-
चारवक्राभ्यां राश्यन्तरसंक्रमे कृतेऽपि पूर्वोक्तान्तराशिदग्धत्वं न
व्येति । यस्माद्रुद्धः—

पक्षं दशाहानि तथैव सार्धं

मासं दशाहं खलु षट् च मासान् ।

भौमादिखेदास्त्वतिचारवक्रै-

र्दृष्ट्यः फलं पूर्वगृहे यदुक्तम् ॥

इति । अनुक्तभङ्गाणां केषां चिद्दोषाणां सामान्यमपवादमाह—

यः कुरुते यं दोषं ग्रहस्त्वतुङ्गे स्थितस्त्वर्गे वा ।
सौम्यग्रहेण दृष्टस्स एव तद्दोषमपहरति ॥

आद्यशब्देन केतुग्रहवक्रादयो गृह्यन्ते । राहुकेतुभ्यामर्केन्दूपरागेण
त्रिविधैरुत्पातैः ग्रहयुद्धेन तद्वक्रगत्या च दुष्टं वर्षार्धात् स्वभावमेति ।
ग्रहास्तमयदुष्टं मासत्रयात् तथा च गुरुः—

उत्पातैः पीडितास्ताराष्वण्मासात्प्रकृतिं ययुः ।
राहुकेतुविमुक्तं यत् ग्रहवक्रनिपीडितम् ।
वत्सरार्धेन शुध्येत ग्रहयुद्धगतं च भम् ।
यस्मिन् भेऽस्तमयं गान्ति ग्रहास्तद्वं त्रिमासतः ।
अप्रकाशग्रहैर्भुक्तं सद्यो दोषाद्वचपोहति ।
मुक्तं शुभग्रहैर्यत्तत् प्रकृतिं त्रिदिनाद्भूजेत् ।

इति । स्वोक्तकालादवर्गदग्धभङ्गमाह द्वाभ्यां—

दग्धं यदृक्षं खचरेण भूय-
शुक्रांशुयोगादुपबृंहते तत् ।
तपावसाने वनमुष्णभासा
दग्धं यथाऽऽद्यम्बुनिपातयोगात् ।
ऋक्षस्य दग्धस्य च दाहकस्य
ग्रहस्य मध्ये विचरन् हिमांशुः ।
व्यपोह्य पीडामभिरक्षतीदं
बलीत हीनं बलिनोपरुद्धम् ॥

यन्नक्षत्रं ग्रहेण दग्धं तद्ग्रहपरित्यागात् परं शुक्रयोगादुप-
बृंहते । यथा ग्रीष्मान्ते सूर्येण तापाच्छुष्यत्तरुलतातृणादिकं वनमाद्य-

वृष्ट्यम्बुसेकाद्वर्धते तथा ग्रहदग्धमृक्षं जलात्मकशुक्रांशुसंपर्काद्व-
र्धते । शुक्रेन्दुयोगादिति केचित्, तथा च गुरुः—

चन्द्रशुक्रसमायोगादुडुनि शुभतां ययुः ।

विशेषाच्छुक्रसंयोगात् ग्रहमुक्तं सुवृंहते ॥

तथा ग्रहदग्धर्षं भुक्त्वा दाहकग्रहमप्राप्य तयोर्मध्ये विचरन् चन्द्र-
स्तत्तद्ग्रहदाहपीडां निवार्य नक्षत्रं रक्षति । यथा बलिना प्रतिभटेन
निवारितं दुर्बलं नरं बलवान् कश्चिदुपसृत्य तयोर्मध्ये स्वयमवस्थाय
बलवत्प्रतिभटपीडां निवार्य रक्षति तद्वदित्युपमालङ्कारः । भरद्वाजः—

ग्रहनक्षत्रयोर्मध्ये यदा चरति चन्द्रमाः ।

स रक्षति च नक्षत्रं पीडादोषाद्वचपोहति ॥

स्यादेतत्—प्रतिमासं भाविनेन्दुना योगेन भानं यदि दग्धत्वमपैति
तत्कुतः कुजादिदग्धानां त्रिमासादिकालेन शुद्धिरभ्यधायीति ? एवं
मन्यते—या स्वकालकृता शुद्धिः स मुख्यः कल्पः । या शुक्रयोगकृता
स मध्यः । या चन्द्रयोगकृता स कनीयानिति ॥ अथ भौमादीनामति-
चारवक्राम्यां राश्यन्तरसंक्रमे कृतेऽपि पूर्वोक्तान्तराशिदग्धत्वं न
व्येति । यस्माद्ब्रह्मः—

पक्षं दशाहानि तथैव सार्धं

मासं दशाहं खलु षट् च मासान् ।

भौमादिखेटास्त्वतिचारवक्रै-

र्दद्युः फलं पूर्वगृहे यदुक्तम् ॥

इति । अनुक्तभङ्गाणां केषां चिद्दोषाणां सामान्यमपवादमाह—

यः कुरुते यं दोषं ग्रहंस्स्वतुङ्गे स्थितस्स्वर्गे वा ।

सौम्यग्रहेण दृष्टस्स एव तद्दोषमपहरति ॥

यो ग्रहो यं दोषमुत्पादयति स तदा स्वोच्चे स्ववर्गे वा स्थितः
शुभग्रहेण दृष्टश्चेत् स्वकृतमपि दोषं तं हरति । गुरुः—

यस्य दोषस्य यः कर्ता स्ववर्गस्वोच्चगो यदि ।

शुभदृष्टस्त एवास्य भङ्गं दोषस्य दास्यति ॥

इति । ज्वालादिदोषाणामप्ययमेव भङ्गः । गुरुशुक्रास्ताधिमासादिषु
कार्याण्याह—

द्वयोरस्तमेकस्य वा काव्यगुर्वो-
र्दिवादृशीनीयत्वमन्योन्यदृष्टिम् ।
संसंसर्पमंहस्पतिं चाधिमासं
न मासोक्तकार्येषु षडुर्जयन्ति ॥

शुक्रजीवयोर्द्वयोरेकस्य वा मूढत्वं सवाल्यवृद्धत्वं दिवा दृश्य-
तामन्योन्यदृष्टिं संसर्पाहस्पत्यधिमासांश्च षडेतान् महादोषान् मास-
संख्यानियमवत्सु अन्नप्राशनादिकार्येषु न त्यजन्ति । यतः कालवि-
धिर्बलीयान् । आत्रेः—

मासप्रोक्तेषु कार्येषु मूढत्वं गुरुशुक्रयोः ।

अधिमासादिदोषाश्च न स्युः कालविधेर्बलात् ॥

दिनसंख्यानियमवत्सु नामक्रियादिष्वपि न दोषः । तथाच गुरुः—

यस्याः क्रियायास्संप्रोक्तः कालो मासैर्दिनैरपि ।

तस्या न दोषो मूढत्वे वक्रे वा जीवशुक्रयोः ॥

इति । वर्षसंख्यानियमवत्सु कार्येष्वप्यधिमासादीनामपवादाः कैश्चि-
दुक्ताः ।

अत्रिः—

तदब्देशे बलैराढ्ये तन्मासेशेऽथ वा परे ।

आपत्कालेऽधिमासस्तु न दोषाय विदो विदुः ॥

सर्वसिद्धौ—गोऽशस्थो गोगतो वाऽच्छो गुरुदर्शनदोषद्वत् ।

राजादीनामवश्यकार्येषु यात्राविवाहादिषु च न दोषः ।

तथाच गुरुः—

अतिपातिषु कार्येषु ग्रहान् संपूज्य शास्त्रतः ।

दक्षिणां बहुलां दत्वा दैवज्ञं सम्यगर्च्य च ।

कर्तव्यान्यत्र कर्माणि दोषेषूक्तेषु सत्स्वपि ।

इति । शूलमहाशूलयोर्भङ्ग उक्तो ब्रह्मयामके—

भौमाद्याः पतयस्सप्त भेषु सप्तसु सप्तसु ।

स्वपरिग्रहनक्षत्रे स्थिता दोषान्न कुर्वते ।

यात्रादिषु च कार्येषु सर्वसंपत्तिकारकम् ।

स्वपतित्वान्महादेवि ! हितं कुर्वन्ति देहिनाम् ॥

अत्रिश्च—

शुभकृत्स्वेष्टवर्मेऽब्जो गुरुदृष्टश्च शूलद्वत् ।

वेधभङ्ग उक्तः सर्वसिद्धौ—

वेधतारागतो दोषश्शुभयोगेन नश्यति ।

रुद्रश्च—

क्रूरैर्विद्धं त्रिविधोत्पातदुष्टं

तावद्विष्यं नोऽशुभं मङ्गलेषु ।

यावदुक्ता शशिना तच्च मुक्तं

पश्चात् तत्स्यान्मङ्गलं मङ्गलार्हम् ॥

अन्यत्र—

क्रूरेण व्याधितं तु नेष्टमखिलं यत् क्रूरलताहतं
तत्सर्वं च वियद्गुणाश्च घटिकादोषान्वितोपग्रहे ।
धिष्ण्ये त्वर्धमभद्रमुक्तमपरैः सत्स्वेष्टलताहतं
सङ्क्रान्तं च विमुक्तमृक्षशुभदैः प्राप्यं च सर्वं त्यजेत् ॥

इति । रात्रिदोषभङ्गमाह—

पूर्वं षड्घटिकाः प्रभातमुदयात् भानोः प्रदो-
षस्तथा पश्चादस्तमयात् घटीत्रयमिह त्याज्यं स
एवाथ वा । यत्कर्मविहितं निशासु तद्वृत्ते क्षौण्ड
समावर्तनात् कतव्यं निखिलं प्रभातसमये शंस-
न्ति गार्ग्यादयः ॥

भानोरधोदयात्पूर्वं षड्घटिकाकालः प्रभाताख्यः । अर्धा-
स्तमयात्पश्चात् षड्घटिकाकालः प्रदोषाख्यः । तथा च बृहस्पतिः—

रात्रावस्तमयः पूर्वो मध्यमश्चापरस्ततः ।

प्रत्यूषः पञ्च निर्दिष्टाः प्राञ्जल्यान्त्यास्त्रयोऽपरे ॥

इति । रात्रौ सूर्यार्धास्तमयात्परं घटिकात्रयं पूर्वसन्ध्याख्यमेव सर्व-
कर्मसु त्यजेत्, अयं कनीयान् कल्पः । अथ स प्रदोषकाल एव
त्याज्यः, स मध्यमः । सूर्यास्तमयात्परं पञ्चघटिकाकालस्त्याज्य
इत्यन्ये । तस्यैव रौद्रत्वात् । तथा च स्मृत्यन्तरे—

रात्रौ रौद्रो विहारश्च भौतिको ब्रह्मवैष्णवौ ।

दैविकश्चेति षड्यामास्तत्तत्प्रीतिकरास्मृताः ॥

इति । मध्यरात्रं परिहृत्य मुख्यः । अथ प्रभातकाले क्षौरसमावर्तनाभ्या-
मृते सर्व रात्रावनुक्तं कर्म कर्तव्यमिति गार्ग्यादिभिरुक्तं । तथा च
चन्द्रप्राबल्ये रात्रौ शुभकर्म कार्यमित्यन्ये । तथा च भरद्वाजः—

दिव एव प्रशस्यन्ते शुभकर्माणि नित्यशः ।
रात्रौ चन्द्रबले प्राप्ते शुभलग्ने च साधयेत् ॥

इति । रश्मिदोषभङ्गश्चोक्तस्सर्वसिद्धौ—

क्रमेण लग्नचन्द्रोपचयस्थौ लग्नचन्द्रपौ ।
बलिन्यर्केन्दुगक्षेशे लग्ननाथस्य बन्धुगे ।
सुकर्मणि सुखोपेते चन्द्रे दोषो न रश्मिजः ॥

भरद्वाजः—

निर्जितस्यांशुहीनस्य सूर्यस्याग्रगतस्य च ।
रश्मयो नैव बाध्यन्ते सौम्यैरंशुभिराक्षिताः ॥

गुरुः—

केन्द्रत्रिकोणगास्तौभ्यास्स्ववर्गस्था बलान्विताः ।
नाशयन्ति तदा दोषान् ग्रहरश्मिसमुत्थितान् ।
शुभदृष्टियुते लग्ने सशुभे लग्नकण्टके
बलाढ्ये वा शिशिन्येवं रश्मिदोषो न विद्यते ॥

परिवेषभङ्गाश्च गुरुणोक्ताः—

कण्टकेऽथ शुभस्तिष्ठेत् त्रिकोणे वा बलान्वितः
शुभवर्गविलग्नेन्द्रोः परिवेषोत्थदोषहा ॥
स्वत्रिकोणोच्चराशिस्थः केन्द्रे वोपचये शुभः ।

परिवेषगतं दोषं विनाशयति नान्यथा ।
 चन्द्रे शुभरते लग्नात् गते वोपचयं पतौ ।
 लग्नस्योपचये चन्द्रात्परिवेषो न दोषदः ।
 स्वर्क्षस्थश्चेत् शुभः पश्येत् विलग्नं शिरसोदयम् ॥
 परिवेषान्न दोषस्याल्लग्नशे बलसंयुते ।
 शुभांशस्थो रविश्चन्द्रश्शुभदृष्टश्शुभर्क्षगः ।
 परिविष्टे न दोषाय लग्नशेन निरीक्षिते ।
 सूर्येन्दूषितराशीशः स्वलग्नशस्य बन्धुगः ।
 यदा तदा न दोषाय परिवेषो गुणावृतः ॥

इति । अयमेव प्रत्यर्कमेघगर्जितादीनामपि भङ्गः । एते च स्वकाले
 न दोषाय । यन्तारदः—

अकालजा भवन्त्येते विद्युन्नीहारवृष्टयः ।
 प्रत्यर्कपरिवेषेन्द्रचापाभ्रध्वनयो यदि ।
 दोषाय मङ्गले नूनमदोषायैव कालजाः ।

युत्पाताः स्वकाले न दोषाय भवन्तीत्युक्तं । लग्नदोषभङ्गमाह —

बलिनौ चन्द्रलग्नशौ लग्नं मूर्धोदयं यदि ।
 असप्तमस्थपापानां दृष्टिर्लग्ने न दोषदा ।

चन्द्रलग्नाधिपयोः प्राबल्ये लग्ने च मूर्धोदये सति पापाना-
 मपूर्णदृष्टिर्लग्ने न दोषदा भवति । तथा च सर्वसिद्धौ—

लग्ने मूर्धोदये चन्द्रो लग्नचन्द्रौ बलान्वितौ ।
 परिवेषं हरन्त्येते लग्नं वा पापवीक्षितम् ॥

पूर्णपापदृष्टिभङ्गमाह—

स्वोच्चस्वक्षेत्रगतः कविर्गुरुर्वा यदा बली लग्ने ।
न तदा दुष्यति दृष्टिर्मदनगतस्यार्कजस्य राहोर्वा ।

स्वोच्चादिस्थो बलवान् शुक्रो गुरुर्वा लग्नगतश्चेत् सप्तमस्थ-
योर्मन्दराहोरपि पूर्णदृष्टिर्न दोषकृत् । किं पुनरन्येषां पूर्णदृष्टिः ।
पाददृष्टयश्च सर्वेषामित्यर्थसिद्धम् ॥ पापोदयदृष्टिभङ्गमाह—

उपरागादुपरिगते वर्षार्धे तनुगते शुभे बलिनि ।
उदयोऽपि तमोग्रहयोऽशुभदशशुभकर्मसु ग्राह्यः ।

सूर्येन्द्रोर्ग्रहणादूर्ध्वं मासषट्केऽतीते परतो बलवान् शुभो
लग्नस्थश्चेत् राहुकेतूदयोऽपि ग्राह्यः । यस्मादुपरागात् परं वर्षार्धं
तयोर्बलम् । उक्तं च—

उपरागसमीपे तु राहुकेतुबलं स्मृतम् ।
तमोलग्रं शुभं दद्यात् यदा केन्द्रे शुभग्रहः ।
षण्णवत्यंशकातीतः पश्चात्तच्छुभकर्म चेत् ।
अथ वा केतुराहुभ्यां ग्रस्तादकेन्दुमण्डलात् ।
दिनाशीतेः शतात्पश्चात् राहुकेतूदयशुभः ।
राहुकेतू विना तमोग्रहाणामुदयभङ्गा गुरुणोक्ताः—
अप्रकाशग्रहा लग्ने न दद्युरशुभांस्तदा ।
यदेन्दुदशुभकर्मस्थः शुभस्थाने शुभेक्षितः ॥

¹राहुजातकेतूदयभङ्गः—

बुधशुक्रोदये तेषां लग्नदोषो विनश्यति ।

¹ इदं वाक्यं पुस्तकान्तरे नास्ति.

सूर्यकेन्द्रस्थराहूदयमङ्गः—

योगे चाभिजिदाख्येये सौम्यग्रहविलग्रे ।

दृष्टे (वातै) पातैस्तदा राहुलग्नदोषो विनश्यति ।

राशिभेदेऽपि भावैक्येन प्राप्तस्य पापोदयमङ्गोऽपि—

यदा शुभग्रहौ केन्द्रे भवेतां शुभवीक्षितौ ।

त्रिषेडकादशे पापास्तदा पापोदयोऽपि सन् ।

यदा शुभः शुभोदुस्थः स्वमित्रग्रहवीक्षितः ।

विलग्नान्शकेन्द्रस्थः तदा पापोदयोऽपि सन् ।

यदाऽतिबलवत्सौम्यचन्द्रावन्योन्यसंयुतौ ।

न चेत् लग्नान्शके क्रूरस्तदा पापोदयोऽपि सन् ।

इति । विषलग्नपावादोऽत्रिणोक्तः—

विषग्नशुभकृच्चन्द्रो लग्नान्शे शौ शुभौ तु वा ।

उभयपापदोषमङ्गमाह—

लग्नस्य पापद्वयमध्यगत्वं

दोषं गुरुः केन्द्रगतो बलाढ्यः ।

केन्द्रत्रिकोणोपचयेषु मूर्तेः

स्थितश्शुभो वा बलवान्निहन्ति ॥

लग्नस्य कर्तरीयुक्तं दोषं केन्द्रद्वयगतो बली गुरुर्नाशयति
तथा लग्नकेन्द्रत्रिकोणोपचयराशिष्वभिहितेषु स्थितो बलवानन्यः शुभे
वा तं दोषं हरति । तथा सर्वसिद्धौ—

केन्द्रे गुरुर्बली हन्ति लग्नस्योभयपापताम् ।

लग्नोपचयकेन्द्रस्थस्त्रिकोणस्थोऽथ वा शुभः ॥

अनिष्टस्थानगतग्रहदोषमङ्गमाह—

कूरादशुभा वा वपुषो ग्रहा ये
स्थानान्यनिष्ठानि यदा प्रविष्टाः ।
तदा स्वतुङ्गे बलिनस्स्वभे वा
यदि स्थितास्ते शुभदा भवन्ति ॥

कूराशुभा वा ये ग्रहाः लग्नस्यानिष्टस्थानेषु यदा तिष्ठन्ति
तदा ते स्वोच्चे स्वराशौ वा स्थिताः बलिनो यदि स्युः शुभदा एव न
दोषप्रदाः । यद्गुरुः—

ग्रहास्सर्वे लग्नादशुभगदितस्थानसहिताः
स्वतुङ्गे स्वर्क्षे वा यदि समियुरुत्कृष्टबलिनः ।
तदा तेनैवास्मिन् कथितमशुभं दद्युरखिलं
भवेद्यत्तैः प्रोक्तं शुभमतितरां दद्युरखिलम् ।

किंच—

गोचरेष्वशुभा ये स्युर्ग्रहास्ते शुभकर्मसु ।
स्वर्क्षे शुभग्रहर्क्षे वा शुभास्स्वशुभवर्गगाः ।

अन्ये—

अनिष्टस्थानसंस्थोऽपि ग्रहो लग्नात्त दोषकृत् ।
बुधभार्गवजीवैस्तु दृष्टः केन्द्रत्रिकोणगैः ॥

इति । चान्द्रदोषमङ्गमाह—

कवौ गुरौ वा बलिनि स्थिते तनौ
शुभेन दृष्टः शुभवर्गगदशशी ।

**विवर्धमानश्शुभकृच्च नाशुभं
करोति तिष्ठन्नपि षष्ठरिप्फयोः ॥**

बलाढ्ये शुके गुरौ वा लग्नस्थे सति शुभदृष्टः शुभवर्गस्थः
शुक्लपक्षगः शुभकर्मा चतुर्विधश्चन्द्रः षष्ठान्त्ययोस्तिष्ठन्नपि न दोषकृत् ।
यस्मात् गुरुः—

अनिष्टस्थानस्थोऽप्यतिशुभद एवाशुभकरः

शुभांशस्थसौम्योदितबलदृशा चाहिततनुः ।

तदानीं चन्द्रोऽतिप्रथितशुभकृच्चेद्वलयुत-

स्वतुङ्गस्वर्क्षस्थो यदि शुभकरः किं पुनरयम् ॥

अनिष्टस्थानसंस्थोऽपि प्रशस्तफलदः शशी ।

सौम्यभागेऽधिमित्रेण बलिना सन्निरीक्षितः ।

इति । पापांशस्वांशदोषमङ्गमाह—

**सौम्यद्वादशाभागश्शुभपदे दृष्टोऽथ वा सद्रूहै-
रङ्गाङ्गांशककेन्द्रगस्सुरगुरोः केन्द्रेऽल्लपक्षे स्थितः ।
सत्कर्मैव चतुर्विधोऽपि बलवानिन्दुः क्षिणोत्पात्मनो
दोषं पापनवांशकाश्रयभवं स्वांशाश्रयोत्थं तथा ॥**

लग्नस्थेष्टस्थानस्थश्चन्द्रः शुभद्वादशांशगश्चेदेकः, शुभदृष्टश्चेदन्यः,
लग्नराशेर्लग्नांशराशेश्वा केन्द्रगश्चेदपरः, शुक्लपक्षे गुरुस्थितराशेर्गुरु-
स्थितांशराशेश्वा केन्द्रस्थितश्चेदन्यः, एवं योगचतुष्टयंऽपि सत्कर्मा
बलवानिन्दुर्यादि स्यात् स्वस्य पापनवांशाश्रयफलं दोषं स्वांशा-
श्रयदोषं च नाशयति । एतद्गुरुणैवोक्तं भवति—

इष्टस्थानगतश्चन्द्रः शुभस्य द्विरसांशगः ।

शुभकर्म्मरतः पापनवांशस्थोऽपि शोभनः ॥

शुभग्रहेक्षितश्चन्द्रश्शुभकर्मरतो यदि ।
पापांशके शशाङ्कस्थदोषान् सर्वान् व्यपोहति ॥
लग्नलग्नांशकेन्द्रस्थः शुभकर्मरतोऽपि वा ।
गुरुष्वितनवांशर्क्षकेन्द्रगश्शुभकर्मकृत् ।
सिते पक्षे शशी पापस्वांशदोषानपोहति ॥

पांशः कृष्ण एव दोषकृत् । यदत्रिः—

स्वांशस्थो दोषदः कृष्णे चन्द्रः स्वोच्चे सिते शुभः

अन्येऽपि पापस्वांशदोषभङ्गा गुरुणोक्ताः—

लग्नकेन्द्रे त्रिकोणे वा शुभस्वांशे बलान्वितः ।
पापांशेन्द्रस्थितं दोषं विजहाति न संशयः ॥
चन्द्रस्थितांशनाथो यः क्रूरोऽप्यायत्रिशत्रुगः ।
विधौ पापांशगे दोषान् जहाति बलसंयुतः ॥
शुभग्रहोषितांशर्क्षकण्टकस्थः शुभेक्षितः ।
शुभकर्मरतस्स्वांशस्थितदोषानपोहति ॥
चन्द्रो विषघटीवर्जं शुभदृष्टस्त्रिकोणगः ।
लग्ने वा केन्द्रगो नश्येत् स्वांशजं दोषमन्त्यतः ॥
कालहोराधिपस्यांशराशिकेन्द्रे यदा शशी ।
शुभकर्मरतस्स्वांशदोषानपनयेत् तदा ॥

इति । पापवर्गादिभङ्गमाह—

असौम्यवर्गाश्रयजान् सुकर्मा
दृष्टो बलिष्ठेन शुभेन चन्द्रः ।

दुष्कर्मवेलादिसमुद्रयांश्च
भिनत्ति दोषान् शुभवर्गसंस्थः ॥

बलवच्छुभदृष्टः सत्कर्मा चन्द्रः पापषड्वगाश्रयजान् दोषान्
हरति । पूर्वं पापस्यैव । अयं तद्वर्गस्य भङ्ग इति । शुभवर्गस्थः
शुभदृष्टश्चन्द्रः स्वस्य कर्मावस्थावेलादिदोषान् हरति । तथा पापयोग-
दृष्टिभङ्गमाह—

यदा स्ववर्गे तनुकेन्द्रसंस्थं¹
गुरुदृशी वाऽथ शुभांशकस्थः ।
शुभेन दृष्टस्सुकृती तदानीं
न पापयोगेक्षणदोष इन्दोः ॥

स्ववर्गस्थो गुरुः लग्नकेन्द्रस्थं चन्द्रं पश्यतीति शेषः । चन्द्रः
स्वयं वा शुभांशस्थः शुभदृष्टः सुकर्मा स्यात् तदा चन्द्रस्य पाप-
योगजो दोषस्तद्वृष्टिजो वा नास्ति ।

गुरुः स्वकीयवर्गस्थो बलवान् लग्नकेन्द्रगः ।
पश्यन् स क्रूरशीतांशुं तं दोषं विलयं नयेत् ।
क्रूरग्रहयुतश्चन्द्रः शुभांशे शुभकर्मकृत् ।
शुभदृष्टो यदा दोषं स पापोत्थं लयं नयेत् ॥

निर्वसिन्धौ च—

केन्द्रस्थो गुरुणा दृष्टः चन्द्रः स्वोन्नतदोषहन् ।
सद्वर्गस्थो ग्रहो लग्नात् केन्द्रगः स्वर्क्षगो यदा ।

¹ तनुकेन्द्रसंस्थः.

।दा हन्ति शशी दोषं पापयोगेक्षणोद्भवम् ।

इति । दुर्बलसौम्ययोगमङ्गश्च कैश्चिदुक्तः—तथा च गुरुः—

लग्नेशे बलसंयुक्ते शुभांशे शुभवीक्षिते ।

समागमः शुभसौम्यैः दोषो नश्येत् स्वभावतः ।

विधौ शुभनरे सौम्यैर्दृष्टे वर्गे निजे सताम् ।

स शुकेन्दूत्थितं दोषं व्यपोहति विधुस्तदा ।

सर्वदोषाणां सामान्यभङ्गानाह पञ्चभिः—

गुरुस्सुदीप्तस्तनुकेन्द्रसंस्थितो
बलाधिको लग्नगतो विशेषतः ।

निहन्ति दोषानखिलांस्तथाविधः

स्ववर्गसंस्थो भृगुजो बुधोऽपि वा ॥

विशालरश्मिर्बलीयान् लग्नकेन्द्रस्थो गुरुः सर्वदोषान् नाशयति । तत्रापि लग्नगतो विशेषतः सर्वदोषहन् । किं च तथाविधो दीप्तिमान् बली केन्द्रगः स्ववर्गस्थः शुक्रः बुधो वा सर्वदोषान् नाशयति । अत्र गुरुः—

गुरुस्सर्वबलोपेतो लग्नकेन्द्रस्थितो यदि ।

तेजस्वी सर्वदोषाणां हन्ता लग्ने विशेषतः ॥

तथैव शुक्रचान्द्री च बलवन्तौ प्रकाशितौ ।

रश्मिमन्तौ स्ववर्गस्थौ विशेषात् दोषनाशनौ ॥

इति । शुक्रस्तु द्यूनादन्यकेन्द्रस्थितः । तथा च नारदः—

दोषाणां तु शतं हन्ति बलवान् केन्द्रगो बुधः ।

अपहाय द्यूनं शुक्रो द्विगुणं लक्ष्मज्जिराः ॥

त्रिकोणेष्वपीति नारदः—

केन्द्रत्रिकोणगे जीवे शुक्रे वा यदि वा बुधे ।

दोषा विनाशमायान्ति पापा इव हरिस्मृतेः ॥

ननु विशेषा अपवादा एव दोषानिषूदनाः नैते, समान्यत्वात्,
नैतदस्ति, सविशेषत्वात् तथा च गुरुः—

तिथ्युक्षशुभवारादौ ये दोषाश्चोदिताः पुरा ।

ते सर्वे नाशमायान्ति जीवशुक्रेश्चणोदयैः ॥

लग्नं गतो गुरुश्शुक्रो गुणी दीप्तो बलान्वितः ।

नक्षत्राद्यशुभे कालेऽप्यतिदोषान् व्यपोहति ॥

नारदः—

अब्दायनर्तुमासोत्था ये दोषाः पक्षसंभवाः ।

ते सर्वे विलयं यान्ति केन्द्रस्थाने बृहस्पतौ ॥

दुस्स्थानस्थग्रहकृताः पापखेटसमुद्भवाः ।

ते दोषा विलयं यान्ति केन्द्रस्थाने बृहस्पतौ ॥

दुर्लग्नदुर्मुहूर्तोत्थदुर्निमित्तांशजाश्च ये ।

दोषास्सर्वे लयं यान्ति केन्द्रस्थाने बृहस्पतौ ॥

उच्चस्थो गुरुरेकोऽपि लग्नदोषोपसंचयम् ।

हन्ति पापान् हरिदिने चोपवासव्रतं यथा ॥

लग्नलग्नांशसंभूतान् बलवान् केन्द्रगो गुरुः ।

भस्मीकरोति तान् दोषान् इन्धनानीव पावकः ॥

लग्नदोषाश्चांशदोषा दोषाष्पट्वर्जनाश्च ये ।

हन्ति तान् लग्नगो जीवो मेघसङ्घामिवानिलः ॥

त्रिविधोत्पातजं दोषं हन्ति केन्द्रगतो गुरुः ।

स्थनादिवलसंपन्नस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरं यथा ॥
चापोपमूर्यनीहारमेघगर्जनसंभवाः ।
दोषा नाशं ययुस्सर्वे केन्द्रस्थाने बृहस्पतौ ॥

विद्युन्नीहारवृष्ट्यादयस्त्वल्पदोषाः, तेषां भङ्गश्च —
बृहस्पतिः केन्द्रगतः शुक्रो वा यदि वा बुधः ।
एतेषां दोषनिचयं नयत्येव विनाशनम् ॥

अपि च—

उक्तानुक्ताश्च ये दोषास्तात्रिहन्ति बली गुरुः ।
केन्द्रसंस्थः सितो वाऽपि भुजङ्गान् गरुडो यथा ॥

इति ॥

मूर्तेस्त्रिकोणागमकण्टकेषु
रवीन्दुजीवर्क्षनवांश¹संस्थः ।
सुकर्मकृन्नित्यमशेषदोषान्
मुष्णाति वर्धिष्णुरनुष्णरश्मिः ॥

लग्नस्य केन्द्रत्रिकोणलाभराशिषु रवीन्दुजीवराशिनवांशगतः
तत्स्थितराश्यंशगतो वा तदाक्रान्तांशकराशिगतो वा पक्षबलवान्
चन्द्रः सर्वदोषान् हरति । अत्र गुरुः—

गुरुरवीन्दुनवांशकराशिगः
शुभाविलग्नचतुष्टयगो यदि ।
नवमपञ्चमराशिगतोऽथ वा
सकलदोषहरश्शुभवर्धनः ॥

¹ कक्षः.

तदृशः शुभांशगो वा । तथा गुरुः—

यदा शशाङ्कोऽतिबली शुभांशगः

करोति कर्मातिशुभं त्रिकोणगः ।

तथोदयर्क्षाशक एव नाशयेत्

बलेद्धदोषानिव कोपनो धनम् ॥

इति । नारदः—

मुहूर्तपापषड्वर्गकुनवांशग्रहोत्थिताः ।

ये दोषास्तान्निहन्त्येव यत्रैकादशगशशी ॥

अन्ये—

यद्यपि गुरुबुधशुक्रा रवीन्दुसुतराहुकेतुसूर्यमुताः ।

तेऽप्यपकर्तुमशक्ता लग्नस्यैकादशे चन्द्रे ।

इति ॥

लग्नांशद्विषमांशके यदि शुभास्तत्कण्टकांशेऽपि वा जीवज्ञौ गुरुभार्गवौ बुधसितौ (चा) वाऽन्यो-
न्यकेन्द्रस्थितौ । लग्नेशस्य शुभस्य वाऽतिबहवो
युक्ताष्टवर्गाक्षकाः स्वेष्ट्वेकैकसमाश्रितांशकगृहात्
लाभांशकस्थाः शुभाः ॥

लग्नांशर्क्षात्रिकोणांशकसदनगताः सद्रूहाः केन्द्र-
गा वा जीवांशक्षेत्रकेन्द्रे सितबुधशशिनः चन्द्रके-
न्द्रे सुरेज्यः ॥ चन्द्रप्राप्तांशराशेऽसुतनवमगताः के-
न्द्रसंस्थाश्च सौम्याः सौम्येन्द्रात्मेशलग्नोपचयगृह-
गता वीर्यवन्तश्शुभाश्च ॥

राजेन्द्रस्सहमन्त्रिको गजवरं सिंहासनं वा श्रितः
शीतांशुर्वलवान् शुभांशकगतो लग्नेष्टगेहस्थितः ॥
होरावत्सरमासवासरपतिर्लग्ने बली सद्बृहो लग्ना-
द्वैरिसहोदरागमगताः पापाश्च वीर्योत्कटाः ॥

लग्ननवांशाद्विषमनवांशगाः शुभा यदि स्युः एकः सर्व-
दोषहरो योगः । लग्नांशस्य केन्द्रांशगाः शुभाश्चेदन्यः, शुभौ
द्वौ द्वावन्योन्यस्थितांशराशेः केन्द्रराश्यंशगौ स्तः त्रयो योगाः,
वाशब्दो मतान्तरद्योतनार्थः । तेन शुभास्त्रयोऽप्यन्योन्यांशकेन्द्रगाः
स्युरेकं, लग्नाधिपस्य शुभस्य अन्यस्य वा स्वाष्टवर्गोक्तविधिना
प्राप्ताक्षकाः स्वयुक्तराशौ यथा बहवश्चतुरत्तराश्चेदन्यः । अथ वा
शुभस्येति जातावेकवचनं, शुभानां त्रयाणां स्वाक्रान्तराशिषु अ-
ष्टवर्गाक्षकाः बहवस्स्युरपरः, यदा शुभेष्वेकाक्रान्तनवांशराशेरेकाद-
शराश्यंशगतो अन्यः स्यात्, एवं षड्योगाः । तथा तेष्वेका,
न्वितांशादायांशे अन्यः । तदायांशेऽपरः । एते षट् । तथा लग्ना
देकादशांशे सर्वे ग्रहाश्चेदेकोऽर्थसिद्धः । लग्नांशराशेस्त्रिकोणराश्यंशगा-
श्शुभाः त्रयश्चेदेकः, तत्केन्द्रराश्यंशगाश्चेदन्यः, जीवयुक्तांशराशेः
केन्द्रराश्यंशकेषु शुक्रबुधचन्द्राश्चेदपरः, चन्द्रयुक्तराशे केन्द्रे गुरुश्चे-
देकः, चन्द्रयुक्तांशगशेः त्रिकोणगाः केन्द्रगा वा शुभाश्चेत् द्वौ,
शुभेष्वन्यतमस्य उपचयराशिगताः अन्ये शुभा यदि स्युः एकः,
लग्नराशेर्वा ¹ उपचयराशिगताः शुभा यदि स्युः त्रयो योगाः, राज्या-
दिकर्मवान् शुभांशगः शुभदृष्टश्चेदेकः, तथा चन्द्रस्य लग्नाधिप-
तेर्वा लग्नादिष्टराशौ स्थितश्चेदन्यः, कालहोरेणः शुभो बली लग्नग-
श्चेदेकः, तथा तद्वर्षाधिपः तन्मासाधिपः वाराधिपो वा बली शुभो

लग्नश्चेत् त्रयो योगाः । प्रबलाः पापाः । लग्नात् षट्त्रचा-
यगाश्चेदेकः एवमेते अष्टत्रिंशद्योगा उक्ताः¹ तथा च गुरुः—

लग्नांशकाद्यदा जीवशुक्रज्ञा बलदीपिताः ।
ओजांशके स्थितास्सर्वे तदा दोषाः शमं ययुः ॥
लग्नांशकक्षकेन्द्रक्षगतांशे ज्ञगुरुशनाः ।
²यदि दोषा ययुर्नाशं राजद्रोहाद्यथाऽन्वयः ॥
जीवशुक्रौ यदा केन्द्रे परस्परमुपागतौ ।
नवांशमण्डले चक्रे सर्वदोषविनाशनौ ॥
एवं गुरुज्ञौ शुक्रज्ञौ यदाऽन्योन्यचतुष्टये ।
नवांशचक्रे षोडशौ द्वौ सर्वदोषविनाशनौ ॥
लग्नेशस्याष्टवर्गे तु स्वयुक्तक्षक्षसंहतिः ।
बहुत्वे यदि तद्दोषा नश्यन्त्यनवशेषतः ॥
शुभग्रहाष्टवर्गेषु शुभसंयुक्तराशिषु ।
बह्वक्षेषु तदा दोषाः सर्वे नाशमवाप्नुयुः ॥
यदा जीवस्थितांशक्षभवराश्यंशगः सितः ।
तदा दोषा ययुर्नाशं यथा रामेण राक्षसाः ॥
गुरुस्थितांशराशेर्वा शुभराश्यंशगो बुधः ।
यदा तदा ययुर्दोषा नाशं³वाते तु तूलवत् ॥
शुक्रस्थितांशकक्षान्तु भवराश्यंशगो गुरुः ।
तदा दोषा लयं यान्ति दुर्मार्गार्जितवित्तवत् ॥
सितस्थितांशराशेर्वा भवराश्यंशगो बुधः ।
यदा तदाऽखिला दोषा नश्यन्ति हिमवद्रवौ ॥
यदा बुधोषितांशक्षलाभराश्यंशगः सितः ।
तदा दोषाः शमं यान्ति यथा रोगा भिषग्वरैः ॥

¹ त्रिषट्त्रयाणां.² तदा.³ वातेन

धस्थितांशराशेस्तु भवराश्यंशगो गुरुः ।
 तदा दोषा ययुर्नाशं पापवद्भवन्दनात् ॥
 यदा सर्वे ग्रहा लम्बादागमर्क्षाशगास्तदा ।
 दोषा नाशं ययुस्सर्वे यथाऽऽदित्योदये तमः ॥
 लम्बांशराशेर्नवपञ्चमर्क्ष-
 नवांशगाः जीवसितेन्दुपुत्राः ।
 यदा तदा दोषगणाः प्रयान्ति
 नाशं यथा देवगणेन दैत्याः ॥
 गुरुर्भृगुश्चन्द्रज एव वा बली
 यदा विलम्बांशकराशिकेन्द्रगः ।
 शुभांशगस्योपचये यदा बली
 तदाऽपि दोषा बलिनो लयं ययुः ॥
 जीवांशकर्क्षाद्यदि केन्द्रभांशे
 निशाकरो वाऽस्य सुतः सितो वा ।
 तदाऽधिगच्छन्ति विनाशमुग्रा
 दोषा यथा हालहला हरेण ॥
 सितज्ञजीवा बलिनस्त्रिकोणे
 शशाङ्कलम्बांशगृहास्मुदीप्ताः ।
 व्रजन्ति दोषा लयमग्रजन्मा
 यथैकदा वा श्रुतिविक्रयेण ॥
 शशाङ्कयुक्तांशकराशिकेन्द्रे
 शुभग्रहाः स्युर्बलरश्मियुक्ताः ।
 तदा लयं यास्यति दोषसङ्घः
 प्रतिग्रहेणेव यथा द्विजचम् ॥

शुभग्रहाः स्वोपचये परस्परं
 बलान्विता वा यदि वा स्ववर्गगाः ।
 तदाऽग्रचदोषा ययुरञ्जसा लयं
 कृतघ्नभावस्य शुभा गतिर्यथा ॥
 यदा शशाङ्कोपचयत्रिकोणगः
 शुभग्रहः सौम्यनिरीक्षितो बली ।
 तदा गुणैर्दोषगणो विनश्यति
 यथा ^१महादानगुणस्य बह्वधम् ॥
 यदोदयेशोपचये बली शुभो
 विधुस्सुपूर्णः शुभकर्मकृतदा ।
 प्रयान्ति दोषा विलयं यदा तदा
 प्रतिप्रशान्तस्य पुनर्भवादयः ॥
 शुभोऽशुभो वाऽथ बली ग्रहेष्वसौ
 विलग्नसद्वोपचये स्ववर्गगः ।
 यदा तदा दोषगणो विनश्यति
 प्रवृद्धरागस्य यथा त्रिविष्टपम् ॥
 यदा गजं वाऽधिगतश्शशाङ्को
 बली च भद्रासनमेव वा तदा ।
 विनाशयेद्दोषगणं शुभांशगो
 यथाऽङ्गना वा पुरुषस्य पौरुषम् ॥
 शशिनि नृपतिपूज्ये मन्त्रिभिः सार्धमग्रचैः
 बुधगुरुसितदृष्टे स्वांशगे वा शुभांशे ॥
 बलवति बहुदोषो याति नाशं गुणाढ्यो
 द्विज इव कपटोक्तैः कृत्स्निमाचारवर्गैः ।

न्द्रस्सत्कर्मकर्ता चेत् शुभांशेऽतिबलान्वितः

इष्टस्थानगतो लग्नात् सर्वदोषविनाशनः ॥

समामासदिनाधीशो होराराश्यंशगोऽपि वा

गुणवान् बलवानेकः सर्वदोषविनाशनः ॥

विलग्नाराश्यंशकराशितोऽर्को

यमोऽथ वा भूमिसुतोऽपि वा बली ।

त्रिषड्भपक्षांशगतास्तदा ययु

दोषा विनाशं शुभवर्धनेन ॥

इति । यत् भांशके प्रोक्तं तदंशराशौ च भवति । यद्भाशौ तत्तदं-
शेऽपि समं । यद्गुरुः—

ग्रहस्थितांशके प्रोक्तं तदंशर्क्षेऽपि तद्ववेत् ।

अंशचर्क्षेऽशराशेर्वा कथितद्वययोः समम् ॥

अन्येऽपि दोषापवादयोगा गुरुगोक्ताः । तेऽपि पूर्वोक्तयोगैकदेशसू-
चिताः । यथा—

शशाङ्कयुक्तांशकतोऽपि वा यदा

गुरुज्ञशुक्रास्स्युरयुग्मभांशगाः ।

तदा महादोषगणाः प्रयान्ति ते

नाशं यथा ब्रह्मविदर्थसङ्गमे¹ ॥

अशुभकृदपि खेचरो विलग्नान्

अहितभगोऽपि निजाष्टवर्गकर्क्षे ।

बहुतरगणनायुतेऽत्र दक्षे

सकलगुणार्द्धिकरोऽत्र दोष ह च ॥

लग्नेशस्याष्टवर्गे वा बलवद्गृहचोदिते

ग्रहयुक्ताष्टवर्गे तु बद्धक्षेऽनिष्टकं न तत् ।

उदयपञ्चमधर्मगतशुभः
 शुभदृष्टकवर्गमहाक्षकः ।
 शशिनि सौम्यनवांशकगे सदा
 सकलदोषहरश्शुभवर्धनः ॥
 उदयकण्टकगद्गुभवर्गगो
 यदि निजाष्टकवर्गमहाक्षकः ।
 शुभरतोऽपि शुभेक्षणसंयुतः
 सकलदोषाहरश्शुभवर्धनः ॥
 अनिष्टस्थानगा ये स्युः ग्रहास्ते लग्नतो यदि ।
 भवराश्यंशगास्तत्र दोषाश्शोभनतां ययुः ॥
 शशाङ्कजीवौ यदि शोभनांशे
 नवांशचक्रे तु परस्परं स्थितौ ।
 यदा तदा दोषगणाः शमं ययु-
 र्यथा व्यळीकैरिह कीर्तिरन्यथा ॥
 देवेभ्योयुक्तांशकभाद्विलग्नं
 यावद्भवेत्तावति राशिगेऽर्के ।
 दोषास्तदा स्युर्विलयं सभायां
 र्यथाऽनधीतः पुरुषस्तथैव ॥
 लग्नलग्नांशनाथौ द्वौ परस्परमुदीक्षितौ ।
 मित्रे वाऽपि तदाऽन्योन्यं दोषत्रिपुरशङ्करौ ॥
 लग्नेशेन्द्रू यदाऽन्योन्यमधिमित्रे तदा गुरुः ।
 पश्येत्तौ दोषनाशाय भवनत्या यथा ह्यघम् ॥
 उदयति सुरपूज्ये स्वांशगे शतिरश्मा-
 वुपचयगृह्यते शोभने कर्मणीज्ये ।

अतिबलवति शुक्रे दोषनाशस्य कालः
 समभवदुदितेऽर्के शर्वरीवाशुभानाम् ॥
 स्वगृहविधुरसाध्यः सौम्यभागस्थितश्चेत्
 गुरुरपचयातः स्वांशके वा बलाढ्यः ।
 यदि गुरुतरदोषा यान्ति नाशं तथैव
 श्रुतिरपि समधीता पापनाशाय दृष्टा ॥
 लग्नाधिपो यदा केन्द्रे लग्नादुपचयेऽपि वा
 शुभो वाऽथाशुभो वाऽपि तदा दोषाः शमं ययुः ॥
 चन्द्रोषितांशनाथो वा चन्द्रादुपचयेऽपि वा ।
 केन्द्रं गतो यदा दोषा तदा नाशे ययुस्स्वयम् ॥
 स्वजन्मर्क्षालग्नादुपचयगता यद्यशुभदाः
 तदा पापैरुक्तं निखिलमशुभं नैव समयात् ॥
 अनिष्टस्थानस्थैर्दिवसपतिना सद्गिरय वा
 विनश्यन्त्यत्रोक्ता विषतुलितदोषाः शुभवलाः ।
 शुभकर्मसु तत्कर्मकृत् चन्द्रः सर्वदोषहृत्
 यथा देवप्रतिष्ठायां तदा देवार्चनादिकृत् ॥

उक्तं च—

देवार्चास्थापने चन्द्रो यदि शम्भुमथार्चयेत् ।
 मृत्युर्न्यदि तदा दोषाः सर्वे शममवाप्नुयुः ॥

इति ॥ एतदुपलक्षणम्—

शुभनवांशकसंयुतशीतगुः
 विषघटीरहितः शुभनेत्रगः ।
 शुभकदंशकराशितुष्टये
 सकलदोषहरः शुभवर्धनः ॥

¹ वृत्त्यगीतैस्तदा.

ये वारदोषा यदि वाऽस्तदोषा
 ये ऋक्षदोषा यदि योगदोषाः ।
 ये लग्नदोषास्त्वथ सर्वदोषान्
 निहन्ति तांस्तानपि चायगोऽर्कः ॥
 पापग्रहेभ्यो बलिनश्शुभग्रहाः
 यदा तदा शीतकरस्तदंशगः ।
 शुभश्च दोषौघमभावतां ब्रजे-
 दधर्मतो दृष्टधनो यथा स्वयम् ॥

इति । अपवादानुपसंहरति—

प्राधान्येन व्याहृताः केचिदेते
 योगास्सर्वे ग्रन्थि दोषानशेषान् ।
 अत्रानुक्ताः सन्ति चान्ये सहस्रं
 नैवोक्तास्ते ग्रन्थबाहुल्यभीत्या ॥

पूर्वाचार्योक्तापवादयोगसहस्रेषु प्रधानयोगान् संगृह्याभिहिता
 एते योगाः सामान्येन सर्वदोषान् नाशयन्ति । अत्र अपवादाध्या-
 येऽनुक्ता अन्ये सहस्रसङ्ख्याः अपवादयोगास्सन्ति । तेऽपि सर्वदो-
 षान् नाशयन्ति । तथाऽपि इह ग्रन्थविस्तरभयात् नोक्ताः । सारसं-
 ग्रहे विस्तरोऽनुचित इति । एवमुक्तापवादे सत्यपि-दोषाणां देशा-
 चारादेव दौर्बल्यप्राबल्ये स्त इत्याह—

अत्रोक्ता ये वीर्यवन्तोऽपि दोषा
 देशाचारादुर्बलास्ते भवन्ति ।

¹ दधर्मतो दुष्टधनं.

येऽन्ये देशाचारसिद्धाश्च दोषाः

तेषां देशे तत्र नैवापवादः ॥

अत्र दोषाध्याये प्रोक्ताः प्रबला दोषा अपि स्वापवादमन्तरेण देशाचारादेव क्वचित् सन्ति । तथा अल्पदोषा अपि देशाचारात्प्राबल्यप्रसिद्धिमन्तस्सन्तः स्वशास्त्रोक्तैरपवादैरपि न बाध्यन्ते यस्माद्देशाचार एव दौर्बल्यप्राबल्यहेतुः यदुक्तं—

देशाचारस्तावदादौ विचिन्त्यो

देशे देशे या स्थितिः सैव कार्या ।

लोकद्विष्टं पण्डिता वर्जयन्ते

दैवज्ञोऽतो लोकमार्गेण यायात् ॥

इति । यथा—एकार्गळः कर्णाटकेषु, दग्धलग्नं मध्यदेशे । देशाचारश्च लोकप्रसिद्ध्याऽवगन्तव्यः ।

दोषापवादानां विषयमाह —

अनापद्युत्तमः कालो मध्यमापदि मध्यमः ।

सत्यामत्यापदि ग्राह्यो दुष्टोऽपि स्वापवादतः ॥

देशकालादिसंपत्तौ सत्यां निर्दोषः कालो ग्राह्यः । देशकालादीनां एकतमसंपत्त्यभावे दुर्बलाल्पदोषः कालः । देशकालादिसंपत्त्यभावे सदोषोऽपि स्वोक्तदोषापवाददर्शनात् ग्राह्यः स्यात् । वर्षमासाद्यनियमे सप्ताङ्गसंपन्नः कालः, तन्नियमे षडङ्गसंपन्नः । मासार्धनियमे पञ्चाङ्गशुद्धियुक्तोऽपि ग्राह्यः । अर्थादेव दिनादनियमे पञ्चाङ्गसंपद्धीनोऽपि तदपवाददर्शनादुपादेयः । अथ वा अनात्ययिके कर्मणि बहुगुणः । आत्ययिकेऽल्पगुणः । अत्यात्ययिके निर्गुणोऽप्य-

पवादगुणैर्ग्राह्यः । निरपवादस्तु न कदाचनेति सिद्धम् । अथ वा मुख्ये
कर्मण्युत्तमः कालः । मध्यमे मध्यमः । क्षुद्रकर्मणि कनीयान्,
अत्र गुरुः—

सर्वकार्येषु सौम्येषु यथोक्ततिथिवारयोः ।

नक्षत्रांशकयोगेषु करणोदयराशिषु॥

संयुतेषु समर्थेषु सर्वदोषविनाशनः ।

अत्यात्ययिककार्येषु कालदोषविमिश्रिते ॥

दोषापवादवाक्यानामवकाशश्श्रुतीरितः ॥

इति । परस्तादेतत्प्रपञ्चः । अध्यायमुपसंहरति—

इत्थं श्लोकैरेकपञ्चाशताऽस्मिन्

हृद्यो विद्यामाधवेन प्रणीतः ।

अध्यायोऽयं सर्वदोषापवादः

पूर्णो विद्यामाधवीये तृतीयः ॥

इति विद्यामाधवीये अपवादाध्यायस्तृतीयः

अत्र मुहूर्तदर्शने सर्वदोषापवादाभिधायी तृतीयोऽयमध्याय
इत्येकपञ्चाशता पद्यैराचार्येण प्रपञ्चितः—

इत्थं विद्यामाधवीये मुहूर्ता-

दर्शो विद्यामाधवस्यात्मजेन ।

व्याख्यातोऽभूत्सर्वदोषापवादा-

ध्यायस्तोऽयं विष्णुनाम्ना तृतीयः ॥

इति मुहूर्तदीपिकायां विद्यामाधवीयव्याख्यायां

अपवादाध्यायस्तृतीयः

अथ गुणाध्यायस्तुरीयः

तत्र तावत् कालस्य गुणदोषसंसृष्टत्वात् अशेषदोषाभावो भूय-
साऽनेहसाऽपि दुरवाप इति सतामपि तेषां दौर्बल्याल्पत्वे गुणानां
प्राबल्यबाहुल्ये (वाऽ) चालेच्य 'कृतकार्याणि कार्याणि' इत्यागमात्
दोषान् तदपवादांश्चाभिधाय गुणान् वक्ष्य इति प्रतिजानीते—

निःशेषदोषविरहस्य सुदुर्लभत्वात्
काले गुणौघबहुले विबलाल्पदोषे ।
कर्मारभेत शुभमित्यृषिभिर्यदुक्तं
तत्कांश्चिदत्र समुहूर्तगुणान् प्रवक्ष्ये ॥

मुहूर्तेषु चिरेणाप्यशेषदोषाभावस्य दुर्लभत्वात् शुभाक्रियाणां
काले काले अवश्यकार्यत्वात् (?) बहुगुणप्रचुरे, यद्वा गुणौघबहुल
इति पाठः, गुणौघाः—प्रधानगुणाः । बलवद्गुणौघप्रचुरे काले दो-
षेषु दुर्बलेष्वल्पेषु च सत्सु शुभकर्मारभेतेति पूर्वाचार्यैरुक्तम् ।
तथा च भरद्वाजः—

दोषान् सर्वान् परित्यज्य न शक्यं बहुवत्सरैः ।
तस्मात् परीक्ष्य कर्तव्यमल्पदोषं गुणाधिकम् ॥

आत्रिः—

विष्णोः कालशरीरेऽस्मिन् निर्दोषो दुर्लभो नृणाम् ।
कालेऽल्पदोषे कार्यं स्यात् त्याज्यं दोषाधिके शुभम् ॥

नारदः—

शेषदुष्टः सदा कालः तन्निमार्ष्टुं न शक्यते ।
अपि धातुरतो यायादोषाल्पत्वं गुणोत्कटम् ॥
महादोषान् परित्यज्य शेषयोर्गुणदोषयोः ।
गुणाधिकस्त्वल्पदोषः स कालो मङ्गलप्रदः ॥
लग्नं सर्वगुणोपेतं लभ्यतेऽल्पैर्दिनैर्न तत् ।
दोषाल्पत्वं गुणाधिक्यं बहुसंमतमिष्यते ॥

गुरुः—

गुणो वा यदि वा दोषो दुर्बलो नाशतां व्रजेत् ।
बलिनैकत्र संयोगे खद्योतो वाऽर्कसन्निधौ ॥
एवं बलाबले मत्वा गुणदोषसमुद्भवे ।
गुणेऽतिबलसंयुक्ते दोषे च बलवर्जिते ॥
सदोषेऽपि च कालेऽस्मिन् शुभानां समयः शुभः ॥

इति। अथ चेन्निर्दोषमेवेष्टं, न मुहूर्तं लभ्यते, तदलाभे क्रियाश्चो-
त्सन्नाः स्युः, क्रियोत्सादे पुमर्थो दुरापः । किं च देवताः प्रजा-
मीतीः प्रवर्तयेरन्, तत्प्रवृत्तावोषधयो न संपत्स्यन्ते, ततश्च क्षुधा
धिष्यते, लोकानामकाण्ड एव प्रचण्ड उपप्लवः संस्थात् इति
हृदनिष्ठमापद्येत । तन्निवृत्तचर्यं पुमर्थाप्तचर्यं च क्रियाः कार्या
व । तत्करणं गुणदोषाणामविरोधेन स्यादिति R

था च गुरुः—

अनादिनिधनस्सर्वो न निर्दोषो न निगुणः ।
तस्मिन् निर्दोषकालार्थी मुहूर्तं नाधिगच्छति ॥
मुहूर्तभावतो देवीः क्रियाः षोडशिकादिकाः ।

नोपलभ्याः शुभास्सर्वास्त्रिष्वथैकोऽपि वा परैः ॥
यस्मात् काले शुभे कृत्याः कर्तव्याः देवमानुषैः ।
तदुपायोऽविरोधेन सत्सु दोषेष्वपीष्यते ॥
कालश्शुभगुणैर्युक्तो बलवद्भिश्शुभप्रदः ।
दोषैर्युतोऽपि विप्राणैरन्यथा व्यत्ययं द्वयोः ॥

इति । एवमादि प्राचीनाचार्यैरुक्तत्वात्, शुभकर्मारम्भप्रसिद्धचर्यम-
त्राध्याये कांश्चित् प्रसिद्धान् मुहूर्तगुणान् वक्तुमारभे । गुणानामानन्त्यात्
कात्स्न्येन तत्कथनं दुष्करमिति प्रसिद्धगुणानेव वक्ष्येऽहमिति शेषः ॥

कनिष्ठमध्यममुख्यगुणानाह—

अल्पदुर्बलदोषत्वं कालस्य प्रथमो गुणः ।
अभावः सर्वदोषाणां द्वितीयः सुमहान् गुणः ॥२॥

तारादीनां तावदानुगुण्येन शुभप्रदत्वं गुणः । स च त्रिविधः ।
कनिष्ठो मध्यमो मुख्यश्चेति । तेष्वद्योर्लक्षणं —अल्पाः कतिपये
क्षुद्रा वा दुर्बलाः—स्वापवादप्रध्वस्तवीर्याः दोषा यत्र स तथा तस्य
भावः अल्पदुर्बलदोषत्वं आद्यः कनिष्ठो गुणः । सर्वेषां क्षुद्राणां
गुरूणां च दोषाणामभावः सुमहान् मुख्यतमो गुणः स द्वितीयः ।
अर्थदेवापवादप्रध्वस्ताखिलदोषत्वं मध्य इति सिद्धम् । अथ वा,
अल्पदुर्बलदोषत्वमेवान्यो मुख्यो गुणः, यतस्तदन्यः सर्वदोषाभावः
सुमहान्—दुर्लभ इति यावत् । यद्वा अल्पे कतिपये दुर्बलाः क्षुद्रा
अल्पे च दुर्बलाश्च दोषाः अल्पदुर्बलदोषा इति द्वन्द्वः । अल्प-
दोषत्वं दुर्बलदोषत्वं च कालस्य मुख्यो गुणः । तदन्यः सर्वदो-
षाणामभावः—स्वापवादैः प्रध्वंसः सुमहान् गुणः । एतदुक्तं भवति—

कतिपयक्षुद्रदोषत्वं अपवादप्रध्वस्तकतिपयमहादोषत्वं सर्वदोषाभावो वा मुख्यो गुणः, अपवादभग्नसर्वदोषत्वं मध्य इति ॥

नन्वल्पदुर्बलदोषत्वं गुण इति कथं—

दोषचिह्नं न यत्रास्ति तदाऽपि गुणलक्षणम् ॥

इति गुरुवचनात् दोषाभाव एव गुणः, नन्वल्पदुर्बलदोषत्वम् । यतः क्षुद्रा दुर्बला वाऽपि ते दोषा एव । यद्येवं गुणस्तन्निर्वकाशः निर्दोषस्य दुरधिगमत्वात्, अपि च (तु) कर्मदूषणतया अनिष्टकृत्त्वं दोषचिह्नम् । तच्च क्षुद्राणां दुर्बलानां च तेषां न संभवतीति न दोषः । नैतदुपपन्नम् । सत्सु दोषेष्वनिष्टं न स्यादिति, दोषास्तु सन्तः क्षोदिष्टाः दुर्बला अपि यथास्वमनिष्टकृत एव, यथा बिन्दुमात्री शुष्का वा सुरा पात्रदूषणायालं । यथा च सूक्ष्मः शीर्णो वा कण्टकाङ्कुरः चरणस्थो रुजं करोतीति । नैतत्, क्षोदीयसां विरोधिगुणहतवीर्याणां च तेषां स्वदोषोत्पादने न सामर्थ्यमस्ति, यथा महानले विकीर्यमाणानां तोयबिन्दूनां, यथा च दहनदग्धानां महाकण्टकानामिति युक्तमेवोक्तं । बहुगुणानधिगमेऽपि कर्मणां प्रवृत्त्यर्थं कांश्चिन्महागुणानाह—

विशिष्टविप्रभाषितं शुभग्रहस्य चोदयः ।

तनोश्च सौम्यवर्गता त्रयो महागुणाः स्मृताः ॥

विशिष्टानां—वेदाध्ययनादिगुणयुक्तानां ज्योतिर्विदां विप्राणां वाक्यं “अस्मिन् कर्मणि इदं मुहूर्तं गृह्यताम्” इत्यादि, तथा शुभग्रहस्य कस्यचिदुदयः—उद्गमराशिः तत्काललग्नादेः शुभवर्गत्वं च त्रय एते महागुणा इति मुनिभिरुक्ताः, तथा च गुरुः—

शुभग्रहोदयर्क्षं वा शुभषड्वर्ग एव वा ।

वेदविज्ञानिवाक्यं च महान्तः शुभदा गुणाः ॥

‘विशिष्टविप्रवाक्यं महागुण’ इति स्मरणात् तदप्रत्ययेनान्यं प्रत्य-
नयोगो निषिद्धः । तथा च गुरुः—

दैवज्ञैर्वेदतत्त्वज्ञैर्मुहूर्तोऽन्विष्यते यदि ।
सुमुहूर्तस्समन्वेष्यो नान्यैर्नक्षत्रसूचकैः ॥

इति ।

न दैवज्ञा यतस्ते तैरशास्त्रज्ञैर्न लभ्यते ।

अथान्यस्ताद्विशिष्टो दैवज्ञः प्राप्तः तं प्रत्यनयोगोऽनुमत एव, तदर्थं
गुरुणा ‘नान्यैर्नक्षत्रसूचकैः’ इत्युक्त्वा अशास्त्रज्ञैर्न लभ्यत इति
तद्धेतुरुक्तः । तत्रातिक्रमदोषो नास्ति । यत् स्मृतेः—

ब्राह्मणातिक्रमो नास्ति मूर्खे मन्त्रविवर्जिते ।

इति । प्राक्तना अपि यथार्हं पूज्याः, विशिष्टे तु विशिष्टपूजा कार्या ।
लग्ने सौम्यवर्गत्वमभिजिह्वग्रत्वमित्यन्ये । तथा च नारदः—

षड्वर्गः पञ्चवर्गो वा शुभानां यत्र संभवेत् ।
लग्ने स एव कालस्स्यात् शुभदृष्ट्याभिजित्त्वयम् ॥
लग्नराशौ शुभः ख्येन ग्रहेण रहिते तदा ।
लग्नभागेऽभिजित्संज्ञे दोषाः सर्वे शमं ययुः ॥

अभिजिह्वग्रभागश्च रत्नेनोक्तः—

लग्ने चतुर्दशे भागे वृषस्य मकरस्य च
कन्याकर्कटमीनानामष्टमे द्वादशेऽस्तिनः ।
कुम्भस्यांशे तु षड्विंशे चतुर्विंशे तु तैलिनः
नृयुक्कर्मकयोः कार्यसिद्धिः सप्तदशांशके ॥

स्यात्पञ्चपूर्णाद्विय एष योगो गुणाधिराजशुभकर्मणीष्टः ॥

शशाङ्कवृद्धिः—शुक्लपक्ष इति यावत्, नक्षत्रवृद्धिः—स्वेच्छसं-
योगस्थानात् प्राक् परं च त्रित्रिराशिस्थे चन्द्रे नक्षत्रं वर्धते ।
जलवृद्धिः—चन्द्रोदयास्तमयाम्यामारम्य राशित्रयं जलं वर्धते ।
तथा अरिक्तः—पूर्णस्ताराकलशः तं च वक्ष्यति । पूर्णाः—तद्दि-
नव्यापिन्यः पञ्चम्याद्या वा तिथयः एतत्पञ्चकं यदि सङ्गतं अयं
पञ्चपूर्णाख्यो योगो गुणश्रेष्ठः । अयं सर्वशुभकर्मणि हितः । व्यस्ता
अप्येते गुणाः । तथा च भरद्वाजः—

यथा चन्द्रमसो वृद्धिः शुक्लपक्षे कृतं तथा ।

कृष्णपक्षे कृतं तद्वत् क्षीयते न च वर्धते ॥

अत्रिः—

नक्षत्रवृद्धिं प्रवदन्ति पूर्वं

पक्षं परं चन्द्रमसोऽभिवृद्धिम् ।

दैवर्क्षमन्ये शुभकर्मकृत्ये

वारर्क्षलघ्रेषु शुभं विदध्यात् ॥

इत्यादि द्रष्टव्यम् ॥ ताराकलशमाह—

दिक्काराणां मध्यमाः स्तम्भसंज्ञाः

त्रिस्रस्तिस्रः पार्श्वसंस्था घटाख्याः ।

तिष्ठत्यर्को यत्र रिक्तस्स कुम्भः

सं पूर्णोऽन्यः स्तम्भसंज्ञोऽपि तद्वत् ॥

सप्तेरेखाचक्रं लिखित्वा दिङ्माध्यरेखा विहाय तद्विपार्श्वगता-
स्तिस्त्रस्तिस्त्रो रेखाः कुर्यात् । तेषु कृत्तिकादिभानि त्रीणित्रीणि
स्तम्भेष्वेकैकं न्यसेत्, तेषु यत्र कुम्भे सूर्यचारर्क्षं भवति स रिक्तः ।
तदग्रस्थोऽन्यः सः पूर्णः । एवमन्येऽपि रिक्ताः पूर्णाश्च स्युः,
स्तम्भोऽपि तद्वत्—कुम्भवत्, सूर्ययुक्तो रिक्तः तत्पुरस्थः पूर्णः,
अन्यौ च तथा स्यातां । तथाचोक्तम्—

दिग्मेषु मध्यमाः स्तम्भाः तदूर्ध्वाधस्त्रिकौ घटौ ।

यत्रार्कः स घटो रिक्तः पूर्णोऽन्यस्तम्भ एव च ॥

इति । अन्ये राशिवशादाहुः यथा—सूर्योक्रान्तो रिक्तः तदग्रस्थः
पूर्णः इत्यादि । तथा च पद्धतौ—

ऋक्षे यस्मिन् रविस्तस्मात् रिक्तः पूर्ण इति क्रमात् ।

कुम्भद्वित्रयचक्रं तत् सर्वा रेखा विमाजयेत् ॥

राशौ वाऽपि क्रमो ह्येष भवेच्चक्रं द्वितीयकम् ।

रिक्तोदये (?) जयी स्थायी पूर्णो यायी जयी भवेत् ॥

केचिदन्यथाऽऽहुः—तथा च संग्रामविजये—

रेखाद्वयमालिख्य द्वाभ्यां तं वेधयेत् पुनश्चापि ।

रेखाचतुष्कमासां कोणेषु च दापयेच्चापि ॥

अंशस्थाने मेषः सिंहः प्राच्यां धनुः शिखिस्थाने ।

तत्पार्श्वगतो वृषभो याम्येऽन्त्यो वाऽपि मृगकन्ये ॥

तस्य समीपे मिथुनं तुला च वरुणे घटश्च वायव्ये ।

कर्की तस्य समीपे सौम्ये कीटो घटश्चान्त्ये ॥

द्वादशराशिसमेतं चक्रं संलक्षयेत् चतुष्काङ्गम् ।

राशित्रितयं मुक्तं रिक्तं पूर्णं रवेश्च वशात् ॥

यास्मिन् कुम्भे सूर्यः स्थितस्स रिक्तो भवेत्तदंशुभकरम् ।
 पूर्णं तदग्रकुम्भं जयप्रदं सर्वसिद्धिकरम् ॥
 यन्मासे यत्र रविः दिग्भाशौ तिष्ठति त्रिशूलाख्ये ।
 सा दिग्भिवर्जनीया शुभेषु रविसंमुखी नित्यम् ॥
 न कृषिं न च वाणिज्यं न स्थानं नाहवं न मङ्गल्यम् ।
 न विवाहं न च यात्रां गृहप्रवेशं च कारयेत् धीमान् ॥

इति । मुहूर्तानाह—

अह्नः पञ्चदशो भागो मुहूर्तस्तारकामयः ।
 दिवा पञ्चदशोक्तास्ते रात्रौ चापि तथा स्मृताः ॥

दिनमानस्य पञ्चदशो भागः किञ्चिदूनाधिकघटीद्वयात्मको
 मुहूर्त इत्युच्यते । स च नक्षत्रमयः । ते मुहूर्ता दिवा पञ्चदश, रात्रौ
 च तथा । रात्रिपञ्चदशांशात्मकाः पञ्चदश स्युः । तथा च नारदः—

अह्नः पञ्चदशो भागः तथा रात्रिप्रमाणतः ।

¹मुहूर्तमानं ते एव क्षणर्षाणि समे स्वरे ॥

इति । मुहूर्तस्य द्विघटिकात्मकत्वं सामान्यं अयं विशेषः, यथा
 दिनरात्र्योः प्रागुक्तः कालमात्राभिधायी । अयं तु दिनरात्रिपञ्चद-
 शांशपरिच्छिन्नकालाभिधायीति विशेषः ॥

मुहूर्तानां तारकामयत्वं प्रपञ्चयति द्वाभ्याम्—

आर्द्रोर्गमित्रमघावसुजलविश्वाभिजिद्विरिञ्चेन्द्राः ।
 ऐन्द्राग्रमूलवरुणार्थमभगतारा दिवामुहूर्ताः स्युः ॥

¹ नारदीयसंहितापुस्तकेतु—मुहूर्तमानं द्वे एव क्षणार्थे च समे वरे इति दृश्यते.

क्रमशो निशामुहूर्ता रुद्रो भाद्रादयोऽष्ट तारा-
श्च । अदितिगुरुविष्णुहस्तत्वाष्टसमीराश्च कीर्तिता
मुनिभिः ॥

सूर्यस्योदयात्परमस्तमयादर्वाक् ये पञ्चदश मुहूर्तास्सन्ति ते
क्रमेण आर्द्रादिपञ्चदशतारात्मकाः स्युः । तथा रात्रावस्तमयात् परं
उदयादर्वाक् ये सन्ति ते क्रमात् अर्द्राभाद्रादिपञ्चदशतारात्मका-
स्स्युः । भाद्रादयो मृगशिरावसाना अष्टौ तारा इत्यर्थः, अत्र नारदः—

दिवा मुहूर्ता रुद्राहिमित्राः पितृवमूदकम् ।

विश्वे विधातृब्रह्मेन्द्रा इन्द्राग्रचसुरतोयपाः ॥

अर्यमा भगसंज्ञश्च विज्ञेया दश पञ्च च ।

ईशाजपादहिर्विधचपूषाश्वियमवह्नयः ॥

¹ धातृचन्द्रादितीन्द्रार्च्यविष्णुर्कत्वाष्टवायवः ॥

इतिअत्र केचिदैन्द्रैन्द्राग्रयोः क्रमव्यत्ययमिच्छन्ति । तथा च भरद्वाजः—

रौद्रस्सार्पस्तथा मैत्रः पैत्रो वासव एव च ।

आप्यो वैश्वस्तथा ब्राह्मप्राजेशैन्द्राग्रमुच्यते ॥

ऐन्द्रोऽथ नैऋतश्चैव वारुणार्थमणौ तथा ।

भाग्यश्चैव दिवा ज्ञेया मुहूर्ता दश पञ्च च ॥

मुहूर्तानां गुणदोषदैवतान्याह—

सर्वे स्मृता मुहूर्ताः शुभकर्मसु तत्तद्वक्षसदृश-
गुणाः । तत्सदृशदैवताश्च ब्रह्माभिजितः स्मृतं
दैवम् ॥

¹ धातृचन्द्रादितीन्द्रार्च्यविष्णुर्कत्वाष्टवायवः इति नारदसं, पा.

एते सर्वे दिनरात्रिभवा मुहूर्ताः शुभकर्मसु कार्येषु प्रातिस्विक-
नक्षत्रसमगुणाः तत्समानदेवताः स्युः । यो मुहूर्तो यन्नक्षत्रात्मकः
तस्य तन्नक्षत्रवत् गुणाः देवता चेत्यर्थः । नक्षत्रगुणास्तावत् क्रिया-
योग्यत्वं क्रियानिषिद्धत्वं स्थैर्यादिभेदा ^१अन्तरङ्गादिवारादियोगाद्दुष्ट-
त्वमिष्टत्वं चेत्यादयः । भरद्वाजः—

नक्षत्रसदृशास्सर्वे मुहूर्ताः स्युः सदैवताः ।

तेषां कालगुणं सर्वं नक्षत्रेष्विव विद्यते ॥

नारदः—

यस्मिन् ऋक्षे च यत्कर्म कथितं निखिलं हि तत् ।

तद्देवत्ये तन्मुहूर्ते कार्यं यात्रादिकं सदा ॥

श्रीपतिः—

दिक्छूलाद्यं चिन्तनीयं समस्तं

तद्वद्गण्डः पारिघश्च क्षणेषु ॥

इति । यदा त्वात्ययिके कर्मणि स्वोक्तनक्षत्र गुणहीनं सदोषं वा
स्यात् तदा नक्षत्रसंबन्धिनि मुहूर्ते कार्यं स्यात्, यथाऽऽह गुरुः—

यस्मिन् यस्मिस्तु नक्षत्रे कर्म यद्यदुदाहृतम् ।

तस्य तस्य गुणैर्हीने नक्षत्रे कर्मणो यदि ॥

सदोषे वाऽपि कर्तव्यं क्षणे नक्षत्रनामानि ।

निर्दोषकाले यत्कर्म कृतं तेन समं शुभम् ॥

इति । यदा पुनरात्ययिकं कर्म निषिद्धायनर्तुमासदिनादावेव कार्य-
मापतेत् तदा तदहोरात्रं वर्षं कल्पायित्वा तद्वर्षं दिनमुत्तरायणं रात्रि

^१ अन्तरङ्गभेदा दुष्टत्वमिष्टत्वं चेत्यादयः, पा.

दक्षिणायनं तत्रचंशानृतून् ऋत्वर्धं मासं तद्वर्धं सार्धद्विवटिका-
मितकालं होरात्मकं पक्षं कृत्वा स्वोक्तायनादौ सन्नक्षत्राख्यमुहूर्ते तत्
कार्यम् ॥ तथा च गुरुः—

सद्यस्कालीनकार्येषु तदहोरात्रवत्सरे ।

ऋतुमासादिकं कृत्वा क्षणैर्नक्षत्रनामाभिः ॥

यात्राविवाहकार्याणि सर्वाण्यत्र प्रयोजयेत् ॥

इति । केचित् चन्द्रप्राग्ग्लेषेषु मुहूर्तेषु त्रिष्वपि नक्षत्रगुणानिच्छन्ति ।

तथा च भरद्वाजः—

पूर्वलग्ने मुहूर्ते च चन्द्रे चैवेत्युद्धृत्यम् ।

ज्ञातव्यं सततं तैस्तु युगपद्विद्यते फलम् ॥

इति । अन्ये द्विधा लग्नानयनमाहुः । तथा च—

स्थूलराशिश्च सूक्ष्मश्च द्विविधं लग्नमिष्यते ।

तयोस्तु युगपद्विद्यात् फलमेकेन नेष्यते ॥

स्थूलराशिः प्रसिद्धः । सूक्ष्मस्तावदुक्तस्तैनैव—

ग्रहं च नक्षत्रमथोदयं च

तत्कालशुद्धिं तिथिमानयित्वा ।

तद्वादशगनेऽथ हते तु राशिः

संयोजितः सूक्ष्ममथ स्थिरं स्यात् ॥

एकैकस्मिन् ऋक्षे पञ्च च नाडीर्निशाकरस्तिष्ठेत् ।

इति वदति शास्त्रमेतत् तत्तद्वाश्यादिमारभ्य ॥

अंशकाः शतमष्टौ च एकैकांशविभागतः ।

विज्ञेया लग्नशुद्ध्यर्थमन्यथाऽन्यैरुदाहृतम् ॥

इति । एतदुक्तं भवति—उदयादारभ्य गतघटीपिण्डं पञ्चभिर्वि-
भज्य लब्धराशीन् स्वेष्टकालिके संयोज्य द्वात्रिंशत् षड्गुणित-
मंशादि च तस्मिन् योजयेत्, स तात्कालिकः सूक्ष्मः स्यात् ।
यद्वा—गतघटीपिण्डमष्टोत्तरशतेन हत्वा चतुर्भिरासघटीपिण्डे तत्काल-
गतादिनक्षत्रघटीः संयोज्य षष्ट्याप्तानि दिननक्षत्रादीनि सूक्ष्म-
राशिमानि स्युः । केचिदन्यथा आहुः । तथा च नरपतिः—

इष्टनाज्यो हता धिष्ण्यैः षष्टिभक्तासशेषिते ।

अश्विन्यादीन्दुभुक्तेन युते तत्कालचन्द्रमाः ॥

इति । केचिदेवमाहुः—

इष्टनाडीरर्धीकृत्य चतुर्धा निधाय ताम् गततिथ्यादीनां
सङ्ख्यां संयोज्य त्रिंशदादिना प्रमाणराशिनाऽऽप्ताः तिथिवारता-
रायोगाः स्युः इति । उक्तं च—

अर्धीकृत्येष्टघटिकाः तिथ्यादींस्तत्र योजयेत् ।

तत्तत्सङ्ख्याविभक्तं तत् पञ्चाङ्गं क्षणिकं स्मृतम् ॥

इति । अभिजिन्नक्षत्रस्य देवतानभिधानात्तामाह—ब्रह्माभिजितः स्मृ-
तं दैवम्—

इति । अभिजिन्मुहूर्तस्यापि ब्रह्मा देवता । शुभाशुभमुहूर्तपरिगण-
नामाह—

दिनरात्रिजा मुहूर्ता ये कथितास्त्याज्यतारका-
रूपाः । एकादशाशुभास्ते शुभकर्मसु पूजिता-
श्चान्ये ॥

दिवा रात्र्योरे त्रिंशन्मुहूर्तास्तेषु ^१कृत्त्यादित्याज्यक्षात्मका एका-
दश सन्ति ते अशुभाः । अन्ये ग्राह्यतारारूपाः शस्ताः स्युः ।

ननु त्याज्यक्षात्मका द्वादश मुहूर्तास्सन्ति, तत्कथमेकादशे-
त्युक्तम्, सत्यं, ते द्वादशैव, अपि तु रुद्रतारारूपौ द्वौ स्तः ।
तथैरेकतारारूपत्वाद्वैक्यमेवेत्येकादशेत्युक्तमित्यदोषः । तथा रोहिणी-
रूपौ द्वौ, तयोरप्येक्यात् शुभा अपि षोडशैव मुहूर्ताः । एतदुक्तं
भवति—दिवा अष्टौ कष्टाः, रात्रौ चत्वार इति द्वादशाशुभाः ।
दिवा षट् रात्रवेकादशेति सप्तदश मुहूर्ताः शस्ताः ।

परिशिष्टस्य अभिजितो गुणमाह—

उत्पातविष्टिव्यतीपातपूर्वा-
न्निहन्ति दोषानभिजिन्मुहूर्तः ।
करोति याम्यामपाहाय काष्ठां
दिगन्तराणि व्रजतोऽर्थसिद्धिम् ॥

उत्पातादिमहादोषानप्यभिजिन्मुहूर्तो नाशयति किमुत क्षुद्रान् ।
तथा च गार्ग्यः—

विष्टिव्यतीपातकृतं च दोषं
सर्वग्रहोत्पातसमुत्थितं च ।
मध्यन्दिने दीप्तसहस्ररश्मौ
निहन्ति दोषानभिजित् प्रयुक्तः ॥

। पूर्वग्रहणात् सर्वान् दोषान् नाशयतीत्यर्थः । यन्मारदः—
मध्यन्दिनगते सूर्ये मुहूर्तोऽभिजिदाह्वयः ।
नाशयत्याखिलान् दोषान् पिनाकी त्रिपुरं यथा ॥

इति । तथा याम्यां दिशमपहाय अन्यदिशं व्रजतः पुरुषस्य ।
अभीष्टसिद्धिं कार्यसिद्धिं करोति ; यत्कार्यार्थी व्रजति तत्कार्यं सिध्य-
तीत्यर्थः ॥ तथा च श्रीपतिः—

अष्टमो ह्यभिजिदाह्वयः क्षणो
दाक्षिणाभिमुखयानमन्तरा ।
कीर्तितोऽण्डकुप्सु सूरिभिः
यायिनामभिमतार्थसिद्धये ॥

इति । वारेषु वर्ज्यमुहूर्तानाह—

भानोरर्यमदैवतो हिमरुचेः ब्राह्मस्तथा नैर्-
ऋतो भूपुत्रस्य च पित्रयवह्न्यधिपती चन्द्रात्मज-
स्याभिजित् । पित्रयब्राह्मसमाह्वयावुशनसो रक्षोऽ-
म्बुदेवौ गुरोः सार्पश्चाहि शनेरमी तु नियमात्त्या-
ज्या मुहूर्ता बुधैः ॥

सूर्यादिवारेष्वार्यमणाद्या एते मुहूर्ता नियमात् वर्ज्याः, सूर्यस्य
वारे अर्यमदैवतश्चतुर्दशः, चन्द्रस्य ब्राह्मनैर्ऋतौ—नवमद्वादशौ,
कुजस्य पित्रचाग्नेयौ—चतुर्थैकादशौ, बुधस्य अभिजिदष्टमः, शुक्रस्य
पित्रचब्राह्मौ—चतुर्थनवमौ, गुरोः रक्षोऽम्बुदेवौ—द्वादशषष्ठौ, शनेः
सार्पः—द्वितीयः । अत्र नारदः—

अर्यमा राक्षसब्राह्मौ पित्रचाग्नेयौ ततोऽभिजित् ॥
राक्षसाप्यौ ब्राह्मपित्रचौ भौजङ्गेशाविनादिषु ।
वारेषु वर्जनीयास्ते मुहूर्ताः शुभकर्मसु ॥

इति । बहुगुणयोगेऽपि तेषां त्याज्यत्वाभिधानार्थं नियमादित्युक्तम् ।
तथा च नारदः—

भास्करादिषु वारेषु ये मुहूर्तास्तु निन्दिताः ।

विवाहादिषु ते वर्ज्या अपि लक्षगुणैर्युताः ।

इति । अत्र ब्राह्ममुहूर्तस्य दिवैव वारयोगदोषः, न रात्रौ,
यतो न रात्रौ वारदोषोऽस्तीत्युक्तम् । तस्मादेवाग्रेय इति साहचर्या-
दैन्द्राग्रमुहूर्तो गृहीतः । अन्यथा रात्रौ वारदोषाभावात् तदभिधान-
स्य वैयर्थ्यं स्यात् । अथैषां पुराणप्रसिद्धाः संज्ञा आह—

संज्ञाः पुराणकथिता रौद्रः श्वेतस्तथा मैत्रः ।

आरभटस्सावित्रो वैराजश्चाथ गान्धर्वाः ।

अभिजिच्च रौहिणबलौ विजयाख्यौ नैऋत-
शशाक्रः ।

वारुणभगदैवत्याविति विज्ञेया दिवा मुहूर्तानाम्॥

दिवा मुहूर्तानां पञ्चदशानां रौद्राद्याः पञ्चदश सङ्ख्याः संज्ञाः
पुराणेषु प्रोक्ताः, पुराणैः प्रोक्ता वा एवमुक्तवद्विज्ञेया ।

तथा च नारदः—

पौराणिका रौद्रसितमैत्राश्चरभटः क्षणः ।

सावित्रश्चाथ वैराजो गान्धर्वश्चाष्टमोऽभिजित् ॥

रौहिणो बलसंज्ञश्च विज्ञेयो नैऋतस्ततः ।

ऐन्द्रश्च वारुणः पञ्चदशश्च भगसंज्ञकः ॥

इति । अत्रेति प्रकारवचनो वा । तेनैतत् सिध्यति । एवं रात्रि-
मुहूर्तानामपि पौराणिकी संज्ञा द्रष्टव्येति । तथा च नारदः—

रौद्रगान्धर्व¹यक्षेशः सारणो मारुतानलौ ।
 रक्षो धाता तथा सौम्यः पद्मजो वाक्पतिस्ततः ।
 पूषा हरिर्वायुनिर्ऋतिर्मुहूर्ता रात्रिसंभवाः ॥

गणानां कान् शुभमुहूर्तानाह—

अभिजिद्वैराजश्च श्वेतः सावित्रमैत्रबलविजयाः॥
 शुभकार्यसिद्धिजनकाः सप्त प्रोक्ताः पुराणज्ञैः ॥

एते अभिजिदादयः सप्तैव मुहूर्ताः सर्वकार्येषु सिद्ध्युत्पादका
 इति पौराणिकैः प्रोक्ताः । तथा च नारदः—

सितवैराजविजयाः मैत्रसावित्रसंज्ञकाः ।
 अभिजिद्वल्युक्तास्ते सर्वकार्येषु सिद्धिदाः ॥

इति । अन्येऽष्टौ न शुभा इति सिद्धम् ।

ननु कथं द्वितीयषष्ठदशमैकादशमुहूर्तस्त्याज्यशक्तिमत्त्वेनाशुभा
 उच्यन्ते? नैष दोषः, प्राक् ज्योतिश्शास्त्रमतेन अशुभा उक्ताः,
 अधुना पौराणिकमतेन शुभा उक्ता इति । उक्तं च—‘प्रोक्ताः
 पुराणज्ञैः’ इति । सन्मुहूर्ताः प्रत्यहं लभ्येरन्, तत्र तारादीनामप्या-
 नुकूल्यं यदि स्यात् स गुण इत्याह ॥

श्रेष्ठा तारा सत्तिथिस्सन्मुहूर्तः
 सत्तिथ्यर्थं सन्निमित्तं च जातम् ।
 योगेन्द्रोऽयं पञ्चकल्याणनामा
 गार्ग्येणोक्तः सर्वकार्यार्थदायी ॥

¹ यक्षेशश्चारुणो मारुतोऽनलः इति ना सं पा,

तत्कमावेहिता तारा तिथिश्च सन्मुहूर्तं विष्टिस्थिरेभ्योऽन्य-
त्करणं, तत्काले जातं निमित्तं—अज्ञाततद्व्यापारैर्जनैरुदीर्यमाणं
ईरितं वाक्यं शुभोदकहेतुभूतं उपाहनं फलपुष्पादिकं वा कृता
मङ्गल्यचेष्टा वा स्यात् एषां तारादीनां पञ्चानां योगो यदि स्यात्
सं पञ्चकल्याणारूपो योगः श्रेष्ठः सर्वकार्यफलप्रद इति गार्ग्य-
णोक्तम् ॥ तथा च गार्ग्यः—

तिथिं मुहूर्तं नक्षत्रं करणं शकृन् च सत् ।

पञ्चकल्याणयोगोऽयं सर्वकर्मसु पूजितः ॥

इति । पञ्चकल्याणयोग एव वारसादिशुभयोगवशादतिशुभः स्यादिति ॥

शुभवारक्षयोगानाह—

उत्तरासलिलपौष्णविष्णवो

मातृमारुतवसुप्रचेतसः ।

मित्रदण्डधरपौष्णतारकाः

सोममित्रभगविश्ववेधसः ॥

मैत्राश्विनीमारुतमातृतिष्या

भगत्रयी नैरूक्तपौष्णदस्ताः ।

धात्रग्निवायुत्रयवारिनाथाः

सार्कादिवाराः शुभसिद्धयोगाः ॥

उत्तरास्तिलः दण्डधरो—यमः भगत्रयी—उत्तराहस्तचित्राः,
वायुत्रयं—स्वातिविशाखानूराधाः, वारिनाथो—वरुणः एते वृत्तैकैक-

पादगदितास्ताराः क्रमेण अर्कादिवारसंयुताः सिद्धयोगाख्याः, ते
सर्वकर्मसु शुभाः । अत्र गुरुः—

पौष्णोत्तराणि हस्तश्च मूलश्रवणसप्तमैः ।
सूर्यवारयुता योगा दोषहालाहलेश्वराः ॥
श्रवणादित्यवायव्यशकटैन्दवमैर्युताः ।
सोमवारे महायोगा दोषोरगखगाधिपाः ॥
मैत्रार्यमाश्विनीपूषा साहिर्बुधश्च च रोहिणी ।
भौमवारेण संयुक्ता योगाः स्युः दोषघस्मराः ॥
विश्वार्यमनिशानाथमैत्रपूर्वात्रयाग्रयः ।
बुधवारयुता योगा दोषराक्षसराघवाः ॥
पुनर्वस्वाश्विनीतिष्यस्वातीमित्रा गुरोर्दिने ।
भाग्यनैर्ऋतपौष्णादित्रितया भृगुवारगाः ॥
कृत्तिका रोहिणी स्वातिश्शतताराऽऽर्किवारगाः ।
योगाश्च फला दोषतमसो भास्कराः स्वयम् ॥
एभिश्च राश्यशुक्ले कृष्णे चान्त्यत्रिकं विना ।
रिक्ताविष्टिपरित्यक्तास्तिथयस्सहिताश्शुभाः ॥
सर्वस्थानश्रवणेशादि सर्ववस्तुनिरीक्षणम् ।
सर्वदा तनुभृत्यादि कारयेदेषु पण्डितः ॥
राजानुग्रहचिह्नादि प्रासादाश्च गजादयः ।
हैमराजतताम्रादिकांस्यपात्राद्यमत्रके ॥
गजाश्वशालारम्भाश्च प्रवेशं तत्प्रदर्शनम् ।
तेषां च संग्रहं कुर्यात् अस्त्रसंस्कारसंग्रहौ ॥
नूतनागारवासं च नवभुक्तिं च कारयेत् ।

अपि च—

कृत्तिकादिचतुर्वर्गात् बुधवारादितः क्रमात् ।

वृद्धिं शुभं च सिद्धिं च अमृतं चेति निर्दिशेत् ॥

इति । अत्राभिजिता सह द्रष्टव्यम् । अमृतयोगानाह—

सार्कादिवारा गुरुमूलहस्ताः

चित्रादिमार्धश्रवणेन्दुताराः ।

बुध्न्याश्विनीविश्वभगप्रजेशा

विश्वामित्राः शरशैलतिथ्योः ॥

त्रयोदशी मातृजलान्त्यभानि

भगप्रचेतोमरुतस्सनन्दाः ।

भद्रासमेता वसुधातृवाताः

क्रमेण योगा अमृताभिधानाः ॥

चित्रादिमार्ध—चित्रापूर्वार्धं, शरशैलतिथ्योः—पञ्चमीसप्तम्योः

पदमिता एतास्ताराः सूर्यादिवारैः बुधादित उक्ताभिस्तिथिभिश्च

युक्ताश्चेदमृतयोगसंज्ञाः स्युः ॥ एतदुक्तं भवति गुरुणा—

बार्हस्पत्यं च सावित्रं नैर्ऋतं सूर्यवारगम् ।

सर्वेषु शुभकार्येषु शुभदा¹स्युश्शुभाः स्मृताः ।

चित्राश्रवणसौम्यास्स्युर्यादि शीतांशुवारगाः ।

इमे चापि सुधायोगास्सर्वशोभनशोभनाः ॥

भाद्रपादाश्विनी चैव रोहिणी चोत्तरास्त्रयः ।

¹ स्सुशुभा.

कुजवारेण संयुक्ताः सुधायोगा दिवा शुभाः ।
 विश्वाग्निमित्रनक्षत्रा बुधवारसमन्विताः॥
 पञ्चमीसप्तमीयुक्ताः सुधायोगाः प्रकीर्तिताः ।
 पूर्वाषाढपुनवस्वो रेवती सहिता यदि ॥
 गुरवारे सुधायोगास्त्रयोदश्या समन्विताः ।
 स्वातीशतभिषग्भागैः सहितो यदि नन्द्या ॥
 शुक्रवारस्सुधायोगस्सर्वकर्मणि दौषहा ।
 रोहिणीवसुवायव्याश्शनिवारसमन्विताः ।
 भद्रया सहिता योगास्सुधाख्याशशुभवृद्धिदाः ॥
 एषु सर्वेषु योगेषु विवाहे शोभना प्रजा ।
 दीर्घमाङ्गल्यसंपाद्विर्मोदते पुत्रवृद्धिभिः ॥
 यात्रायामिष्टसिद्धिस्स्यात् धनलाभैर्जयैरपि ।
 विद्यारम्भेषु पाण्डित्यं चतुर्वर्गफलायतिः ॥
 कृष्यारम्भे महाधान्यं प्राप्नोति यज्वा द्विजन्मनि ।
 नवान्ने दीर्घजीवी स्यात् चौले श्रीमान् निरामयः ॥

इति ॥ बुधवारे चित्रायोगस्य दग्धत्वममृतत्वं च प्रागाचार्यैरभ्यधा-
 यीति विरोधादाचार्येण तत्पूर्वार्धस्यामृतत्वमपराधस्य दग्धत्वमिति
 व्यवस्थापितम् । वरयोगानाह —

चित्राग्नीश्वरपाशिनो दिनपतेर्वा रे सनन्दास्तथा भौ-
 मस्याम्बुभुजङ्गपौष्णमरुतोयोगा वराख्याशशुभाः ।
 नन्दाभार्गवभौमतीक्ष्णमहसां भद्रा कवीन्द्रोर्जया
 चान्द्रिक्ष्मासुतयोऽशनेरपि परा पुर्णा गुरोस्सिद्धिदा॥

सूर्यवारे नन्दातिथिः चित्रादिभचतुष्टयं भौमवारे नन्दातिथिः
पूर्वाषाढादिभचतुष्टयं एते वरयोगास्त्युः । तथा च गुरुः—

रौद्राग्निचित्रावारुण्यो नन्दयाऽर्कदिने युताः ।
पौष्णाप्यानिलसर्पक्षा नन्दया भौमवासरे ॥
वरयोगा इमे सर्वे चतुर्मुखमुखोदिताः ॥
ग्रामारम्भे गृहारम्भे पत्तनारम्भणादिषु ।
राष्ट्ररक्षादिके सेतुबन्धने च प्रसाधने ।
तटाकपरिखारम्भे भृत्यबन्धुपरीक्षणे ॥
शस्त्रवाहनशय्यादिच्छत्तृचिह्नप्रदर्शने ।
संग्रहे गृहवेशे वा वारयोगाः प्रचोदिताः ॥

इति ॥ अन्ये त्वाहुः—

श्रोणा पुनर्वसू मूलमाग्यभोत्तरभद्रकाः ।
स्वाती च कृत्तिका सूर्याच्छुभयोगाः शुभवहाः ॥

गार्ग्यश्च—

वायव्यं रविवारेण सोमं मृगशिरेण तु ।
आश्लेषा भौमसंयुक्तं बुधे हस्तसमन्वितम् ॥
अनूराधा गुरोर्वारे वैश्वदेवं च भार्गवे ।
शनैश्चरः कृत्तिकायामानन्दो योग उच्यते ॥

इति ॥ अथ शुक्रादिवारेषु नन्दाद्यास्तिथयः सिद्धाख्याः, यथा शुक्र-
भौमभास्वद्वारेषु नन्दासिद्धेत्यादि । शनेर्वारे परा रिक्ता सिद्धेत्यर्थः
अत्र नारदः—

आदित्यभौमयोर्नन्दा भद्रा शुक्रशशाङ्कयोः ।
जया सौम्ये शनौ रिक्ता गुरौ पूर्णाऽमृताः शुभाः ॥

अन्ये—

नन्दा भृगौ सोमसुते च भद्रा
भौमे जया सूर्यसुते च रिक्ता ।
पूर्णा गुरौ पञ्चसु पञ्च सिद्धाः
शुभावहाः शोभनकर्मनिष्ठाः ॥

इति । अन्ये सूर्यवारे रिक्ता सिद्धेत्याहुः । तथा च सारसमुच्चये—

नन्दा दैत्यगुरौ शशाङ्कबुधयोर्भद्रा जया भूमिजे
रिक्ताऽर्काकिंदिने सुरेड्यदिवसे पूर्णा च सिद्धिप्रदा ॥

इति । यदिहार्कादिवारेषु नन्दादीनां विद्वत्त्वमुक्तं तत्तु षष्ठ्यादि-
व्यतिरिक्तानामिति द्रष्टव्यम् । अन्यैः सुधायोगोऽप्युक्तः—

आदित्ये प्रतिपत्तिथिर्विधुदिने धर्मस्तृतीया बुधे
षष्ठी भूमिसुते चतुर्थ्यपि तथा मन्दे भृगौ मन्मथाः ।
एकादश्यपि वाक्पतौ यदि भवेत् योगस्सुधागौरवम्

इति । गार्ग्यः—

यदि विष्टिर्यतीपातो रिक्ता वाऽपि तिथिर्भवेत् ।
दह्यतेऽमृतयोगेन भास्करेण तमो यथा ॥

इति । तिथिवारतारायोगाः यथा सर्वसिन्धौ—

मूलाश्विबिष्णुहिर्बुधचवह्निपैत्रभगाधिपाः ।
शूर्पार्द्रामूलवरुणरोहिण्याषाढकास्तथा ॥
प्रथमेन्दुदिनाद्यैश्च तिथिवारैः क्रमाद्युताः ।
शुक्लप्रतिपदार्काद्यैः योगाः षड्विंशतिः शुभाः ॥

इति । गुरुः—

रोहिण्यैन्दवपुष्याश्विनैत्रहस्तास्सतां दिने ।

नन्दाभद्रातिथियुता चलयोगा इति स्मृताः ॥
द्वितीया पञ्चमी शुक्ले सप्तमी च त्रयोदशी ।
शुभवारे शुभांशेन्दौ शुभयोगो महागुणः ॥

इति । एते योगाः मलमासे न भवन्ति । तथा च गुरुः—
चतुर्भिश्च मलैर्मासैः विना कृष्णचतुर्दशीम् ।
कुहूँ चापि विना ह्येते महादोषविनाशनाः ॥

इति । नित्ययोगाश्च नक्षत्रवद्वष्टव्याः । तथा च नारदः—
सूर्येन्दुयोगनक्षत्रसंयुताश्चापि नित्यशः ।
योगास्सर्वे यथायोगं सर्ववारेषु शोभनाः ॥
करणाश्च तथा सर्वे सर्ववारेषु शोभनाः ।

इति । वारक्षयोगास्तिथ्यक्षयोगाश्च अन्यथाऽन्यैरुक्ताः । यथा—
अश्विन्यादिषु भत्रिकेषु नवसु स्वांशेशवारान्वयात्
मैत्रीमङ्गलरिक्तसंज्ञमुदितं योगत्रयं स्वार्थदम् ।
नन्दापङ्क्तिशरैरिदं शुस्तरुणकः पक्षान्तभद्रानिलैः
रिक्ता विश्वभुजङ्गमैः स्थविरकः पादान्वयादुत्कटः ॥

इति । राशितिथियोगास्त्वन्यत्र द्रष्टव्याः । उक्तयोगानां गुणयोगमाह—
तिथिवारक्षयोगा ये प्रोक्तास्ते शुभकर्मसु ।
तत्तद्वारक्षगीतेषु विशेषात् सिद्धिदायिनः ॥

एवं ये तिथिवारयोगाः तिथ्यक्षयोगाः वारक्षयोगाः तिथि-
वारक्षयोगा उक्ताः ते सर्वे तत्तद्योगसंपादकवारक्षतिथिविहितेषु शुभ-
कर्मसु विशेषेण सिद्धिदा भवन्ति । यद्यप्यविशेषेण सर्वशुभकर्मस्वेते

इति । अमृतघटीकृत्यमाह—

अमृतघटिकाः समस्ते शुभकर्मण्यमृतयोगवद्ग्राह्याः । विषरोगादिचिकित्साविधौ शुभा इत्य-
वाच्यमिदम् ॥

अमृतघटिकाः सर्वस्मिन् शुभकर्माणि आविशेषेण ग्राह्याः, अमृतयोगवत् इति । आदित्यहस्तादयो अमृतयोगाः सर्वकर्मसु यथा शुभा भवन्ति । अनेनैव अमृतयोगाश्च सर्वकर्मसु शुभा इत्यप्युक्तम् । अपि तु विषं लूतादिविषादि, रोगाः राजयक्ष्मादयः, तेषां चिकित्साविधिः भैषज्यकर्म, आदिशब्देन रसायनवश्यपुष्ट्यादिप्रयोगा गृह्यन्ते, एतेष्वमृतघटिकाः अमृतयोगाश्च शुभाः इतीदमवाच्यम्, यतो नाम्नैव तत्सिद्धम् । अथ च अमृतघटीयोगाः विषरोगचिकित्सादिष्वेव शुभा इति केषांचिन्मतम्, तदसत् । यतस्ते सर्वकर्मसु अविशेषेण शुभा इति गुर्वादिभिरुक्तम् ॥

कालगुणमाह—

शशी तदारूढगृहाधिपश्च
लग्नाधिनाथश्च यदा त्रयोऽमी ।
बलाधिकाः सद्गृहदृष्टियुक्ताः
गुणाधिकं तं कथयन्ति कालम् ॥

तात्कालिकश्चन्द्रः तदाक्रान्तराश्यधिपः तत्काललग्नाधिपश्च त्रय एते स्थानादिबलसंपन्नाः शुभदृष्टियुक्ताश्च यस्मिन् काले भवन्ति तं मुहूर्तकालं गुणाधिकमाहुः ।

अन्ये चन्द्रस्य एकस्यैव प्राबल्ये गुणाधिक्यमाहुः। तथा च भरद्वाजः—

प्रशस्तपक्षे शुभदे शशाङ्के
नीचारिनाथांशकवर्जिते च ।
शुभग्रहैर्वीर्ययुतैश्च दृष्टे
चन्द्रे भवेत् श्रेष्ठतमं विलम्बम् ॥

इति ॥ केचित् चन्द्रतद्वाङ्मयोः चन्द्रलग्नयोः लग्नलग्नश्वरयोश्च प्राबल्ये
गुणमाहुः । अत्र गुरुः—

चन्द्रश्च तेनोषितमं च सम्यक्
प्रशस्तवीर्यान्वितमुख्यभावौ ।
यदा तदा स्याद्गुणमुख्यमेतत्
दोषाणि सर्वाणि विनाशयेद्भि ॥
भेशस्त्वतिस्निग्धविशालरश्मिः
शुभेक्षितो मं च तथाऽनुरूपम् ।
लग्नोपयुक्तं गुणनाथसंज्ञो
दोषान् शतं सङ्कलितान् विभिन्द्यात् ॥

इति । भरद्वाजः—

चन्द्रयुक्तं शरीरं स्यात् लग्नं तु प्राणसंज्ञितम् ।
तावुभौ संपरीक्ष्यैव कर्तव्यं श्रेय इच्छता ॥

इति ॥ अष्टवर्गगुणमाह—

कर्तुस्त्वजन्मसमयावसितग्रहाणां
कृत्वाऽष्टवर्गकथिताक्षविधानमत्र ।
बह्वक्षयोगवशतः शुभराशिमास-
भावग्रहस्थितिषु कर्म शुभं विदध्यात् ॥

कर्तुः स्वजन्मकाले तात्कालिकस्फुटत्वेन ध्रुवत्वेन निश्चि-
तानां समापितस्फुटादिपरिकर्मणां वा सूर्यादीनां स्वाष्टवर्गोक्तं शुभा-
शुभाख्यासन्ध्यासाविधिं कृत्वा, अत्र बह्वक्षयोगवशतः यत्र बहूनि शुभा-
क्षाणि संयुतानि स्युः स राशिः शुभः, तस्मिन् राशौ ततम्बन्धिनि मासे
तद्वाशिर्व्यापिनि लग्नादिभावे च ग्रहे स्थिते शुभं कर्म कुर्यात् । एतदुक्तं
भवति—जन्मकाले सूर्यादिभिः सप्तभिराक्रान्तानि सप्तभानि प्राक्
लग्नेन सह अष्टौ लग्नानि ग्रहचारवशात् प्राणिनां शुभाशुभप्रदानि ।
तेभ्यः शुभाशुभस्थानेषु स्वगतिवशाच्चरन्तो ग्रहाः शुभाशुभानि
प्रयच्छन्ति । तद्यथोक्तमाचार्येण —

पुरवासदुग्धनाकं गतनयमाद्यं गुणाक्षिधनपारम् ।
शेषधियं तुच्छेन्द्रं प्रथमं लघुतानकारमर्कस्य ॥
लूतासिंहनटं कुलान्तसनकं स्त्रीबाणताळानकं ।
काले धर्मसुजानकीपुरवसाहीनोयमित्थं विधोः ॥
वार्गन्यस्यतु गर्भमासधनिकं गौणान्तकं चाष्टमं ।
गीतज्ञोऽयमिति क्रमेण गदितं सूर्यादिलग्नान्तकम् ॥
भौमस्य बाणतनयं गतिकंकुरवासहीनकं गुणतुष्टम् ।
स्तेनाकारं तेजोयात्रां कपिसिंहधेनुकं गणितनयम् ॥
शीतलपत्रं रम्भातर्जनकं पुत्रवासदुग्धनटम् ।
कुलशक्तिधेनुपुत्रं तदापरं पुत्रलाभमदधन्यम् ॥
यात्रावसुजनष्टं पुरभक्तजनाढ्यामिन्दुपुत्रस्य ।
जीवस्य पत्रलावी सन्दिग्धनयं रणार्थिधैर्यं च ॥
पुरवसुजनकं परवशतालनटं पात्रलाभसौजनिकम् ।
श्रीमति धनिकं गोणीतारं परवशतुच्छधानुष्कम् ॥
निदधातु शुक्रवर्गे दैत्येन्द्रं पात्रलवणदुग्धकरम् ।

लोभस्तब्बाकारं गुणेषु धन्यं महीधनाढ्यं च ॥
 पुरलवणदुग्धनष्टं लवमदधनिकं परागविशतधियम् ।
 मन्दस्य परावस्थाजनकं लितिकागुणस्तनाकारम् ॥
 तेजोधीनाकारं मोक्षकरं तस्करं गुणस्तेयम् ।
 कुलवित्तनयं चेति क्रमशोऽक्षरसङ्ख्यया मयोक्तानि ॥
 एतान्यष्टकवर्गे वाक्यान्यर्कादिलग्नपर्यन्तम् ।

तत्तत्स्थानादीनि न्यस्याथ शुभाशुभं ब्रूयात् ॥

इति । राशिचक्रं कृत्वा सूर्यादीन् स्वाक्रान्तराशिप्वाल्लिख्य, तत्त-
 द्राशेरुपक्रम्य कृतं तदुक्तमुखस्थानाङ्कान् सिताक्षैः अनुक्ताः शुभ-
 स्थानाङ्कानसिताक्षैः कृत्वा तत्तद्वाशिगतशुभाशुभफलविच्छेदे कृते
 यदधिकं तत्र तत् फलं स्यात् । तच्च स्वोच्चादिस्थैः कृतं चेत्
 इष्टं पुष्टं च, आदिस्थैः अल्पम्, व्यस्तमशुभमिति ॥ तथा च
 वराहमिहिरः—

इति निगदितामिष्टं नेष्टमन्यद्विशेषात्
 अधिकफलविपाकं जन्मनामत्र दद्युः ॥
 उपचयगृहमित्रस्वोच्चगैः पुष्टमिष्टं
 त्वपचयगृहनीचारातिगैर्नेष्टसम्पत् ॥

इति । शुभाशुभसाम्ये तद्द्वयाभावः । एकैकाक्षाधिक्ये पादार्धमभिवृद्धं
 शुभादिवाच्यम् । उक्तं च बादरायणेन—

कष्टश्रेष्ठे तुल्यसङ्केच फले चेत्
 स्यातां नाशः फलयोस्तत्र नाशः ॥
 वाच्या पक्तिर्योऽतिरिक्तस्तयोः स्यात्
 स्थानेस्थाने कल्पनेन पन्त्रिणा ॥

इति । एवं कृते यत्र राशौ भूयांसि शुभाक्षणाणि स्युः, तत्सम्बन्धिनि मासे सौरे चान्द्रे वा शुभं कुर्यात् । यत्र शुभाक्षणान्यत्वं तत्र वर्जयेत् । तथाचोक्तं—

सूर्याष्टवर्गे यश्शून्यो मासस्संवत्सरं प्रति ।

विवाहव्यवहारादि तस्मिन्मासि विवर्जयेत् ॥

इति । तथा यत्र राशौ चन्द्रस्य शुभाक्षभूयस्त्वं तद्भाशिताराश्च शुभं कुर्यात्, अन्यत्र वर्जयेत् । उक्तं च—

चन्द्राष्टवर्गे शून्याक्षगते चन्द्रे परित्यजेत् ।

शुभकर्माणि सर्वाणि कुर्याच्चेत् श्रेष्ठराशिगे ॥

इति । सर्वाष्टवर्गाक्षसमुदाये यत्र राशावक्षाणि बहूनि समुदितानि तत्र शुभं कुर्यात्, अन्यत्र वर्जयेत् । तथाचोक्तं—

त्रिंशदधिकाक्षसहितानि शुभानि पञ्च

विंशोनकान्यशुभदान्यथ मध्यगानि ॥

मध्यानि शस्तभवने शुभकर्म कार्यं

कष्टेषु वर्ज्यमखिलं शुभकर्मभेषु ॥

इति । किंच—

यस्मिन् राशिफलं हीनं तेन रोगाचिकित्सितम् ।

कुर्यादृणं च तत्सर्वं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥

इति । लग्नादिष्वपि राशिवत् । तथाचोक्तं—

सर्वाष्टवर्गजफलानि समूह्य योगान्

भूत्यादिगण्यमशुभं च शुभं च मिश्रम् ॥

जन्मादितः फलविशेषदृशा समीक्ष्य

यात्राविवाहसमये बहुवर्गयुक्तः ॥

¹ विशेषदिशा.

इति । ग्रहस्थितिश्च तद्वत् । अत्र गुरुः—

अशुभकृदपि खेचरो विलग्नादहितभगोऽपि निजाष्टवर्गकर्क्षे ।

बहूतरगणनायुते तदर्क्षे सकलगुणधिकरोऽत्र दोषहा च ॥

किंच प्रागादिदिक्षु सर्वेषां प्रतिदिग्गतराशित्रयाक्षसमुदायं कृत्वा

यत्राक्षबाहुल्यं तद्दिग्गृहं श्रेष्ठम् । तथा च होरासारे—

प्रादक्षिण्येन राशीनां फलान्येकत्र योजयेत् ।

पृथक् पृथक् चतुर्दिक्षु बह्व्रे शोभनं गृहम् ॥

शुभयुक्ते च हीनाक्षे सपापे च विवर्जयेत् ।

मेषगोयुग्मकर्कीणां त्रिकोणे वा शुभं गृहम् ॥

दिवचक्रे श्रेष्ठराशौ तु धनधान्यगृहं शुभम् ।

कृषिगोष्ठादिकं क्षीणराशौ नष्टं कृतं भवेत् ॥

इति । अपि च सूर्यादीनां अधिकाक्षराशिदिग्बशादेव देवार्चागृहा-
दिस्थानानि । उक्तं च—

रवेर्देवार्चनास्थानं शशाङ्काञ्जलसंश्रयः ।

भौमान्महानसं स्थानं शुक्रस्य शयनालयम् ॥

मन्दस्य चोत्करस्थानं श्रेष्ठं बह्वक्षराशिगम् ॥

इति । एतत् वास्तूपयुक्तमित्युक्तम् । जन्मानि स्वोच्चादिस्थोऽशुभोऽपि
शुभकृत् । नीचादिस्थः शुभोऽप्यशुभकृत् । यथाऽऽह श्रुतदेव-
कीर्तिः—

ईषत्सुहृत्स्वोच्चभसान्निविष्टो

मित्रर्क्षजन्मोपचये बलीयान् ॥

यो जातकेऽभूत्स तु जन्मसंस्थो

दद्याच्छुभं न त्वशुभोऽप्यनिष्ठम् ॥

अपचयराशौ नीचे शत्रुक्षेत्रे च जन्मकाले स्यात् ।
 यस्तु स दद्यात् पापं फलमपि शुभदो यथाकालम् ॥
 ते । अत्र शुभकर्मणां मुहूर्तादेशे दशाज्ञानमिष्टं, अन्यथा तत्फला-
 शो दुष्करः, मुहूर्तलभ्यादपि जन्मलग्नस्य प्राधान्यात् । तथाच वराः
 मेहिरः—

विदिते होराराशौ स्थानबलपरिग्रहे ग्रहाणां च ।
 आयुषि च परिज्ञाते शुभमशुभं वा फलं वाच्यम् ॥
 अन्ये वदन्त्याविदितेऽपि हि जन्मकाले
 योज्यस्मृकर्मसमयो मनुजेश्वराणाम् ॥
 प्रश्नोदयोद्भवफलं सदसद्विदित्ये
 तत्त्वार्थविनिगदति स्म वचो वसिष्ठः ॥
 अपृच्छतः पृच्छतो वा जिज्ञासोर्यस्य कस्यचित् ।
 होराकेन्द्रत्रिकोणेभ्यः तस्य विद्याच्छुभाशुभम् ॥
 ते । एतदुत्तमं, नक्षत्रमात्रज्ञाने मध्यमं, अन्यथा अधमम् ।
 या च विवाहप्रकरणे गार्ग्यः—

उत्तमं मध्यमं चैवमधमं च त्रिधा भवेत् ।
 द्वयोर्जातकसंयुक्तमुत्तमं तु विधीयते ॥
 नक्षत्रमात्रमेवात्र ज्ञात्वा कार्यं तु मध्यमम् ।
 योगमात्रं द्वयोर्ज्ञात्वा कार्यमत्राधमं भवेत् ॥
 । अत्र जन्मन्यज्ञाते प्रश्ने चाभिहिते मुहूर्तफलकथनं पुणवर्ण-
 । तथाहि—समकालकृतकर्मणामपि पुरुषाणां लग्नादिस्थशुभा-
 । अहोक्तसदसत्फलवैषम्यं दृश्यते । तच्च तेषां स्वजन्मदशाधि-
 दिरिक्तम् । तथा च वराहमेहिरः—

होराविदो जगुरिदं सूतावबलो दशाधिपारिश्च ।
 अशुभफलदोऽपि सांप्रतमुदये सौम्योऽपि नेष्टफलः ॥
 सांप्रतफलदस्सूतौ बलान्वितो यो दशाधिमित्रं च ।
 पापोऽपि स शुभदः स्यात् श्लोकश्शास्त्रोदितश्चात्र ॥
 सौम्योऽप्यतीतचिरभाविफलो न योज्यः
 पापोऽप्यसांप्रतफलो रिपुनिर्जितश्च ।
 पाकाधिपास्सुहृदनिष्टकवर्गशुद्ध-
 स्वल्पोऽफलश्च दिनमांशविधिस्तदा स्यात् ॥

इति । अपिच अन्यदशास्वन्यफलानुभवो विरुध्यत इति तद्रूहफलं न
 समस्ति । तस्मात् जातकमालोक्य कर्तुः जन्मलग्नप्रयोः ग्रहस्य च मित्र-
 त्वादि निरीक्ष्य मुहूर्तं तत्फलं च आदिशेत् । अथवा प्रश्नोद्देशेन जात-
 कवत् सर्वं चिन्तयेत्, तयोस्तुल्यफलत्वात् । उक्तं च —

यत्सारं पृच्छतः पुंसो ग्रहहोराश्रितं फलम् ।
 तत्सारं तस्य तज्जन्म यद्यप्यन्यगृहे भवेत् ॥
 बुद्ध्या शास्त्रं यथान्यायं बलाबलविधानतः ।
 यथोक्तं जातके सर्वं तथाऽप्यत्रापि चिन्तयेत् ॥

इति । भरद्वाजोऽप्याह—

यो वा पृच्छति यत्कर्म विवाहगमनादिकम् ।
 तत्तस्य प्रश्नकालेन वक्तव्यं हि शुभाशुभम् ॥
 प्रश्नकालेन विज्ञेयः सर्वस्तस्य फलोदयः ।

ज्ञात्वा कर्मवशात् प्राप्तिर्योज्या कर्मसु तादृशी ॥

अयमर्थः—जातके ये सुनफाप्रभृतयः शुभयोगाः तैः प्रश्नकाले दृष्टैः
 शुभं ब्रूयात् । एवं ये दुष्टफला योगाः तैः अशुभं चिन्तयेदित्या-
 दिकं सर्वं जातकवत् प्रश्नविधौ द्रष्टव्यम् । गुणानुपसंहरति—

इयन्त एवात्र गुणाः प्रदिष्टाः
 दोषापवादांश्च तथाऽऽहुरन्ये ।
 येषां विभेदा बहवोऽतिसूक्ष्माः
 प्रकीर्तिता विस्तरतो मुनीन्द्रैः ॥

अत्र गुणाध्याये इयन्तः परिमिताः केचिदेव गुणा मया उक्ताः ।
 अन्ये पूर्वाध्यायोक्तान् सामान्यान् दोषापवादयोगांश्च गुणानाहुः ।
 तथा च गुरुः—

यद्वक्ष्याम्यत्र दोषाणामपवादानि वृत्रहन् ! ।

तत्सर्वं गुणभूगिष्ठं तेषां गुणबले बलम् ॥

इति । किञ्च—एषां गुणानामतिसूक्ष्मा बहवो भेदाः सन्ति, ते तु
 बृहस्पत्यादिभिः स्वशास्त्रेषु विस्तरत उक्ताः, इह तु ग्रन्थबाहुल्यभयात्
 मया नोक्ताः इति शेषः । एवं सप्ताङ्गगुणानभिधाय निमित्तगुणानाह—

व्यासो मनोऽभिरतिमाह गुणं प्रधानं
 वायूदयं तु कपिलः शकुनानि जीवः ।
 गार्ग्यः प्रभातमृषिरत्रिरुपश्रुतिं च
 विष्णुः समस्तशुभकर्मसु विप्रवाक्यम् ॥

व्यासः सर्वशुभकर्मसु कर्तुः स्वमनोभिरतिं प्रधानगुणमाह ।
 तथाचोक्तं—

निमित्तानुचरं सूक्ष्मं देहेन्द्रियमनुत्तमम् ।

तेभ्यो ह्येतच्छरीरस्थं त्रिकालफलाविन्नृणाम् ॥

प्रीयते न मनोऽनर्थे नासिद्धावभिनन्दति ।

तस्मात्सर्वात्मना यातुमनुमेयं यथा मनः ।
शुभाशुभानि सर्वाणि निमित्तानि स्युरेकतः ॥
एकतस्तु मनो यातुस्तद्विशुद्धं जयावहम् ॥

इति । यातुरिति कर्तृरुपलक्षणम् ॥

कपिलो मुनिः वायोः स्वराख्यस्य उदयमाह ।

यदुक्तं—

हंसः स्वयं स्वरो ह्यात्मा सर्वज्ञः सर्वभूतगः ।
तस्मात्सर्वाणि कार्याणि कुर्यात् स्वरमहोदये ॥

इति । नरपतिश्च—

लालाभौ सुखं दुःखं जीवितं मरणं तथा ॥
जयः पराजयश्चैव सर्वं ज्ञेयं स्वरोदये ॥

इति । स्वरोऽपि द्विविधः—सूक्ष्मः स्थूलश्च । तत्र सूक्ष्मस्तावद्वामदाक्षि-
णयोरिडापिङ्गलानाज्यात्मकयोः नासापुटयोः प्राणवायोः निर्गमप्रवे-
शात्मकः । स च पृथिव्यादिपञ्चभूतभेदेन पञ्चविधः ।

अत्र नरपतिः—

अष्टाङ्गुलं वहेद्वायुरनलश्चतुरङ्गुलम् ।
द्वादशाङ्गुलमाहेन्द्रो वारुणः षोडशाङ्गुलम् ॥
मध्ये पृथिव्यधश्चाप ऊर्ध्वं वहति चानलः ।
तिर्यग्वायुप्रवाहश्च नभो वहतिः सङ्क्रमे ॥
पृथ्व्याद्येकैकतस्तु स्यादेकैकघटिकादयः¹ ।
आदौ चन्द्रस्सिते पक्षे भास्करस्तु सिते तरे ॥
²प्रतिपदादिदिनान्येवं त्रीणि त्रीणि कृतोदयौ ।

¹ अहोरात्रस्य मध्ये स्युस्तेन द्वादश संक्रमाः इत्युत्तरार्धम्. • ² प्रतिपदादितो
हानिस्त्रीणि त्रीणि क्रमोदयः

चन्द्रोदये यदा सूर्यः चन्द्रः ¹सूर्योदयेऽथ वा ॥
 अशुभं हनिरुद्वेगः ²शुभं सर्वं निजोदये ।
 शशाङ्कं ³वरयेद्वात्रौ ⁴दिवाकार्ये दिवाकरम् ॥
⁵यात्रादानविवाहेषु वस्त्रालङ्कारभूषणे ।
 शुभे सन्धौ प्रवेशे च चन्द्रचारः प्रशस्यते ॥
 विग्रहद्यूतयुद्धेषु स्नानभोजनसंज्ञमे ।
 व्यवहारे तपोभङ्गे ⁶ ⁷भानुचारः प्रशस्यते ॥
 अन्यत्र विद्यारम्भेषु दीक्षायां वश्यकर्षणे ।
 शस्त्राम्यासे विवादे च द्यूते खेटनचौर्ययोः ॥
 बाहने गजवाहादेरथ यन्त्रादिशिल्पने ।
 लिपिलेखनगीतादौ मन्त्रयन्त्रादिसाधने ॥
 रोगे भैषज्यवस्त्रे च विषभूतादिनिग्रहे ।
 क्रयविक्रयपण्येषु स्नानभोजनमैथुने ॥
 उद्धारदाने युद्धे च मारणोच्चाटने तथा ।
 मोहने स्तम्भने द्वेषे सूर्यः सर्वत्र पूज्यते ॥
 स्थिरकर्मण्यलङ्कारे दूराध्वानि च संग्रहे ।
 शान्तिके पौष्टिके दाने दिव्यौषधरसायने ॥
 गृहप्रवेशने स्वामिदर्शने बीजवापने ।
 देवतानां प्रतिष्ठासु चन्द्रः सर्वत्र पूज्यते ॥

भट्टनागः—

वश्यस्तम्भनयोः प्रशस्त उदयो भूमेर्जलस्योदयः
शस्तश्शान्तिकपौष्टिकादिषु शुभेष्वद्धा कशानोः पुनः ।
शत्रोर्दौरणमारणादिकरणेषूच्चाटनोत्सादने
वायोः शान्तिकनिर्विषीकरणयोः व्योम्नो हितश्चोदयः ॥

इति । अन्ये स्यरोदये विग्रहोदयमाहुः । तथा च ब्रह्मयामले—

सुस्थिते समघातोश्च वामदक्षिणभागगे ।
घटिके द्वे च सार्त्रिंशच्छ्रासताराः पृथक्पृथक् ।
कुजोऽग्निर्भास्करः पृथ्वी शनिरापोऽनिष्ठः फणी ।
इत्येवं दक्षिणे ज्ञेयं ग्रहाणामुदयं प्रिये ! ॥
विधुरापो भृगुर्वह्निर्देवाचार्यः प्रभञ्जनः ।
पृथिवी सोममूनुश्च वामे प्रोक्तं ग्रहोदयम् ॥
मन्दस्यार्धं भवेत्काले तदर्धं वसुधाभुवः ।
तदर्धं च तदर्धं च भानुभानुभुजोरपि ।
सोमस्यार्धं सितस्यार्धमर्धार्धं बुधजीवयोः ॥

इति । किंच—

मेषाद्या राशयः प्रोक्ता दक्षिणेतरमध्यगाः ।
चरास्थिरद्विस्वभावा दृश्यन्ते तु यथाक्रमम् ॥

इति । अत्र शुभराशौ शुभग्रहोदये शुभं कार्यम् ।

स्थूलस्त्वकारादिस्वरपञ्चकमिन्नात्मा । स च मात्रावर्णग्रहराशि-
ताराजीवपिण्डयोगमेदेन अष्टधा । उक्तं च—

अकारश्च इकारश्च उकारश्च तृतीयकः ।
एकारश्च तथौकार एते पञ्च स्वराः स्मृताः ॥

प्रथिव्यादीनि भूतानि गुणा गन्धादयस्तथा ।
 पञ्च स्वरा महादेवि! दीर्घाः पञ्च तथा स्मृताः ॥
 अकाराद्याः स्वराः पञ्च भिद्यन्ते ते तथाऽष्टधा ।
 मात्रा वर्णो ग्रहो जीवो राशिर्भेदोऽपि ण्डयोगकौ ॥

॥॥॥ देवस्वराणां लक्षणमुक्तं नरपतिना—

¹प्रसुप्ता येन भाषन्ते येनागच्छन्ति शब्दिताः ।
 तत्रैव नाम्नि वर्णाद्या मात्रा मात्रास्वरो मतः ॥
²कादिभान्तान् लिखेद्वर्णान् स्वराधो ङअणोज्झितान् ।
 क्रोष्ठक्रमेण यो यस्य स स्वरो वर्णसंज्ञकः ॥
 तत्र नामादौ संयोगाक्षरे सति तदाद्यो वर्णो ग्राह्यः ॥
³अकारे मेषसिंहालीकारे स्त्रीयमकर्कटाः ।
 उकारे चापमीनौ च एस्वरे च तुलावृषौ ॥
 ओस्वरे मृगकुम्भौ च राशीशास्तु ग्रहस्वराः ।
 स्वराधः स्थापयेत् खेटान् राशेर्यो यस्य नायकः ॥
 अवर्गः ⁴षोडशाक्षरश्च कादिकाः पञ्चपञ्चकाः ।
 यशवर्गौ चतुस्तस्रश्चौ वर्गस्तस्रश्च स्मृता बुधैः ॥
 नाम्नि ⁵वर्णस्वरा ग्राह्या यथावर्गकुलक्रमैः ।

¹ प्रसुप्तो भाषते येन येनागच्छति शब्दितः ।

तत्र नामाद्यवर्णे या मात्रा मात्रास्वरः स हि ॥

² कादिभान्तान् ।

³ अस्वरो मेषसिंहाली इः कन्यायुग्मकर्कटाः ।

उस्वरे तु धनुर्मीनावेस्वरे तु तुलावृषौ ॥

⁴ षोडशाक्षरवर्गस्स्यात् कादिवर्गास्तु पञ्चकाः ।

चतुर्वर्णौ बशौ वर्गौ सङ्ख्यावर्गेषु कीर्तिताः ॥

⁵ नाम्नि वर्णस्वरा ग्राह्या वर्णानां वर्णसङ्ख्याया ।

पिण्डिताः पञ्चभिर्भक्ताः शेषं जीवस्वरं विदुः ॥
 वृषमेघावकारे ^१च यमस्याद्याः षडंशकाः ।
 मिथुनांशत्रयं ^२चान्यदिकारे सिंहकर्कटौ ॥
 कन्यातुले उकारे च वृश्चिकाद्यास्त्रयोऽंशकाः ।
^३एकारे वृश्चिकस्यान्त्याः षट्चापाः षण्मृगादिमाः ॥
 अंशास्त्रयो मृगस्यान्त्याः कुम्भमीनौ तथौस्वरे ।
^४एवंराश्यंशकाः प्रोक्ताः स्वरा राश्यंशकक्रमैः ॥
 अकारे सप्त ऋक्षाणि रेवत्यादिक्रमेण च ।
 पञ्च पञ्च इकारादिवेवमृक्षस्वरोदयाः ॥
 नाम्नि वर्णस्वरात् सङ्ख्या सङ्ख्यामात्रा स्वरात्तथा ।
^५पिण्डे शरहते शेषः पिण्डस्वर इहोच्यते ॥
 मात्रादिस्वरभेदेन स्वरानुत्पाद्य नामतः ।
^६योगे स्वरोऽधिकः प्रोक्तः समे वर्णस्वरो मतः ॥

इति । ते च अकाराद्याः प्रभवशुक्लवैत्रप्रतिपत्सूर्योदयादारभ्य दिन-
 पक्षमासर्तृयनवर्षद्वादशाब्दभोगाः प्रत्येकमुद्दिश्यन्ते । उदिताः ते च
 पुनः आ च भोगान्तात् बालाः, ततः कुमाराः, ततः परं युवानः,
 इत्यादि पञ्चावस्था द्रष्टव्याः । उक्तं च—

आद्यो बालः कुमारोऽथ युवा वृद्धो मृतस्तथा ।
 निजावस्थास्वरूपेण फलदा नात्र संशयः ॥

१ च मिथुनाद्याः

२ चैवमिकारे

३ एकारे वृश्चिकान्त्यांशाः चापञ्चट् च मृगादिमाः ।

४ एवं राशिक्रमः प्रोक्तः नवांशकक्रमोदयः ॥

५ पिण्डे शरहते शेषे पिण्डस्वर इहोच्यते ।

६ योगे शरहते शेषे योगस्वर इहोच्यते ॥

किञ्चिद्भूमिकरो बालः कुमारश्चार्धलाभदः ।
¹सर्वसिद्धिं युवा दत्ते हानिं वृद्धो मृतः क्षयम् ॥
 यात्रायुद्धविवादेषु नष्टे दृष्टे रुजान्विते ।
²बालस्वरोदयो दुष्टो विवाहादिशुभेऽशुभः ॥
 सर्वेषु शुभकार्येषु यात्राकाले तथैव च ।
 कुमारः कुरुते सिद्धिं सङ्ग्रामे³ भजते जयम् ॥
 शुभाशुभेषु सर्वेषु मन्त्रयन्त्रादिसाधने ।
 सर्वसिद्धिं युवा दत्ते यात्रायुद्धे विशेषतः ॥
 दाने देवार्चने दीक्षागूढमन्त्र⁴प्रजल्पने ।
 वृद्धस्वरोदयो⁵ ग्राह्यो रणे भङ्गो भयंगमे ॥
 विवाहादिशुभं सर्वं सङ्गमाद्यशुभं तथा ।
 न कर्तव्यं शुभं किञ्चित् जाते मृत्युस्वरोदये ॥

एषु बलाबलं युद्धादिषु ग्राह्यम् ।

मृतो बालस्तथा वृद्धः कुमारस्तरुणस्स्वराः ।

यथोत्तरबलास्सर्वे ज्ञातव्याः स्वरवेदिभिः ॥

पञ्चमस्वरोदयोऽवश्यं वर्ज्यः । तथा चोक्तं—

यो यस्य पञ्चमे स्थाने स स्वरो मृत्युदायकः ।

तृतीये तु भवेद्गृह्णः शेषा मध्यफलप्रदाः ॥

इति । तत्कालादिषु यात्रादिस्वरबलं ग्राह्यम् । यथा—

तत्काले मात्रिको ग्राह्यो दिने वर्णस्वरस्तथा ।

पक्षे ग्रहस्वरो ज्ञेयो मासि जीवस्वरोदयः ॥

¹ सर्वसिद्धो युवा प्रोक्तो वृद्धे हानिर्भूते क्षयः ।

² बालस्वरो भवेद्दुष्टो. ³ मे सङ्गतो जयः, ⁴ प्रकल्पने, ⁵ यो

ऋतौ राश्यंशजो ग्राह्यः षण्मासे धिष्ण्यसम्भवः ।
अब्दे पिण्डस्वरो ज्ञेयो योगो द्वादशवार्षिके ॥

। मात्रादिस्वरबलेषु कार्याण्युक्तानि—

साधनं मन्त्रयन्त्रस्य यन्त्रयोगांश्च सर्वदा ।
अधोमुखानि कार्याणि मात्रास्वरबले कुरु ॥
वर्णस्वरबले सर्वं कर्तव्यं च शुभाशुभम् ।
सिद्धिदं सर्वकार्येषु युद्धकाले विशेषतः ॥
मारणं मोहनं स्तम्भं विद्वेषोच्चाटनं वशम् ।
विवादं विग्रहं घातं कुर्याद्ग्राहस्वरोदये ॥
स्वर्णयानादिकं सर्वं वस्त्रालङ्कारभूषणम् ।
विद्यारम्भं विवाहं च कुर्यात् जीवस्वरोदये ॥
प्रासादारामहर्भ्याणि देवतास्थापनार्चनम् ।
राजाभिषेको दीक्षा च कर्तव्यं राशिके स्वरे ॥
शान्तिकं पौष्टिकं यात्रां प्रवेशं बज्रवापनम् ॥
स्त्रीविवाहस्तथा सेवा कर्तव्या भस्वरोदये ॥
शत्रूणां देशभङ्गं च कोशयुद्धं च वेष्टनम् ।
सेनाध्यक्षस्तथा मन्त्री कर्तव्यं पिण्डकोदये ॥
योगेन साधयेद्योगं देहस्थं ज्ञानसंभवम् ।
आर्णवं शाम्भवं चैव शाक्त्यं च तृतीयकम् ।
एषां वर्णस्वर एव बलवान् । उक्तं च—
यथा पदा हस्तिपदे प्रविष्टाः
यथा हि नद्यः खलु सागरेषु ।
यथा हरेर्देहगतास्मुरेन्द्राः
तथा स्वरा वर्णबलोदयस्थाः ॥

इति । एवं स्वरोदयबलमाश्रित्य सर्वाणि कार्याणि कुर्यादिति ।

‘जीवस्तु शकुनानि स्वर्णाक्षिपद्भ्यादीनां रुतचेष्टादृष्टिकीर्तनान्याह । तथा चोक्तं—

अन्यजन्मान्तरकृतं पुंसां कर्म शुभाशुभम् ।

यत् तस्य शकुनः पाकं निवेदयति गच्छताम् ॥

इति । तत्प्रपञ्चः परस्तात्करिष्यते ।

गार्ग्यः प्रभातं भास्करोदयादर्वाक् षड्घटीरूपं कालमाह ।

तथा चोक्तम्—

सुषुप्त्या स्वादितानन्दं सुखं चेतोऽभिवाञ्छति ।

प्रभाते सर्वकार्याणि कुर्यादात्मप्रसादतः ॥

इति । अत्रिरुपश्रुतिं तत्काले जनैरुदीरितं यादृच्छिकं वाक्यमाह । यतस्तदुक्तं सत्यमेव । यत् उक्तम्—

स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च यद्व्युत्सत्यमेव तत् ॥

इति । यथा भुङ्क्ते जीव जयेत्यादिशुभवाक्ये श्रुते शुभं, पत पातय नश्य अपजयेत्याद्यशुभे अशुभम् । उक्तं च—

यदृच्छया क्रियाकाले जनैर्वाक्यमुदीर्यते ।

यादृशं सर्वकार्येषु तादृशं फलमादिशेत् ॥

इति । विष्णुर्विप्राणां वेदवेदाङ्गविदुषां दैवज्ञानां वाक्यं प्रधानगुणमाह । यतस्तद्वाक्यं सत्यं भवति । उक्तं च—

अदैवं दैवतं कुर्युः कुर्युर्दैवमदैवतम् ।

यद्वाङ्मणसमं दैवं न भूतो न भविष्यति ॥

इति । सर्वगुणैभ्योऽयमेव श्रेयानिति विष्णुमतमाश्रित्य तत्रापि दैवज्ञवचनं प्रधानमित्याह—

देवार्चनाभिनिरतो जपसिद्धमन्त्रः
 सप्ताङ्गयुक्तगुणदोषबलाबलज्ञः ॥
 मौहूर्तिको वदति यत्तु फलं मुहूर्ते
 संत्यं तदुक्तमृषिभाषितवन्न मिथ्या ॥

देवाः—शिवाविष्णुसूर्यादयः तेषामर्चना पूजा । सा द्विविधा—बाह्या
 आभ्यन्तरा च । तत्राभ्यन्तरा तावदात्मयागः । स च कृतस्नानात्म-
 मन्त्रशुद्धिभिर्नृभिर्विधेयः । बाह्या तु सिंहासनस्थपूजा । सा च कृत-
 स्नानात्ममन्त्रद्रव्यलिङ्गशुद्धिभिः कार्या इति । तत्र अभितो दिवा
 रात्रौ च नितरां रतः त्रिसन्ध्यं देवार्चनानिष्ठ इत्यर्थः । जपेन
 तत्तत्कल्पोक्तनियमवता अक्षरलक्षादिसङ्ख्यजपतर्पणाहुतिपूर्वकेण सि-
 द्धः अभिमुखीभूतो मन्त्रो यस्येति, स्वकल्पोक्तनियमजपतर्पणाहु-
 तिभिः सिद्धमन्त्र इति यावत् । तादृशस्यैव विविधप्रयोगास्सिद्ध्यन्ति ।
 सप्ताङ्गस्य नक्षत्रादेः तत्सम्भूतगुणदोषाणां च बलाबलज्ञः, तादृशो
 दैवज्ञो मुहूर्ते यत्फलं वदति शुभमशुभं वा तेनोक्तं तत् सत्यं
 भवति यथा महर्षिभाषितं तद्वत्, इतीदं दैवज्ञलक्षणम् । तथा च गुरुः—

गुणानां दोषाणां प्रबलविवलत्वादिविदुषा
 बलानां वा तेषां समबलवतामेकसमये ।
 परिच्छेत्ता कालो लघुतरदिनैर्दोषहरणैः
 सुयोगैरादेश्यो गणकविदुषा कर्मणि शुभः ॥

इति । यस्मादेव दैवज्ञवाक्यमेव महान् गुणः तस्मात् तत्सत्कारा-
 सत्काराभ्यां मुहूर्तसाद्रूप्यवैगुण्ये स्त इत्याह—

उपास्य राजानमिवाधिकारो
भक्त्या प्रसाद्येव गुरुं सुमन्त्रः ।
अभ्यर्च्य दैवज्ञमतो ह्युपात्तः
शुभो मुहूर्तो न शुभोऽन्यथा स्यात् ॥

राजानं स्वामिनं उपास्य तस्मादुपात्तः अधिकारः कर्मणि
विनियोगो यथा शुभः महदैश्वर्यं विधत्ते, अन्यथा स्वामिन-
मनुपास्य लब्धोऽपि न शुभः महद्व्यसनं करोति, यथा गुरुं
भक्त्या प्रसाद्य तस्माल्लब्धो गाणपत्यादिः सुमन्त्रः स्वनामानुगुणो
मन्त्रः शुभो भवति । गुरुप्रसादाद्वते लब्धः स्वनुष्ठितोऽपि न
शुभकृत् । उक्तं च भद्रनागैः—

गुर्वनुग्रहमृते महीतले मन्त्र एष न हि सिद्धिदायकः ॥
इति । तथा च दैवज्ञाभिगमनसत्कारसम्प्रश्नपूर्वकं यथामति कनक
फलकुसुमादिभिरभ्यर्च्य तस्मादुपात्तो मुहूर्तः शुभः तत्कर्माभ्युदय-
कृत् स्यात् । अन्यथा दैवज्ञसत्कारमन्तरेण घटीयन्त्रादिभिः सम्यक्
कालं प्रसाध्य गृहीतोऽपि न शुभः स्यात् । तथा च गुरुः—

धनान्यायुः श्रियं पृथ्वीमिच्छता ब्राह्मणः स्वयम् ।

दैवज्ञो दैववत् पूज्यः सर्वकार्येषु वृत्रहन् ॥

बलवद्गुणसम्पन्नः निर्दोषोऽप्यशुभावहः ।

दैवज्ञपूजया हीनः कालोऽयं दोषसत्तमः ॥

अखिलबलकुलाकुलैस्समस्तैः ।

अपि सहितः समयो गुणैः प्रवृद्धैः ॥

अविरहितगुणेतरोऽतिदोषी ।

विबुधमुहूर्तसुपूजया विधुक्तः ॥

इति ॥ इह दैवज्ञमभ्यर्च्य मुहूर्तो ग्राह्य इति वदता मुहूर्तसंप्रश्नादि-
प्रदानान्तो विधिः सूचितः । स चान्यत्र विहितः । यथा वराहमि-
हिरः—

तस्मान्नृपः कुसुमरत्नफलाग्रहस्तः
प्रातः प्रणम्य रवये हरिदिङ्मुखस्थः ।
होराङ्गतन्त्रकुशलान् हितकारिणश्च
संपूज्य दैवगणकान् सकृदेव पृच्छेत् ।

भरद्वाजः—

दैवज्ञं सम्यग्भ्यर्च्य पृच्छेत्कनकभूषणैः ।
वस्त्रभूगोयुतैर्भूत्यैर्यथाशक्ति न वञ्चयेत् ॥
एकान्ते पूर्णहस्तस्तु मुमुहूर्ते शुभे दिने ।
स्वस्थं सुखासनासीनं पृच्छेद्दैवविदं नृपः ॥

ब्रह्मयामले—

पूर्वाह्णे प्राङ्मुखो राजा शुचिः संयतमानसः ।
कृतदेवनमस्कारो हिरण्यफलसंयुतः
दत्त्वा दैवविदे किञ्चित् ततः प्रश्नं विचारयेत् ॥

इति । अपराह्णे रात्रौ च न पृच्छेत्, यस्मात् पराशरः—

वेलास्तर्वाः प्रशस्यन्ते पूर्वाह्णे परिपृच्छताम् ।
सन्ध्ययोरपराह्णे च क्षपायां च विगर्हितम् ॥

इति । दैवज्ञानभियोगे दोषमाह भरद्वाजः—

कुलजं बुद्धिसम्पन्नं धर्मज्ञं सत्यवादिनम् ।
शुचिं दैवपरं पृच्छेत् लोभद्वेषविवर्जितम् ॥
तथाविधं बुधश्रेष्ठं पृच्छेत् संपूज्य शक्तिः ।
दैवज्ञाश्च यथा ब्रूयुस्तथा कुर्वन् दोषभाक् ॥

इति । यस्मादिह सम्पूज्य शक्तिः पृच्छेदित्युक्तं तस्मात् सति विभवे श्रेयसां सपर्यां कुर्यात् । अन्यथा मध्यमां, यथा दैव-
वित्तुष्यति तां वा, अदत्त्वा अवज्ञाय वा न पृच्छेत् । यथोक्तम्—

सत्कारं तु निमित्तज्ञे जघन्यं नैव योजयेत् ।

उत्तमं मध्यमं वाऽपि योजयेत् तत्फलं भवेत् ॥

रमणीयमथ द्रव्यं दातव्यं येन तुष्यति ।

केवलं न भवेत् प्रष्टा यथा पृच्छेत्तथा फलम् ॥

परिभूय तु यः पृच्छेद्दैवज्ञमवमत्य वा ।

न सिध्यतीति वक्तव्यं दुःखं वाऽथ पराभवम् ॥

केवलं पृच्छमानस्य न वदेद्दैवचिन्तकः ।

उभयोरपि दोषस्स्यात् ज्ञानिनः पृच्छकस्य च ॥

इति । किंच—

अन्यायात् पृच्छतो यस्य भवेद्विद्या पराङ्मुखी ।

पृच्छचमानं कृतं नश्येत् निमित्तस्य च गौरवात् ॥

सहदेवोऽपि—

मायाकुटिलभावेन हास्यपाषण्डितस्करे ।

अभक्ते रिक्तपाणौ च न ज्ञानं सत्यतां व्रजेत् ॥

इति । गुरुश्च—

यो दैवज्ञमवज्ञाय कर्म कुर्यात् स नश्यति ।

तस्मात् संपूज्य दैवज्ञं शृणुयाच्च क्रियाश्रेते ॥

इति । एवं स्वर्णफलादि प्रदाय पृच्छके स्थिते सति दैवज्ञः

तत्प्रश्नं शाच्छुभाशुभं वदेत् । तथाच ब्रह्मयामले—

दैवज्ञाग्रे स्थितः प्रष्टा तत्परो विनयान्वितः ।

दैवज्ञस्तन्मुखात् प्रश्नं सङ्ग्रह्य सुविचारितम् ॥

ततः स्फुटान् राशिगतान् तत्कालबलसंयुतान् ।
ग्रहान् दृष्टिवलं चैषां ज्ञात्वा प्रश्नं विचारयेत् ॥

वराहमिहिरः—

सुमधुरफलपुष्पक्षीरवृक्षान्वितायां
चरणगतिमुखायां गोशकृत्फेनवत्याम् ॥
सालिलकुसुमवत्यां पृच्छतो भद्रमुर्व्यां
ग्रहभगणगतिज्ञस्त्वादिशेत् पृच्छकस्य ॥
स्तनचरणतलोष्ठाङ्गुष्ठहस्तोत्तमाङ्ग-
श्रवणवदननासागुह्यरन्ध्राणि भूपः ।
स्पृशति यदि कराग्रैः गण्डकटचंसकान् वा
श्रुतिमुखशुभशब्दः श्रूयते भद्रमाहुः ॥

भट्टपादः—

दङ्गमनसोः प्रीतिकरं प्रश्ने हृद्दर्शनं यदा श्रवणम् ।
मङ्गल्यद्रव्याणां भवति शुभं निर्दिशेत्तत्र ॥

कृष्णः—

उदयनिमित्तैर्वर्णैः प्रश्नोद्भूतैर्बहिस्स्थितैः शकुनैः ।
वक्तव्यं शुभमशुभं प्रश्ने तत्कालजं तद्यत् ॥

भरद्वाजः—

यो वा पृच्छति यत्कर्म विवाहगमनादिकम् ।
तत्तस्य प्रश्नकालेन वक्तव्यं हि शुभाशुभम् ॥
प्रश्नकालेन विज्ञेयः सर्वस्तस्य फलोदयः ।
ज्ञात्वा कर्मवशात् प्राप्तिर्योज्या कर्मसु तादृशी ॥
यद्दृष्टं यच्छ्रुतं वृत्तं तत्सर्वं तस्य विद्यते ।

इति । प्रश्नफलं पुरस्तादभिधास्यते । तथा विचारिते प्रश्ने शुभं लभे
परीक्षणं कुर्यात् । भरद्वाजः—

परीक्ष्य नक्षत्रगुणाधिकत्वं निमित्तमालोक्य तदा प्रवृत्तम् ।
तत्प्रश्नकालस्य फलं विदित्वा नियोजयेत्कर्मसु कौशलं तत् ॥

तत्रापि—

अज्ञानादथवा द्वेषात् लोभाद्वा न वदेद्बुधः ।
अत्वरस्संपरीक्षेत यशोधर्मार्थभागभवेत् ॥
दृष्टतुष्टमना भूत्वा दैवज्ञगणसन्निधौ ।
नक्षत्रं संपरीक्षेत दैवज्ञः प्रयतः शुचिः ॥

इति । कालनिरूपणविधिर्गुरुणोक्तः—

अर्थप्रकरणाख्यादिलिङ्गौचित्यादिभिः सदा ।
देशकालादिभिश्चैव वाक्यान्तरविरोधतः ॥
अपवादादिभिर्विक्रयैः सामान्येन विशेषतः ।
सर्वत्र सर्वानालोच्य ज्ञानी कालं समादिशेत् ॥
एवं चेन्नैव बाल्यं स्यात् शास्त्रार्थत्रयमञ्जसा ।
क्रियामुहूर्तदोषाणां विधिवद्ब्रह्मणोदितम् ॥
कालत्रैराशिकेनैव ज्ञात्वा सम्यक् ग्रहांस्तथा ।
लग्नं छायाम्बुयन्त्रैश्च परिज्ञाय समादिशेत् ॥

इति । त्रैराशिकेन कालमानीय गुणदोषतदपवादान् तेषु प्राबल्यदौ-
र्बल्ये च विचार्य अस्मिन् वर्षे अस्मिन् मासे लग्नमिदं श्रेष्ठमिति ।
तथा च भरद्वाजः—

वर्षं मासं दिनं वाऽपि पृच्छमानस्य तर्कितम् ।
कालं कृत्वा परीक्षेत् सम्यक् सर्वानशेषतः ॥

गुणान् दोषांश्च सञ्चिन्त्य मत्वा तेषां बलाबलम् ।
 योजयेच्च यथाकालं ज्ञात्वा तत्कर्मगौरवम् ॥
 कालमुद्दिश्य वक्तव्यमेषु श्रेष्ठमिदं त्विति ।
 अन्यथा तु न शक्यं हि निर्दोषं बहुवत्सरैः ॥

गुरुः—

दोषे च बलहीने च योगे दोषहरेऽथवा ।
 दृष्टे दोषापवादे च गुणे बलसमन्विते ॥
 निर्देश्यः शुभकार्येषु कालशुभाविवृद्धये ।
 एवं विधाने शास्त्रार्थत्रयं नैव हि बाध्यते ॥

इति । लग्ने विचारितेऽस्य राशेरेतदंशकोदये दिवारात्रिगता नाड्य-
 इत्यस्य इति गणितेन ता आनयेत् । यथोक्तं ब्रह्मसिद्धान्ते—

रविराश्वभुक्तलिप्तास्तदुदयगुणिता ह्यता ग्रहकलाभिः ।
 लब्धं प्राणाः स्थाप्याः प्रक्षिप्यार्के ग्रहाभुक्तम् ॥
 तावत् सूर्ये राशीन् क्षिपेत्समो लग्नराशिभिर्यवित् ।
 क्षिप्तगृहाणां प्राणान् प्रक्षिप्य स्थापितेष्वसुषु ॥
 तदधिककलोदयवेधं राशिकलाभिः भजेत् फलं प्राणाः ।
 प्रक्षिप्य प्राणेषु भवन्ति सूर्योदयादसवः ॥

इति । आनीतं लग्नकालं शङ्कुच्छायादिना साधयेत् । अत्र श्रीपतिः—

गोलाचक्रं कार्मुकं कर्तरी च
 कालज्ञाने यन्त्रमिन्दुं कपालम् ।
 पीठं शङ्कुस्स्यात् घटीयष्टिसंज्ञं
 गन्त्री यन्त्राण्यत्र दिक्सम्मितानि ॥

इति । तेषु चक्रवापादीनि पञ्चषाणि प्रसिद्धानि । तल्लक्षणान्
च्यन्ते । यथा—

कृत्वा सुवृत्तं फलकं हि यष्ट्या
चक्राङ्कितैश्चाङ्कितमत्र मध्ये ।
लम्बस्तदग्रात्सुषिरेण यद्वत्
केन्द्रेऽर्करश्मिः पततीव बुद्ध्या ॥
लम्बेन मुक्ता रविभागतोऽशाः
तत्रोदितास्ते घटिकास्तु याताः ।
चक्राख्यमेतद्वलमस्य चापं
ज्यामध्यरन्ध्रस्थितलम्बमेतत् ॥
ज्यामध्यतिर्यक्स्थितकीलमेतत्
पूर्वापराग्रास्थितकर्णरन्ध्रात् ।
¹प्रत्यग्दलः कोटिमुखाश्च नाड्यः
समुज्झिताः कीलमुखाद्भवन्ति ॥
इदं भवेदूर्ध्वशलाकमुर्व्या
स्थितं कपालद्युतिकूलचापम् ।
संसाधितांशं खलु चन्द्रयन्त्रं
पीठं भवत्यूर्ध्वशलाकमेव ॥
मध्यस्थकीलप्रभयाऽविमुक्ता
पीठे तु सूर्योदयबिम्बवेधात् ।
मुक्तांशजीवस्फुटमत्र कुर्यात्
तद्यन्त्रसिद्धानुगतास्तु नाड्यः ॥

¹प्रत्यग्धनुः कोटि.

ताः स्वद्युमानाभिहता विभक्ताः
नभोगुणैः स्पष्टतमा भवन्ति ।
नाड्योऽन्यथा स्थूलतरा निरुक्ताः,

इति । एतद्यन्त्रसिद्धा नाड्यः स्थूलाः । अतः शङ्कुना घटीपात्रेण वा
कालं मानयेत् । तदुक्तं सूर्यसिद्धान्ते—

शिलातलेऽम्बुसंसिद्धे वज्रलेपेऽपि वा समे ।
तत्र शङ्कुङ्गुलैरिष्टैः समं मण्डलमालिखेत् ॥
तन्मध्ये स्थापयेच्छङ्कुं कल्पनाद्वादशाङ्गुलम् ॥

इति । शङ्कुलक्षणमुक्तं श्रीपतिना—

भ्रमाविरचितवृत्तः तुल्यमूलाग्रभागः
द्विरदरदनजन्मा सारदारूङ्गवो वा ।
अयमृजुरवलम्बाद्व्रणप्पट्कवृत्तः
समतल इह शस्तः शङ्करकाङ्गुलः स्यात् ॥

नारदः—

न्यग्रोधखदिराश्वत्थरक्तचन्दनवृक्षजम् ।
श्रीखण्डागरुदन्तोत्थमृजुं शङ्कुमकल्मषम् ॥
द्वादशाङ्गुलमुत्सेधं परिणाहं षडङ्गुलम् ।
एवं लक्षणसंयुक्तं कारयेत् कालसाधने ॥

इति । अनेनापि व्यङ्गुलच्छाया दुर्ग्रहेति केचित् घटीपात्रमेव साध-
नमाहुः । तथाच नारदः—

एवं संचिन्त्य गणितशास्त्रोक्तं लग्नमानयेत् ।

VIDYAMĀDAVIAM

तल्लग्रं जलयन्त्रेण दद्याज्ज्यौतिषिकोत्तमः ॥
इति । तल्लक्षणं चोक्तं—

षडङ्गुलमितोत्सेधं द्वादशाङ्गुलमायतम् ।
कुर्यात्किपालवत्ताम्रपात्रं तद्दशभिः पलैः ॥
पूर्वं षष्ट्या जलपलैः षष्टिं मज्जाति वासरे ।
माषत्रयव्यंशयुतं स्वर्णवृत्तशलाकया ॥
चतुर्भिरङ्गुलैरायामया विद्धमिति स्फुटम् ॥

इति । अन्ये त्वाहुः—

शुल्बपलैर्द्वादशभिः कुर्यादष्टाङ्गुलोच्छ्रयं पात्रम् ।
विस्तारं द्वादशभिः कराङ्गुलैस्तत्प्रमाणं स्यात् ॥
यन्त्राकृष्टशलाका हेमोद्भूता षडङ्गुलोपेता ।
सद्वित्रिमाषतुलया शलाकया वेधयेत् पात्रम् ॥

इति । तद्विधिश्च नारदेनोक्तः—

ताम्रपात्रे जलैः पूर्णे गन्धपुष्पैरलङ्कृते ।
तण्डुलस्थे स्वर्णयुते वस्त्रयुग्मेन वेष्टिते ॥
मण्डलार्धोदयं बक्ष्य रवेस्तत्र विनिक्षिपेत् ।
मन्त्रेणानेन पूर्वोक्तलक्षणं यन्त्रमुत्तमम् ॥
मुख्यं त्वमसि यन्त्राणां ब्रह्मणा रचितं पुरा ।
भावाभावाय दम्पत्योः कारयेस्सम्यगीक्षणम् ॥

एतदुक्तं भवति—जलसंसिद्धे समे भूतले स्वास्तिकमष्टदलं वा मण्डलमालिख्य तत्र शुभानि तण्डुलादीनि न्यस्य तदुपरि ताम्रक

टाहं निधाय तस्मिन् वस्त्रशुद्धमम् आनीय गन्धादिभिरलङ्कृत्य
वासोभ्यामावेष्ट्य तदन्तः स्वर्णी निक्षिप्य गन्धताम्बूलादिभिरिष्ट-
देवता ग्रहान् दिगीशांश्च समभ्यर्च्य प्रभाताद्वेदवेरर्धविम्बोदये
साग्रमर्धविम्बास्तमये तत्र घटीपात्रं क्षिपेत् । तस्मिन् जलमग्रे
घटिकैका स्यात् । एवं लग्नकालं साधयेत् ।

यद्वा—शङ्कुच्छायया यथातोयसंसिद्धे समे भूतले प्राग्वत्
साधितांशमण्डलमालिख्य तदन्तरिष्टच्छायाङ्गुलैर्वृत्तं कृत्वा तन्मध्ये
शङ्कुं प्रतिष्ठाप्य, यद्वा तन्मण्डलन्यस्ततण्डुलोपरि निहितं पूर्णकु-
म्भं सस्वर्णं वासोभ्यामावेष्ट्य तदुपरि संसाधितांशफलकं निधाय
तत्र शङ्कुच्छायाङ्गुलैर्वृत्तं कृत्वा तन्मध्येनिहितशङ्कुच्छायया साधिते
तत्काले प्राप्ते ग्रहदैवज्ञाद्विज्ञान् अभ्यर्च्य स्वेष्टदेवतां स्तुतिपूर्वकं
दैवज्ञाद्विज्ञानमुखोदितः शीर्वचनैः सह यथाप्रधानं शुभक्रियां कुर्यात् ॥

अत्र भरद्वाजः—

न भवोत्तिथिनक्षत्रं फलहेतुः स्वयं सदा ।

ग्रहैस्तदेवैर्विज्ञेयं तस्मात्तान् पूर्वमर्चयेत् ॥

ग्रहान् सर्वान् समभ्यर्च्य नक्षत्राणां च देवताः ।

दैवज्ञैराशिषं कृत्वा ततः कर्म समारभेत् ॥

तत्काले अभिषेया आशीर्वादा यथा—

अर्षाङ्गे गिरिसम्भवा प्रियतमा श्यामाऽपराङ्गेऽपरा

मौलौ चन्द्रकला गले च गरलं फाले त्रयं तेजसाम् ।

यस्यानन्यसमप्रभावपिशुना चेष्टेदृशीति प्रभुः

शम्भुस्तोऽम्बिकया सहात्र वरदो भूयाच्छिवो वससदा

दुर्गा दुर्गतिहारिणी त्रिनयना दूर्वादलश्यामला
 गीर्वाणारिविदारिणी मृगपतिस्कन्धाधिरूढा शिवा ।
 चञ्चच्चक्रवरासिखेटकधनुर्बाणत्रिशूलं भुजैः
 विभ्राणा धृततर्जिनी भगवती सौभाग्यदा साऽस्तु वः ॥

शोणः शोणितगन्धबन्धुरतनुः बन्धूकबन्धुस्स्फुर-
 द्वासोलङ्करणः कराम्रविलसत्पाशाङ्कुशेष्टद्विजः ।
 द्व्यम्बस्त्रच्यम्बकनन्दनः त्रिनयनस्तम्बेरमास्याम्बुजः
 तुन्दी चन्द्रधरः स वो भवतु निर्विघ्नाय विघ्नाधिपः ॥

साम्भोजद्विभुजोऽम्बुजोदररुचिः पद्मासनः पद्मिनी-
 कान्तः कान्ततनुः त्रिमूर्तिररुणस्त्रगन्धोज्ज्वलः ।
 सप्ताश्वोऽरुणसारथिः दिनमणिमार्गिक्यभूषस्स वो
 देवः काश्यपनन्दनः प्रदिशतु श्रेयश्चिरं भास्करः ॥

श्वेतः श्वेतसुगन्धमारुपवसनः छत्रध्वजाद्युज्ज्वलो
 दोर्म्यामात्तगदाभयोऽमृतमयस्ताराधिपोऽब्धिप्रियः ।
 अत्रेर्नेत्रभवो दशाश्वविलसत्पत्राधिरूढस्स वः
 श्रीमान् मौक्तिकभूषणो वितनुतामानन्दमिन्दुस्सदा ॥

रक्तो रक्तविलेपवस्त्रसुमनोदामातपत्रो दधत्
 दोर्मिशशक्तिगदादि शूलकरवान् विश्वम्भरायाः सुतः ।
 हृद्यो विद्रुमभूषितस्सप्तसुषमो मेषाधिरूढश्चिरं
 भारद्वाजवरः करोतु भवतां सन्मङ्गलं मङ्गलः ॥

सौम्यः सौम्यतनुर्मृगेन्द्रमहितस्कन्धाधिरूढो बुधः
 पीतस्फीतसुगन्धवस्त्रकुसुमस्सौवर्णवर्णोज्ज्वलः ।

आत्रेयशशशिनन्दनो वरगदाचर्मासिभास्वङ्गुजो
भूत्यै वो भवतु स्फुरन्मरकतच्छायस्त्विवावल्लभः ॥

साक्षस्त्रग्वरदण्डमण्डितकरः पीताम्बरालेपनः
स्वग्वारी धृतपुष्परागविलसङ्गुषो हरिद्राङ्गरुक् ।
वागीशोऽङ्गिरसस्मृतो दिविषदामश्वारिखूढो गुरुः
ताराजानिरनारतं स भवताद्वश्रेयसे भूयसे ॥

शुक्रः शुक्लतनुस्सुशुक्लसुमनश्छत्रानुलेपाम्बरो
भास्वद्वज्रविभूषणसितहयारूढोऽसुराभ्यर्चितः ।
आवासो निगमस्य नीतिनिपुणो दण्डी लसत्कुण्डिकः
स्साक्षस्त्रग्वरदः कविर्भृगुसुतस्सौभाग्यदस्सोऽस्तु वः ॥

कृष्णः कृष्णविलेपनाम्बरसितछत्रोज्ज्वलो मित्रजः
प्राग्वन्नीलविभूषणशशधनुश्शूलानि विभ्रङ्गुजैः ।
भक्तेभ्यो वरदश्च काश्यपवरो गृध्राधिरूढस्सुतः
छायायाः स शनैश्चरश्चिरतरं नीरोगतां वः क्रियात् ॥

स्वर्भानुर्भलिनस्तमोमयतनुस्सिंहास्थितस्सिंहिका-
सूनुर्भीममुखः पलाशनपरश्वर्मासिभास्वङ्गुजः ।
नीलस्त्रग्वसनानुलेपसुरभिर्गोमेदभूषोज्ज्वलः
कौण्डिन्यप्रभवस्तनोतु भवतां भोगी सुभोगोदयम् ॥

धूम्रा धूसरगन्धदामवसनच्छत्रा विचित्राशनाः
वैडूर्यभरणा विकारिवदना ब्रह्मात्मजा जिह्मगाः ।
जैमिन्यार्षभुवश्शतैकतनवो गृध्रासनाध्यासिनः
ते कुर्वन्तु सदा गदावरकराः श्रेयांसि वः केतवः ॥

खेटप्रत्याधिदेवताः शिवशिवाषाण्मातुराधोक्षज-
 ब्रह्माखण्डलदण्डिकालदहनास्तेषामधीशाः पुनः ।
 कृष्णाध्वांबुधराम्बुजाक्षमधवच्छक्रप्रियापद्मभू-
 सर्पाम्भोजभुवो भवन्तु भवतामिष्टार्थसिद्धये सुराः ॥
 ध्यानस्तोत्रजपार्चनप्रणतिभिर्ये संश्रयन्ते ग्रहान्
 अश्रान्तं प्रदिशन्ति शर्म निरतं तेभ्यो नभश्चारिणः ।
 आयुष्यं धनमक्षयं सुभगतामारोग्यमग्रचं यशः
 सामग्रचं गुणसंपदां रिपुजयं श्रेयो महामङ्गलम् ॥
 श्रीमद्रूपावसिष्ठकाश्यपभरद्वाजात्रिदेवर्षयो
 गार्ग्यव्यासबृहस्पतिप्रभृतयो येऽन्ये च होराकृतः ।
 सर्वे ते सुमुहूर्तमुत्तमगुणं शंसन्तु सन्तोषिताः
 सर्वे सन्तु शुभप्रदा दिविचरा ज्योतिर्गणास्सग्रहाः ॥
 ईशानद्रुहिणाच्युतप्रभृतयो देवास्सलोकेश्वराः
 योगीशास्समहर्षयो गिरिसुतावाग्निन्दिराशक्तयः ।
 गङ्गाद्यास्सरितो नगास्सुरभयो विप्रा ग्रहास्तारकाः
 सर्वे ते वरदा भवन्तु भवतां प्रीताः सुखस्वस्तिदाः ॥

इति। अथ दैवज्ञेन त्रिरुच्चैरुक्तशब्दः सुमुहूर्तमस्त्विति तेनानुज्ञातः क्रिय
 कुर्यात् । तत्काललोकप्रीतिजननार्थं दैवज्ञेन चिह्नानि वाच्यानीत्याह—

द्रेक्काणशीतगुनवांशककालहोरा-
 लग्नग्रहाभ्युदयदृष्टिषु यस्य वीर्यम् ।
 तत्तुल्यवस्तुर्कथनागमनेक्षणाद्यं
 तत्काललक्षणमसौ कथयेन्मुहूर्ते ॥

लभ्याद्यद्वेक्काणे तत्कालचन्द्राक्रान्तनवांशे तत्कालहोराधां
तत्काललभ्ये ग्रहोदये तद्दृष्ट्यां च यस्य द्वेक्काणाधिपार्देरधिकं
वीर्यमस्ति तस्य बलवद्वेक्काणादेस्सदृशानि धातुमूलजीवाख्यानि
वस्तूनि तेषां वार्तागमनदर्शनानि आद्यशब्देन तत्प्रतिरूपकतदनुकर-
णादिकं गृह्यते, एतानि तत्कालचिह्नानि वदेत् । उक्तं च—

लक्षणानामनन्तत्वात् देशेदेशे विशेषतः ।
न शक्यमञ्जसा वक्तुं तेन सामान्यमुच्यते ॥
यस्य ग्रहस्य शीतांशुरंशके व्यवतिष्ठते ।
यस्य राशिरुपात्तस्यादुभयं तस्य लक्षणम् ॥

अन्ये—

अर्कादिकानामुदये नो चेत्तेषां नवांशके ।
द्वेक्काणे द्वादशे त्रिंशत्सप्तांशैर्वा बलान्वितैः ।
दिग्भ्रवर्णजातिदेशादिग्रहराशिबलाबलम् ।
अवेक्ष्य लक्षणं ब्रूयात् सर्वेषामेव सर्वदा ॥

अन्ये लक्षणादिशमन्यथाऽऽहुः—

आंशकाधिपतिर्यस्मिन् राशौ सन्निहितस्तदा ।
तस्य राशेर्दिशि भवेच्छक्षणं दैवदर्शिनः ॥
राशिर्ग्रहोपयुक्तश्चेत्तद्गुणं न विलक्षयेत् ।
अनेकसम्भवे चापि लक्षणं स्याद्विशेषतः ॥
उच्चांशकगते राशावुत्कर्षमवधारयेत् ।
नीचे नीचबलेनैषां क्षेत्रे तद्देशवासिनः ॥
मैत्रे परिचिता ज्ञेयाः शात्रवे तु विरोधिनः ।
अन्यांशकेष्वन्यस्ता ज्ञेया लक्षणजन्तवः ॥

नक्षत्रादिभ्यः तिथिं बलिष्ठामाह गार्ग्यः, यतस्तिथिप्राबल्याच्चन्द्र
प्राबल्यं तत्प्राबल्यादन्यग्रहप्राबल्यम्, तस्मात्तारादितः प्राधान्ये
तिथिबलमेव ग्राह्यमिति गार्ग्यमतमित्यर्थः । तथा चोक्तं—

तिथिशरीरं तिथिरेव कारणं
तिथिः प्रमाणं तिथिरेव साधकम् ।
तिथिं विना चापि न दृश्यते शशी
विनेन्दुना वाऽपि न कर्म सिध्यति ॥

अत्र मतान्तरमाह—

सम्पूर्णा तिथिभेदने यदि भवेत्तारा बलाढ्या
तदा भेदे सत्युदुनस्तथैव तिथिरित्येके मुनीन्द्रा
जगुः । तिथ्यर्धे तु गते सर्वीर्यमुदितं नक्षत्रमर्धं
तथा नक्षत्रस्य तिथिः समे सति तयोः सैवेति
चान्ये जगुः ॥ ३ ॥

भेदनं खण्डः, मध्येदिनं तिथिखण्डे सति तदा काले तारा
यद्यखण्डा स्यात् तर्हि तारैव बलाढ्या स्यात् । तथा ताराखण्डे सति
तिथिरखण्डा स्याच्चेत्तिथिरेव बलवतीति केचिन्मुनय आहुः । अत्र
अहोरात्रव्यापिनी अखण्डेत्युच्यते । अत उक्तं—

समस्तास्तिथयः प्रोक्ता उदयादोदयाद्वेः ।

इति । अन्ये त्वाहुः—एवं चेत्प्रतिमासमखण्डास्तिथयस्तारा वा द्वित्रा
एवं सम्भवेयुरिति तिथिताराणां वारादिभ्यो दौर्बल्यमेव प्रायेण सर्वदा

स्यात् । अतो नैतत्सारम् । या पुनर्कास्तमयव्यापिनी तदुदयस्पर्शिनी
सा अखण्डेत्यत्राहुः—

यां तिथिं समनुप्राप्य अस्तं याति दिवाकरः ।

सा तिथिस्तकला ज्ञेया,

इति । नारदः—

सूर्यास्तमयपर्यन्तं यस्मिन् वारे तु या तिथिः ।

विद्यते सा त्वखण्डा स्यात् न्यूना चेत् खण्डसंज्ञिता ॥

इति । अत्र मतान्तरमाह—

तिथेः पूर्वार्धे गते सति नक्षत्रमभुक्तपूर्वार्धं चेत् बलवत् स्यात्,
तथा नक्षत्रस्य पूर्वार्धे गते तिथिर्बलवती, तयोस्तिथिनक्षत्रयोस्समे सम-
भोगे सति तिथिरेव बलवतीति रज्जादय आहुः । यदुक्तम्—

तिथ्यर्धे तु गते ज्ञेया तिथिभुक्तिर्विचक्षणैः ।

तिथौ हीने विज्ञानीयात् नक्षत्रं बलवत्तमम् ॥

नक्षत्रार्धे गते चापि तिथिस्स्यात् बलवत्तरा ।

तिथिनक्षत्रयोर्भेदे तुल्याधिकबला तिथिः ॥

इति । चशब्देन करणस्यापि स्वपूर्वार्धे प्राबल्यमस्तीति सूजितम् ।
तथाचोक्तं—

पूर्वार्धे स्वफलं ददाति करणं धिष्ण्यं च तद्वत् तिथिः ।

इति । अत्रेदमुक्तं तिथीनामखण्डत्वे प्राबल्यमिति केचित् । सखण्डेऽपि
स्वपूर्वार्धे प्राबल्यमित्यन्ये । उभयत्रापि तिथिदौर्बल्ये ताराणां प्राब-
ल्यम् ।

द्वितर्यानां बलसाम्ये तिथीनामेवेति मतान्तरमाह वृत्तार्धेन—

वळक्षे वर्धिष्णुः प्रभवति हि पक्षे तिथिमयो
हिमांशुः क्षीणेऽस्मिन्नुडुबलमिति श्रीपतिमतम् ॥

वळक्षे शुक्ले पक्षे वर्धिष्णुः आपूर्यमाणश्चन्द्रः प्रभवति प्रभुः
पूर्णो भवतीत्यर्थः । स च तिथिमयः तिथ्यधीनाभिवृद्धिमत्त्वात् हि
यस्मादतश्चन्द्रस्य प्राबल्ये तदभिवर्धिकास्तिथयोऽपि प्रबलास्स्युरित्यु-
पपत्तिसिद्धम् । बलं शुक्ले तिथीनामस्ति । अस्मिन्तिथिमये चन्द्रे
क्षीणे सति तिथिदौर्बल्यात्ताराप्राबल्यमिति श्रीपतेर्मतम् । यदुक्तं—

शुक्ले पक्षे शीतरश्मिर्बलीयान्
न प्राधान्यं तारकायास्तु तत्र ।
शक्त्या युक्ते विद्यमाने च कान्ते
न स्वातन्त्र्यं योषितः क्वापि दृष्टम् ॥
न खलु बहुलपक्षे शीतरश्मेः प्रभावः
कथितमिह हि तारावीर्यमार्यैः प्रधानम् ।
रतिविकलशरीरे प्रेयसि प्रोषिते वा
प्रभवति खलु कर्तुं सर्वकार्याणि योषा ॥

इति । एवं तिथिताराप्राबल्यवादीनि मतान्युक्त्वा वारप्राबल्यवादमत-
माह वृत्तापरार्धेन—

यथोर्ध्वं विन्दन्ते तिथिकरणयोगर्क्षदिवसाः
क्रमाप्तद्वैगुण्यं बलमिति भरद्वाजवचनम् ॥ ४ ॥

योगाश्च ऋक्षाणि च योगर्क्षाणि, गुणसाम्याद्वलसाम्याच्च एकप-
दोक्तिः, तिथयः करणानि योगर्क्षाणि दिवसाश्च तिथिकरणयो-

गर्क्षदिवसाः ते यथोर्ध्वं क्रमेणासद्वैगुण्यं पूर्वस्मादुत्तरोत्तरं द्विगुणं बलं लभन्ते, इदं भरद्वाजस्य मतम् । यदुक्तम्—

तिथिमेकगुणं प्रहृद्विगुणं करणं भवेत् ।

चतुर्गुणं तु नक्षत्रं वारमष्टगुणं बुधाः ॥

इति । इह योगस्तु न पृथगुक्त इति तस्य नक्षत्रसाम्यात् तत्समं बलमित्युक्तम् । अन्ये योगस्य पृथगुपादानमित्याहुः । यथा—तिथयः करणानि योगा ऋक्षाणि दिवसाश्च तिथिकरणयोगर्क्षदिवसाः, ते क्रमात् पूर्वपूर्वस्मात् उत्तरोत्तरं द्विगुणं बलं भजन्त इति । स्वाभिमतं गुरुमतमाह—

तिथितिथिद्वययोगवारताराः

जगति भवन्ति यथोत्तरं बलिष्ठाः ।

इति गुरुमतमेव साधु मन्ये

विविधमिहास्ति मतं महामुनीनाम् ॥ १ ॥

तिथिकरणयोगवारतारा यथोत्तरं बलाधिका भवन्तीति इदं गुरुमतमेव लोके प्रशस्तमित्यहं मन्ये । इह अस्मिन् तिथ्यादि-प्राबल्याभिधानेऽपि विविधं महामुनीनां मतमस्ति, तिथ्यादिप्राब-ल्यावादीनि मुनिमतानि बहूनि सन्ति, तानि ग्रन्थविस्तरभयात् नेहाभि-धीयन्त इत्यर्थः ॥

अत्र वराहमिहिरः—

तिथिकरणादिनक्षत्रवैर्य-

प्रतिचयमाह पराशरः क्रमेण ।

तिथिरतिबलवान् वदन्ति गर्गाः
 करणबलाद्विवसोऽपि भागुरिश्च ॥
 दिनकरणबलाद्गुर्भवीर्यं
 बलमुदयस्य जगाद् जीवशर्मा ।
 प्रतिविषयबलाबलं स्वमेषा-
 मिति मुनयः कथयन्त्यतिप्रभूताः ॥

इति । एतदुक्तं भवति— तिथिरेवान्येभ्यो बलवानिति गार्ग्यः ।
 करणं बलवदिति नारदः । वारो बलवानिति भरद्वाजादयः । योगो
 बलवानित्यन्ये । तारा बलवतीति गुरुः प्राह । एषु गुरूक्तं तारा-
 याः प्राबल्यमेव युक्तमित्याचार्यस्य मतम् । यतश्छिद्रातिथीनां स्वो-
 क्तघटीषु करणानां स्वकाले योगानां स्ववर्ज्यघटीवाराणां अहि प्राब-
 ल्यम्, अन्यत्र दौर्बल्यं तिथ्यादीनां विद्यते । ताराणां तु सर्वत्र
 प्राबल्यं, अतस्तदेव साध्विति मन्यते । ननु यश्चोदयति कथं तिथ्या-
 दीनां दौर्बल्यं वदसि, दर्शादिषु तेषामेव प्राबल्यादिति तं प्रत्याह
 सर्वसिन्धौ—

स्वकालः करणं वारो नक्षत्रं तिथयो ग्रहाः ।
 राशयो योगताराश्च क्रमादेतेऽष्ट दुर्बलाः ॥ इति ॥

दर्शस्वपाश्वर्यसहितोऽहि कुजार्किवारौ
 विष्टिः स्थिरं च करणं व्यतिपातयोगाः ।
 नक्षत्रतोऽतिबलिनस्तिथिवासरादि-
 प्राबल्यवार्दिमतमेषु हि सावकाशम् ॥ ६ ॥

स्वपार्श्वार्थ्यां कृष्णचतुर्दशीशुक्लप्रतिपद्भ्यां सहितो दर्शः
अमावास्यातिथिः दिवा कुजमन्दवारौ विष्टिः स्थिरकरणानि च व्यती-
पातयोगाः त्रयश्चक्रार्धवैधृतसार्पमस्तकसंज्ञा एते तिथ्यादीनां समुदायाश्च-
त्वारो नक्षत्रादपि बालिनः । एषु तिथ्यादिसमुदायेषु तिथ्यादिप्रा-
बल्यवादिनां मुनीनां मतं सावकाशं, नान्यत्रेति तन्मतानामौपस-
र्जन्यमुक्तम् । यद्वा तन्मतान्यपि स्वपार्श्वदर्शादिसमुदायचतुष्टयावका-
शाभिधानेनादरणीयानीति ॥

पञ्चाङ्गस्य निसर्गबलमुक्त्वा तत्कालबलमाह—

पञ्चाङ्गस्य निसर्गजं बलमिदं वृद्धौ तिथीन्दो-
स्तियेः पूर्णं तद्विकलं क्षये सति तयोरेकाभिवृद्धौ
समम् । वारस्यापि तदीशवीर्यसदृशं योगस्य
सूर्येन्दुवत् भस्येन्दोरिव धर्षते न दलन्ति श्रेयोऽत्र
वीर्यान्वितम् ॥ ७ ॥

इदम्—उक्तं बलं तस्य पञ्चाङ्गस्या निसर्गजं । वक्ष्यमाणं तात्का-
लिकमित्यर्थः । तत्र तिथेस्तद्वलं तिथीन्दोरभिवृद्धिकाले पूर्णं जायते,
तयोः क्षये सति विकलं—शून्यं, तयोरेकस्याभिवृद्धावन्यस्य क्षये
सति निसर्गबलसममेव नाधिकं नापि हीनम् । यदुक्तं सर्वसिन्धौ—

तिथिवृद्धिक्षयौ शुक्लकृष्णपक्षसमौ मतौ ।

इति । ततः शुक्लतिथीनां वृद्धिश्चेत्तद्वलं पूर्णं, क्षयश्चेत् समम् ।
कृष्णे वृद्धिश्चेत् समम् । क्षयश्चेत् हीनमिति । तिथ्यर्धस्यापि तद्वत् ।
वारस्य स्वस्वामिवीर्यवत् । तस्मिन् बलाढ्ये पूर्णं दुर्बले हीनं बलम् ॥

उक्तं च—

बलप्रधानखेटस्य वारे यत् कर्म सिध्यति ।

तदेव बलहीनस्य दुःखेनापि न सिध्यति ॥

इति । योगस्य अर्केन्दुबलसदृशं बलम्, यथा सूर्येन्द्रोः द्वयोः प्राबल्ये पूर्णं, दौर्बल्ये शून्यं, तयोरेकस्य प्राबल्ये अन्यस्य दौर्बल्ये समं स्यात् । चन्द्रार्कयोगजन्यत्वात् बलसदृशं योगबलमित्युक्तम् । नक्षत्रस्य चन्द्रबलसदृशं बलं, चन्द्रे बलाढ्ये तद्वर्धते, दुर्बले निसर्गबलसमं स्यात् । न दलति न हीयते । नन्वत्र चन्द्रदौर्बल्ये ताराप्राबल्यामिति प्रागुक्तं, अधुना चन्द्रबलवत्ताराबलमिति विरुध्यते । न, आश्रयभेदात्, प्रागजन्मादिताराणां बलमुक्तम्, अधुना अश्विन्यादीनामिति । अत्र शुक्ले कृष्णे च ताराया बलं पूर्णं सत् शुक्ले चन्द्रस्य पक्षबलेनोपचितं पुनर्वर्धते, कृष्णे तदभावात् नैसर्गिकमेव स्यात् । अतो न दलतीत्युक्तम् । अत्र पञ्चाङ्गे यत्तारादिकं बलान्वितं तत् श्रेष्ठम्, यदल्पबलं तदशुभमित्यर्थः । एवं नक्षत्रबलाद्रात्रौ कर्म तिथिबलाद्दिवा कर्म कार्यमिति रल्लुः । उक्तं च—

अथ नक्षत्रमिष्टं स्यात् नेष्टस्तिथिगुणो भवेत् ।

दृश्यमाने तु शीतांशौ रात्रौ कर्म विधीयते ॥

अथ नेष्टं तु नक्षत्रमिष्टस्तिथिगुणो भवेत् ।

तदाऽहि कर्म कर्तव्यमित्येवमुशनाऽब्रवीत् ॥

इति । राशिग्रहाणां बलमाह—

वदन्ति पञ्चाङ्गसमानमेके

लग्नं परे तद्विगुणप्रभावम् ।

षडङ्गतोऽपि प्रबलो ग्रहेन्द्रः

सर्वैर्मुनीन्द्रैरविवादमुक्तम् ॥ ८ ॥

एके—भरद्वाजादयः लग्नं राशिं पञ्चाङ्गसमानं बलेनेति शेषः,
पञ्चाङ्गसमबलमित्यर्थः । अपरे—नारदाद्याः पञ्चाङ्गाद्विगुणबलयुक्तमाहुः
पञ्चाङ्गस्य यत् समुदितं बलं तस्मात् द्विगुणं लग्नस्य बलमाहु-
रित्यर्थः । ग्रहः षडङ्गात् प्रबल इत्यविकल्पं सर्वमुनिभिरुक्तः समु-
दितात् षडङ्गबलादपि ग्रहस्यैवाधिकबलमिति सर्वेषां मुनीनां मत-
मित्यर्थः । अत्र भरद्वाजः—

लग्नं तैः सदृशं विद्यात् सर्वेषामधिको ग्रहः ।

ग्रहादन्यत्र विद्येत लोकेषु हि शुभाशुभे॥

तैः—तिथ्यादिभिरित्यर्थः । नारदश्च—

तिथिरैकगुणो वारो द्विगुणस्त्रिगुणं च भम् ।

योगश्चतुर्गुणः पञ्चगुणं तिथ्यर्धसंज्ञितम् ॥

ततो मुहूर्तो बलवान् ततो लग्नं बलाधिकम् ।

इति । उक्तं ग्रहराश्यादिप्राबल्यं दूषयति—

प्राबल्यमुक्तमृषिभिर्यदिह ग्रहादे-

रङ्गीकृतेऽत्र पतितोऽयमतिप्रसङ्गः ।

सद्धारयोगतिथिराशिमुहूर्तयोगात्

कार्यं भवेदविहितेऽप्युदुनीष्टकार्यम् ॥ ९ ॥

इहर्षिभिर्यद्ग्रहराश्यादीनां प्राबल्यमुक्तं तदङ्गीकरणे अयम-
तिप्रसङ्गः प्राप्य इत्याह सद्धारेति । यदि नक्षत्रात् ग्रहराश्या-

दयः प्रबलाः तर्हि तत्प्राबल्यात् शुभवारयोगतिथिराशिमात्रयोगादे-
वानुक्तेऽपि दुष्टे नक्षत्रे शुभकार्यं कार्यं स्यात् । कृते को दोषः ?
कार्यहानिः स्यात् । स्यादेतत्—अनुक्ततिथिराश्यादिषु कृतस्य
कर्मणो हानिः केन वार्यते, तदपवादगुणैरिति चेन्न, नक्षत्रेऽपि
तथा किं न स्यादिति, उच्यते, नक्षत्रस्य तिथ्यादिवदपवादगुणो न
कश्चिद्दृश्यत इति अनिष्टमासज्यत एव । तदनिष्टपरिहाराय बहुसं-
मताद्राश्यादिप्राबल्यात् ताराप्राबल्यमेव प्राधान्येन ग्राह्यमित्याह—

वदन्तु कामं बहुधा मुनीन्द्रा

ब्रूमो वयं चैतदिहोपपन्नम् ।

षडङ्गमध्ये प्रबलैव तारा

ग्रहेण तुल्या ग्रहतोऽधिका वा ॥ १० ॥

स्वस्वमतप्रतिष्ठापनाभिनिविष्टबुद्धयो मुनीन्द्राः कामं भवि-
ष्यदनिष्टप्रसङ्गं निरूप्य तिथेर्वारस्य राशेर्वा प्राबल्यं वदन्तु । वयं
तु ताराचन्द्रमसोः पर्यायप्राबल्यकथनेन तयोर्बलसाम्यमनुमन्यमानानां
मुनीनामभिप्रायं विजानाना मुक्तमेवेह ब्रूमः । किं तद्युक्तमित्यत्राह—
षडङ्गमध्य इति । राश्यादीनां तिथ्यन्तानां षण्णां मध्ये तारा
बलवत्येव । अपि तु ग्रहेण तुल्यबला ग्रहादधिकबला वा । न ततो
हीनबलेत्यर्थः । एतदुक्तं भवति—राश्यादिभ्यो नक्षत्रस्यैव प्राब-
ल्यम् । क्वचित् ग्रहादपि यथा कृष्णे चन्द्रात् । क्वचित् ग्रहेण
समबलत्वं स्यात् । अथ षडङ्गात्तारा बलाब्धेत्यत्रैतिह्यमाह—

अनिष्टयोगे निशि पापवारे

सिताष्टमीविष्टियुतेऽपि धातृभे ।

मृगे विलम्बे सगुरुदये क्वचित्
विवाहमाहुर्ग्रहतारकाबलात् ॥ ११ ॥

अनिष्टयोग इह विष्कम्भारूयो नित्ययोगः, पापः—कुजः
तस्य दिनं न त्वर्काक्योः, तयोः क्वचित् विधानात् । विष्कम्भयोगे कुज-
दिने रात्रौ शुक्लाष्टम्यां विष्ट्यां रोहिणीनक्षत्रे मकरलग्ने गुरा-
वुदयति क्वचिद्देशे ग्रहतारयोरेव बलात् विवाहमाहुः । राश्यादौ
षडङ्गेऽनुक्तेऽपि तत्तदपवादैरदुष्टाभूते विहिततारायां गुरुदये वि-
वाहं कुर्वन्तीति ताराग्रहयोरेव प्रावल्याभिधानं युक्तम् । नन्वत्र
ग्रहोदयबलात् विवाहो दृष्टः न ताराबलादिति यो मन्यते तं प्रत्याह—

तिथ्यादिष्वपि मध्यमेषु विबले लग्ने विहीने
शुभैः पाथोनेऽपि विधेरुदुन्युदुबलादृष्टो विवाहः
क्वचित् । तिथ्यादौ शुभदे शुभोदययुते लग्नेऽपि
काश्चिच्छुभं त्याज्यर्क्षे न करोति विस्फुटमतस्सर्व-
त्र ताराबलम् ॥ १२ ॥

तिथिवारयोगकरणेषु मध्यमेषु । सतां तेषां दौर्बल्यमसतां
सापवादत्वं मध्यमत्वम् । यद्वा विधिनिषेधवर्जितत्वं मध्यमत्वं
विधेरुदुनि—रोहिणीनक्षत्रे विबले—कालदृष्टिबलहीने शुभोदयरहिते
पाथोने—कन्यायां लग्ने उडुबलात् उडुबलमाश्रित्य क्वचिद्देशे विवाहः
कृतो दृष्टः । उडुबलादिति ल्यबलोपे पञ्चमी, एतदुक्तं भवति—
कार्तिके कृष्णप्रतिपदि मन्दवारे रात्रौ रोहिण्यां नक्षत्रयोगे बाल-
करणे कन्यालग्ने ग्रहेषु लग्नास्ताम्यामन्यत्र स्थितेषु विवाहं कु-

र्वन्ति । स च राश्यादीनामौपसर्जन्यात् मध्यमेष्वपि तेषु प्रधानं ताराबलमेवाश्रित्य कृत इत्येवं विधिमुखेन ताराबलप्राधान्यमुक्त्वा प्रतिषेधमुखेनापि दर्शयति—तिथ्यादाविति । तिथ्यादिषु शुभेषु ग्रहोदययुते लग्नेऽपि त्याज्यनक्षत्रे न कश्चिद्विवाहादि करोति । तथा हि—वैशाखे शुक्लदशम्यां गुरुवारे ध्रुवयोगे गजकरणे दिवा मिथुनलग्ने गुरुद्वयेऽपि पूर्वफलगुनीनक्षत्रे विवाहं न कुर्वन्ति । स च राश्यादेरप्राधान्यात् तेषु शुभेष्वपि प्रतिषिद्धमे न क्रियत इति तारैव प्रधानम् । अतः सर्वशास्त्रे लोके च ताराबलं विस्फुटं विशेषेण व्यक्तम् ।

अथ यः कश्चिदिह मन्यते तिथ्यादेस्त्याज्यत्वमपवादैर्यथा बाध्यते तथा भस्य किं न स्यादिति । तं प्रत्याह—

यथा निहन्ति प्रबलो गुणोऽन्यः

त्याज्यत्वदोषं तिथिवासरादेः ।

तथैव कश्चिन्न हि तारकायाः

ततश्च नक्षत्रबलं प्रसिद्धम् ॥ १३ ॥

अन्यो ग्रहादिसंभूतः प्रबलोऽपवादाख्यो गुणस्तिथिवारादीनां त्याज्यदोषं यथा बाधते तथा नक्षत्रस्य त्याज्यत्वदोषबाधकः कश्चन गुणो न दृश्यत इति । ननु यदि तिथ्यादिबलक्षत्रमप्यप्रधानं तर्हि तद्दोषोऽप्यन्यदोषवत् गुणान्तरेण बाध्येत । न च बाध्यते । अतः तिथ्यादिभ्यो नक्षत्रस्यैव प्राधान्यं सिद्धमिति । यद्यपीह नक्षत्रस्यैव प्राबल्यमभ्यधायि तथाऽपि राश्यादिप्राबल्यमपि बहुमुनिसंमतं क्वचिदुपयुज्यत इति तेषां विषयविभागमाह—

यन्नक्षत्रबलं मया निगदितं ग्राह्यं मुहूर्तेषु तत्
ज्ञेयं नष्टविचिन्तितादिकथने राशिग्रहाणां बलम् ।
पञ्चाङ्गादपि जातकेष्वतिबलो राशिस्ततोऽपि ग्रहो
योगास्स्युर्ग्रहतोऽधिका धुरधुराराजाधियोगादयः ॥

यन्नक्षत्रबलमिह मया स्फुटमुक्तं तन्मुहूर्तेषु ग्राह्यं, राशयश्च
ग्रहाश्च राशिग्रहाः तेषां वञ्चं नष्टद्रव्याणां विविधचिन्तितानां ।
आदिशब्दान्मुष्टिगतवस्तूनां च कथने ग्राह्यं ज्ञेयम् ।

यद्वा ^१नष्टजातकविनोदचिन्तादिसदसत्फलकथन इति । अत्र
तारायाः प्राबल्यं नेष्यते, राशिग्रहैरेव देशकालद्रव्यगुणादिनिरूपणात् ।
तेष्वपि संयोगे राशिभ्योऽपि ग्रहाणां प्राबल्यम् । संयुक्तराशीनां
स्वातन्त्र्येण फलप्रदानायोगात् ॥

अंशकात् ज्ञायते द्रव्यं द्वेक्काणैस्तस्कराः स्मृताः
राशिभ्यः कालदिदेशाः ।

इत्यादिकमसंयुक्तराशिविषयम् । ननु जातकेषु सप्ताङ्गेन
शुभाशुभनिरूपणात् तेषां बलसाम्यं स्यादित्यत्राह—पञ्चाङ्गादपीति,
जन्मनि तत्कालात् शुभाशुभनिरूपणा जातकम् । तच्च त्रिविधं—
ज्ञातजातकं नष्टजातकं प्रक्षज्जातकं चेति । तेष्वपि पञ्चाङ्गाद्वा-
शिरतिबलः । पञ्चाङ्गेनेह कतिपयगुणमात्रं निरूप्यते । राशीनां-
गुणाः शुभाशुभदशाफलानि च निरूप्यन्त इति । ततो राशेरपि
ग्रहो बलवान्, स्वातन्त्र्येण फलप्रदानात् । नक्षत्रादिशुभाशुभ-
ज्ञापनाच्च । ग्रहादपि योगाश्च नाभिसाद्या अधिकाः स्युः, बले-
नेति शेषः । अशुभदस्यापि ग्रहस्य योगेन शुभप्रदानाद्योगस्यैव

^१ नष्टजातके विनोदचिन्तायां अत्रादि सदसत्प्रश्नकथन इति.

प्राबल्यम् । उक्तं च—

न तिथिर्न च नक्षत्रं न लग्नं नापि च ग्रहाः ।

योगमेव प्रशंसन्ति वसिष्ठात्रिपराशराः ॥

इति । ग्रहादुर्बलानां वारक्षयोगादीनामपि योगत्वात् बलाधिक्यं स्यादित्याशङ्क्य विशेषणमाह—धुरधुराराजाधियोगादयः इन्दोरुभ्यस्थैस्ताराग्रैर्धुरधुरायोगः । त्र्याद्यैरुच्चस्थै राजयोगः । चन्द्रलग्नाभ्यां षट्सप्तमाष्टमैरभियोगः । एतत् प्रतीकदर्शनम् । आदिग्रणात् आश्रयनाभसादिसंज्ञाः सर्वे योगा गृह्यन्ते । तेन जातके मुहूर्ते अन्यत्र च राश्यादिभ्यो ग्रहो बलवान् ग्रहाद्योगा बलिनस्युः । तिथिवारक्षयोगानामपि पञ्चाङ्गात्प्राबल्यं सिद्धम् । तेषामन्योन्यसंपाते बलबलमाह—

योगद्वये विप्रतिषेधयुक्ते

वारोद्भवस्तिथ्युदुजाह्वलिष्ठः ।

वारक्षयोगस्तिथिवारयोगात्

तेषु त्रिषु द्वौ सदृशौ बलाढ्यौ ॥ १५ ॥

प्रागुक्तेषु तिथिवारक्षयोगेषु शुभाशुभाख्ये योगद्वये विप्रतिषेधयुक्ते तुल्यबलविरोधो विप्रतिषेधः । तेन युक्ते शुभाशुभाख्ययोगद्वये युगपत् प्राप्ते सतीत्यर्थः । तिथिनक्षत्रयोगात् वारोद्भवः वारेण अन्यस्य तिथेर्भस्य वा योगः वारतिथियोगो वारक्षयोगो वा बलीयान्, तयोश्च तिथिवारयोगो बलीयानिति सिद्धमेव । तेषु तुल्यबलेषु सदृशौ सजातीयौ शुभावशुभौ वा द्वौ भलाढ्यौ अन्योऽपि सदृश एको दुर्बल इत्यर्थः ॥

एतदेव स्पष्टयितुमुदाहरणान्याह—

योगौ द्वौ रविजाष्टमीद्रुहिणभैः सिद्धो बला-
ढ्यस्तयोः द्वौ पूर्णागुरुरोहिणीभिरुदितौ नाशा-
ढ्योऽत्राधिकः । स्याद्योगत्रितयं शुभाशुभफलं
मैत्रद्वितीयाबुधैः वीर्याढ्यावशुभौ शुभोऽत्र विव-
लः सर्वत्र चैषा गतिः ॥१६॥

मन्दाष्टमीरोहिणीभिः द्वौ नाशासिद्धाख्यौ यागौ स्तः । अष्ट-
मीरोहिणीभ्यां नाशाख्यः, मन्दरोहिणीभ्यां सिद्धाख्यः । तयोस्सिद्धो
वारक्षयोगो बलवान् । नाशः तिथ्युद्भूयोगाद्बलः । पूर्णागुरुरोहिणी-
भिर्द्वौ सिद्धनाशाख्यौ । गुरुपूर्णाभ्यां सिद्धः । गुरुरोहिणीभ्यां नाशः ।
अत्रानयोर्नाशाख्यो वारक्षयोगोऽधिकबलः । मैत्रद्वितीयाबुधैः योग-
त्रितयं स्यात् । बुधानूराधाम्भ्यां सिद्धाख्य एकः शुभः । मैत्रद्विती-
याम्भ्यां नाशाख्यः, बुधद्वितीयाम्भ्यां दग्धाख्यः इति द्वावशुभौ ।
अत्रैष्वशुभौ बलाढ्यौ शुभो दुर्बलः । अत्र संख्याबाहुल्यादशु-
भयोः प्राबल्यम् । शुभस्य संख्याहीनत्वादौर्बल्यम् । स्यादेतत्—
संख्याबाहुल्यात् प्राबल्यमिति ।

न संख्याभिः बलं चिन्त्यं गुणदोषेषु सूरभिः ।
इति वचनात् । नैतत्सारं, विजातीयगुरुगुणदोषविषयत्वात् प्रति-
षेधस्य, येऽत्र सजातिया गुणदोषास्तेषां संख्याबाहुल्यात् प्राब-
ल्यम् । संख्यासाम्ये अत्र वचनात् संयोगितारादिसंख्यावशाच्च ।
यथा द्वियोगजात् त्रियोगजो बली । यथा रविषष्ठीकृत्तिकाभिः
द्वौ योगौ । रविषष्ठीभ्यां नाशारूपः । रविषष्ठीकृत्तिकाभिर्वराख्यः ।

तयोर्वरयोगो बलाढ्यः, अनुक्ते सर्वत्रैषा गतिर्ज्ञेया । दिङ्मात्रामिहोदाह-
तम् । अनुक्तेषु पञ्चाङ्गयोगेषु सर्वेष्वेवं बलाबलवत्त्वं द्रष्टव्यमित्यर्थः ।
अथ राश्यादिबलमाह—

द्रेक्काणमाहुर्भवनाद्वलिष्ठं
ततोऽशमंशादपि कालहोराम् ।
एषां निसर्गाद्वलिमेतदस्य
क्षयोदयौ स्वामिवलानुरूपौ ॥१७॥

राशेर्द्रेक्काणं बलिष्ठमाहुः । द्रेक्काणान्नवांशं, नवांशात्कालहो-
रां बलाढ्यां मुनय आहुः । एतदुक्तं बलं राश्यादीनां निसर्गसिद्धं नैसर्गि-
कं बलमित्यर्थः । उक्तं च—

राशेर्बलदयो द्रेक्काणो द्रेक्काणादंशको बली ।
अंशकाद्वलिनी कालहोरा तामेव योजयेत् ॥

इति । तत्तद्वाश्यादिस्वामिबलवशात् नैसर्गिकस्य क्षयोदयौ ह्यासवृद्धी
स्तः । एवं दुर्बले बलाढ्ये राश्यादिनैसर्गिकादधिकबलः स्यात् । तस्मिन्
दुर्बले नैसर्गिकाद्धीनबल इत्यर्थः । इह स्वामिबलग्रहणमुपलक्षणं
स्थानादिबलस्य । अथ राशिबलानां मतभेदेन परिगणनमभिदधत् तद-
भिधानं प्रतिजानीते—

यत् स्थानदृष्ट्युदयकालभवं च राशेः
उक्तं वराहमिहिरेण बलं चतुर्धा ।
यच्छ्रीपतिश्च तदधीश्वरवीर्ययुक्तं
पञ्चप्रकारमवदत्तदिहाभिदध्मः ॥१८॥

स्थानजं दृष्टिजं उदयजं कालजं चेति चतुर्विधं राशे-
र्बलं वराहमिहिरेणोक्तं । श्रीपतिश्च तदेव चतुर्विधं बलं स्वामि-
वीर्येण सह पञ्चविधमवदत् । तदुभयमतानुगतं राशिवलमिह शास्त्रे
वयमभिदध्मः ब्रूमः । आत्मानि बहुवचनम् ।

स्थानादिवलान्याह—

व्योमस्थाश्चतुरङ्गयो जलचरास्तोये द्विपादस्तनौ
कीटस्थे निखिलाश्च केन्द्रानिरताः स्युः स्थानवीर्या-
न्विताः । वीर्यं दृष्टिभवं ज्ञजीवपतिभिर्दृष्टस्य ल-
ग्नस्य तैः युक्तस्योदयजं च शुक्रशशभृद्योगाच्च
कैश्चित्समृतम् ॥१९॥

दिवा द्विपादः पशवो निशायां
सन्ध्याद्वये वारिचराः सकीटाः ।
बलाधिकास्स्युः क्रमशोऽथ पृष्ठ-
मूर्धोदयानां निशि वाऽह्नि वीर्यम् ॥२०॥

चतुष्पदसंज्ञा राशयो दशमस्थानगताः । जलचरसंज्ञाश्चतुर्ये,
द्विपादो नरसंज्ञाः लग्ने स्थिताः स्थानवीर्ययुताः स्युः । कीटः
सप्तमस्थाने बलवान् स्यात् । एते चतुष्पादादिराशयः स्वस्थानेषु दश-
मादिषु स्थिताः संपूर्णबलाः । तदनन्तरराशिषट्के अनुपातात्त-
बलाश्च स्युः । अत्र वराहमिहिरः ।

कण्टककेन्द्रचतुष्टयसंज्ञाः सप्तमलग्नचतूर्यस्वमानाम् ।

तेषु यथाऽभिहितेषु बलाढ्याः कीटनराम्बुचराः पशवश्च ॥

इति । अत्रायमनुपातः—द्विपदादिराशीनां लग्नादिषु रूपं बलं । तत् सप्तमे शून्यं । तन्मध्ये तद्वाशिभावं स्वबलशून्यस्थानभावाद्विशोध्य शिष्टं षड्भाषिकं चक्रान्निपानितं लिप्तीकृत्य चक्रार्धलिप्ताभिज्ञानजनकैः विभज्य आप्तं बलमिति । अपि च सर्वे चतुष्टयेऽपि राशयः केन्द्रस्थाः स्थानवीर्ययुक्ताः स्युः । केन्द्रे रूपं बलं । पणपरे अर्धं । आपोऽस्त्रिमे पाद इत्यर्थः । एवं राशीनां द्वितयं स्थानबलं । तेन द्विपदादीनां लग्नादिषु रूपद्वयं बलम् । सप्तमे रूपं । दृष्टिबलमाह—वीर्यं दृष्टिभवमिति । बुधगुरुस्वपतिभिर्दृष्टस्य लग्नस्य राशेः दृष्टिबलं स्यात् । तच्च लग्नादिराशी दृश्यं परिकल्प्य ज्ञजीवपतीनां गणितानीतदृष्टितुल्यम् । अथ तैर्बुधजीवपतिभिः युक्तस्य राशेरुदयजं बलं स्यात् । तच्च तेषामुदये रूपम् । सप्तमे न किञ्चित् । मध्ये अनुपाताप्तं भवति । अथ शुक्राक्षीणचन्द्रयोर्योगात् उदयबलं । चक्रान्तरात्तदृष्टे दृष्टिबलं च स्यादिति कैश्चिदुक्तं । तद्दृष्ट्युदयबलयोश्चतुर्भाग एव ग्राह्यः । यच्छीपतिः—

शुभावलोकिते पुनस्तदीयदृष्टिपादयुक् ।

इति । ननु प्राग्राशीनां ग्रहतन्त्रत्वमुक्तम् । इह तु ग्रहयोगेक्षणान्भ्यां प्राबल्यमभ्यधायीति विरोधः, न, पूर्वं ग्रहयोगेक्षणान्भ्यां राशीनां स्वभावविपर्यास एवोक्तः । न तु दौर्बल्यमिति । कालबलमाह—द्विपदाद्वाशयो दिवा मध्याह्ने बलाढ्याः, चतुष्पाद्वाशयो निशायां मध्यरात्रे, जलचराः प्राक्सन्ध्यायां, कीटः पश्चिमसन्ध्यायां बलाढ्यः । एते द्विपदादिराशयः स्वकाले बलाढ्याः । ततः त्रिशद्वटीव्यवच्छिन्ने काले दुर्बलाः । तदनन्तरे अनुपातस्तबलाः । यथा द्विपदाद्वाशयो मध्याह्ने रूपबलाः, निशीथे व-

लहोनाः, तन्मध्ये द्विप्रोन्नतघटीषष्ठचंशतुल्यबलाः, एवमन्येऽप्यूहाः ।

अत्र वराहमिहिरः—

होरास्वामिगुरुज्ञवीक्षितयुता नान्यैश्च वीर्योत्कटा

केन्द्रस्था द्विपदादयोऽहि निशि च प्राप्ते च सन्ध्याद्वये ॥

इति । अथशब्दः प्रकारान्तरारम्भार्थः । पृष्ठोदयानां निशि बलम् ।
मूर्धोदयानामहि । चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, तेन मिथुनस्य मूर्धोद-
यस्यापि निशि बलं स्यात् । यत उक्तं संज्ञाध्याये—

धनुःप्रथमकर्कटौ वृषमृगौ च पृष्ठोदयाः

त एव सयमा निशाबलभृतः ॥

इति । मीनस्योभयोदयत्वात् सर्वदा रूपबलवत्त्वं सिद्धम् । अत्रानुपातः
प्राग्वत्कल्प्यः । इदं च कालबलम् । एवमेतानि स्थानदृष्ट्युदयकाल-
जनीचत्वबलानि वराहमिहिरसंमतानि—

अथ श्रीपतिसंमतं स्थानबलमाह—

लग्नं लग्नपतौ बलेन सहिते तत्तुल्यवीर्यं स्मृतं
तत्रैवोपचयस्थिते च यदि तद्वीर्योत्कटं जायते ।

पापारातिविलोकनाद्युदययोः लग्नेश्वरे दुर्बले
वीर्ये दृष्ट्युदयोद्भवे च रहिते लग्नं स्मृतं दुर्बलम् ॥

लग्नाधिपे बलाढ्ये सति लग्नं तत्समवीर्यं स्यात् । वक्ष्यमाण-
स्वाधिपतिग्रहबलसदृशसङ्ख्यं बलं प्रागुक्ते लग्नबले योज्यमित्यर्थः ।

तथा च श्रीपतिः—

लग्नस्यापि स्वामिवीर्यं हि वीर्यम् ।

अपि च तल्लग्रं स्वाधिपतावुपचयस्थिते सति बलाधिकं स्यात् ।
 लग्नग्रहणमुपलक्षणं धनादिभावानां । तेन तेषामप्येवं बलानयनं
 व्यतिरेकसिद्धम् । दौर्बल्यमाह—पापारातीत्यादिना—पापाः स्वस्वामि-
 व्यतिरिक्ताः । अरातयः स्वस्वामिशत्रवः । तेषां दृष्ट्युदययोः सतोः
 स्वाधिपे ¹दुर्बलग्रहदृष्टियोगकृते दृष्ट्युदयबले च असति चकारात्का-
 लजबले च असति राशिर्दुर्बलो भवति । पापदृष्टे तद्दृष्टिचतुर्भागतुल्यं
 बलं हीयते । यच्छ्रीपतिः—

असाधुना विलोकिते तदङ्घ्रिणा विवर्जितम् ।

इति । शत्रुदृष्टे च तद्वत् । युतिदृष्ट्योस्तुल्यत्वात् तद्योगे ²विरूपबला-
 दहीनं स्यात् । स्वाधिपे दुर्बले तद्वलहीनम् । तथा च संग्रहे—

लग्ने नीचारिराशौ स्थितवति विरुचौ चारिदृष्टे स्वनाथे

वर्गस्थे निष्फलास्त्युर्विकल्पतिवती स्त्री यथा निर्गतश्रीः ॥

इति । ननु ग्रहदृष्ट्युदयाभावे तद्वलभावः सिद्धः । किं पुनर्वचनेनेति,
 अत्रोच्यते—पापदृष्ट्यादिदौर्बल्योपाधिमतो लग्नस्य शुभेक्षणादिप्राब-
 ल्योपाधौ सति मध्यबलत्वम् । तस्मिंश्चासति दौर्बल्यमेव स्यादिति द्यो-
 तनार्थं होरादिवर्गस्यापि स्वाधिपतिवशात्प्राबल्यम् । नैसर्गिकं तु
 नारदेनोक्तम् ॥

लग्नात्तु बलिनी होरा द्रेक्काणोऽतिबली ततः

ततो नवांशो बलवान् द्वादशांशो बली ततः ।

त्रिंशांशो बलवान् तस्मात् वीक्षयेत् बलाबलम् ॥

इति । स्थानादिबलं तु राशिवत् द्रष्टव्यम् । ननु होरादीनां कथं
 राशिवत् बलम् । अत्रोच्यते—नवांशद्वादशांशानां राशिवत् बलं ।

¹ दुर्बलग्रहदृष्टियोगकृते.

² विरूपबलं पादहीनं.

होरात्रयंशं त्रिंशांशानां ^१राशिनिबन्धनाभावात् स्वस्वामिबलमेव ग्राह्यम्,
अत्र केचित् षड्वर्गे नवांशमेव बलाधिकमाहुः ।

एवं षडङ्गबलमभिधाय ग्रहबलमाह—

**मन्दभूमिसुतविद्रुखशानश्चन्द्रचण्डमहसां निस-
र्गजम् । अस्ति वीर्यमधिकाधिकं क्रमात् वीर्यवृ-
द्ध्युपचयावधिस्तु तत् ॥२२॥**

मन्दादिसूर्यान्तानां क्रमेणोत्तरोत्तरमधिकं बलमस्ति । तच्च रूप-
सप्तांशतुल्यं, मन्दस्य तावेदेव । कुजस्य तावदधिकमित्यादि, तथा च
श्रीपतिः—

मन्दावनीसूनुशशाङ्कपुत्रा वागीशसूर्येन्दुदिवाकराणाम् ।

एकोत्तरं रूपमगौर्विभक्तं नैसर्गिकं वीर्यमुदाहरन्ति ॥

तन्नैसर्गिकं बलं तेषां चेष्टादेर्वीर्यस्य वृद्धेर्ज्ञप्तिरस्य च अवधिभूतं,
तात्कालिकं चेष्टादि बलं नैसर्गिकाद्वर्धते । ततो हसति चेत्यर्थः ।
बलसङ्ख्यापरिमाणे प्राह—

**नैसर्गिकादुपरि चेष्टितकालदृष्टिदिक्-
स्थानोद्भवानि विहगस्य बलानि पञ्च ।
चत्वारि पूर्वमुदितानि बलस्य पादाः
संपूर्णमन्यदपरे बलसाम्यमाहुः ॥२३॥**

नमस्य(?) ^१नैसर्गबलमवधितुल्यं । ततः परं चेष्टाकालदृष्टिदि-
क्स्थानजानि बलानि पञ्च स्युः । तानि नैसर्गिकेण सह षड्बलानि ।
तथा च श्रीपतिः—

तत्स्थानादिक्कालनिसर्गचेष्टादृग्भेदशून्यं कथयाम्यशेषम् ।

^१ त्रिंशांशानां ताराबलतः राशि. ^२ नैसर्गबलमवधीकृत्य.

षड्भाषिकं चक्राक्षिपात्य कलीकृत्य ज्ञानजनकैर्द्व(त्वा)तं आप्तं बल
पक्षबलं । तच्च द्विघ्नं कार्यम् । अत्र श्रीपतिः—

द्विघ्नं भानोरयनजबलं पक्षवीर्यं तथेन्द्रोः ।

इति । कुजादीनां जयाजयौ योगकाले वेदितव्यौ । तल्लक्षण-
मुक्तं^१ वराहमिहिरेण—

दक्षिणदिक्स्थः परुषो वेपथुरप्राप्य सच्चिवृत्तोऽणुः

अधिरूढो विकृतो निष्प्रभो विवर्णश्च यस्स जितः ।

उक्तविपरीतलक्षणसंपन्नो जययुतो विनिर्दिष्टः

विपुलस्त्रिगुणो द्युतिमान् दक्षिणदिक्स्थोऽपि विजययुक्तः ॥

इति । शुक्रस्य जय एव । यदुक्तं सूर्यसिद्धान्ते—

उदक्स्थो दक्षिणस्थो वा भार्गवः प्रायशो जयी ।

इति । योगिनौ ग्रहौ समलिप्तीकृत्य तयोर्विक्षेपावानीय तयोर्दि-
क्साम्ये^१ अन्तरदिग्भेगेदयोगो विम्बान्तरं स्यान्, तात्कालिकयो-
स्तयोः स्थानदिक्कालबलानि पृथक् संपिण्ड्य तदन्तसं विम्बा-
न्तरेण हत्वा आप्तं विजयिनो बलम् । विजितस्य बलहानिः
वक्त्रे तु स्फुटमध्यमान्तरदलसंस्कृतात् स्वशीघ्रोच्चात् ग्रहं विशोध्य
शिष्टं लिप्तीकृत्य ज्ञानजनकैराप्तं बलं रूपाधिकं रूपाद्विगुद्धं बलं ।
समागमे चन्द्रग्रहयोरासत्तिमतोर्विम्बान्तरमुक्तवन् प्रसाध्य तेन तयोः
स्थानादिबलपिण्डान्तरं हत्वा आप्तग्रहस्य बलं, वक्राद्युद्भवेऽपि विपुल-
तेजस्वे रूपं बलम् । कालबलमाह—

वीर्यं व्युत्क्रमवृद्धिमत्समयजं स्वैः कालहोरा-
दिनैः मासाब्दैरथ पक्षयोर्वलयुताः सन्तो ग्रहाश्च

^१ अन्तरं दिग्भेदे योगो विम्बान्तरं.

शुद्धे शुभाः, कृष्णे पापा इत्यर्थः । तथा च श्रीपतिः—

वल्क्ष्मणक्षे शुभखेचराणां पापग्रहाणामसिते च पक्षे ।

इति । चन्द्रवदानीतं पक्षबलं शुभं, तदेव रूपाद्विशुद्धं पापानामिति सिद्धम्, क्षीणचन्द्रस्तु पापेषु न गृह्यते । दृग्बलमाह—दृग्बलमित्यादिना । शुभदृष्टस्य ¹दृश्यग्रहस्य तद्दृष्टग्रहदृष्टिसमसङ्ख्यं दृष्टिजं बलमस्ति । तथा च यवनेश्वरः—

सौम्यैस्तु दृष्टो बलवान् सदैव ।

इति । पापदृष्टस्य तद्दृष्टिसमं बलं भवतीति सिद्धम् । यद्वसिष्ठः—

पापग्रहेण संदृष्टो युक्तश्च यदि चेच्छुभः ।

बलं नश्यति नित्यं वै तथैव च शुभेतरः ॥

इति । तद्दृष्टितुरीयांशसमं दुर्बलमिति श्रीपतिः—

यदा सौम्यैर्दृष्टितुर्यांशयुक्तं

वीर्यं पापालोकिते तद्विहीनम् ।

तच्च दृग्बलं सङ्ख्यामात्रेण कृतमुत्कटं प्रभूतं स्यात् । तथा चोक्तं—

मित्रक्षेत्रगताश्चैव ग्रहा मित्रनिरीक्षिताः ।

मित्रवत् कुर्वते कार्यं प्रबलाश्च भवन्ति ते ॥

अथादेव शत्रुणा कृतं दृग्बलमल्पं स्यादिति सिद्धम् । यद्भरद्वाजः—

शत्रुक्षेत्रगताश्चैव ग्रहाः शत्रुनिरीक्षिताः ।

शत्रुवद्दते कार्यमल्पवीर्या भवन्ति ते ॥

इति । अयमत्रार्थः—शुभेन दीयमानं दृग्बलं मित्रेण द्विगुणं ।

शत्रुणा न वर्धते । पापेनापचीयमानं शत्रुणा द्विगुणं हीयते ।

मित्रेण नापचीयत इति । दृग्बलमाहार्षेन—

प्रागादिलग्रगतराशिषु वीर्यवन्तौ जीवेन्दुजौ रविकुजौ शनिरिन्दुशुक्रौ ॥

प्राङ्मध्यास्तपाताललग्नगतेषु उदयदशमसप्तमचतुर्थराशिषु क्र-
मेण पदपरिमिता जीवबुधादयो बलिनस्स्युः । उदये जीवबुधौ ।
दशमे रविकुजौ । सप्तमे मन्दः । चतुर्थं चन्द्रशुक्रौ । तथा च
वराहमिहिरः—

दिक्षु बुधाङ्गिरसौ रविभौमौ सूर्यमुतः सितशीतकरौ च ।
इति । अत्रायमभिप्रायः—यस्मिन् स्थाने यो ग्रहः पूर्णबलः स
तस्मात्सप्तमे बलहीनः । तदन्तरे अनुपातात्तबलः, उक्तं च श्रीपतिना—

अर्कात्कुजाच्चास्वगृहं विशोध्य
जीवाद्वुधाद्वाऽपि कलत्रभावम् ।
मेषूरणं भार्गवचन्द्रमोभ्यां
प्राग्लग्रमुष्णांशुमुतावशेषम् ॥

इति—

षड्भाधिकं चेत् भगणाद्विशोध्य
कलीकृतं खाभ्रगजाभ्रभूभिः ।
भवेदवाप्तं तु ककुब्बलं स्यात् ॥

इति । स्थानबलमाह परार्धेन—

स्थानोद्भवं तु बलमात्मनवांशतुङ्ग- मूलत्रिकोणनिजराशिसुहृद्गृहेषु ॥

ग्रहाणां स्वनवांशे स्वोच्चस्वमूलत्रिकोणराशौ स्वक्षेत्रमित्रगृहे
च तिष्ठतां तत्स्थानाश्रयजातं बलं स्यात्, तथाच वराहमिहिरः—

स्वोच्चसुदृत्स्वत्रिकोणनवांशे स्थानबलं स्वगृहोपगतैश्च ।
इति । अत्र नवांशग्रहणमुपलक्षणं होरादिवर्गस्य, तत्र स्वक्षेत्रवत् बलं
स्यात् । क्वचिन्मित्रनवांशादिष्वपि मित्रग्रहवत् बलमाहुः । मित्र
स्वत्रिकोणोच्चराशिषु पादाभिवृद्धं बलं स्यात् । तत्र उच्चबलं स्वोच्चे
पूर्णं । नीचे शून्यम् । तदन्तरे अनुपातप्राप्तं । उक्तं च श्रीपतिना—

नीचोनो द्युचरोऽधिको यदि भवेत् षड्भात्ततः प्रच्युतः
चक्रार्धाप्तकलः खखाष्टककुभिर्भक्तो बलं तुङ्गजम् ।

इति । त्रिकोणादिषु नियतमेव । यत् श्रीपतिः—

पादोनं तु बलं त्रिकोणगृहगे स्वर्क्षे दलं च त्रयो
वस्वंशास्त्वधिमित्रमे च चरणो मैत्रे समर्क्षेऽष्टमम् ।

इति । शत्रुभेऽपि किञ्चिद्वलमस्तित्याह श्रीपतिः—

शत्रुमे भवति षोडशांशकं
चाधिशत्रुभवने रदांशकः ।
एवमेव खलु सप्तवर्गजं
स्याद्वलं निजपतेर्वशादिह ॥

इति । अत्र होरादिषट्क एतदाधिपत्यनिमित्तबलस्योक्तत्वादुच्च
त्रिकोणयोः तदभावात्तद्वलं न स्यात् । तेन स्वामिमित्रशत्रुत्व
कृतमेव वर्गबलं ग्राह्यम् । अथैकस्मिन् राशौ द्वित्रिनिमित्तसंज्ञि
पातात् किन्निबन्धनं बलं गृह्यत इत्यत्रोच्यते । अर्काकिंजुगुरु
शुक्राणां सिंहकुम्भमेषधनुस्तौलिषु स्वक्षेत्रत्रिकोणत्वनिबन्धनं बल
द्वयं प्राप्नोति । तत्र स्वमूलत्रिकोणभागस्थे ग्रहे त्रिकोणजं, तद
न्यांशकस्थे क्षेत्रजमिति विभागो द्रष्टव्यः । यथा सिंहे रेवेरादिते

विंशत्यंशेषु त्रिकोणजं । अनन्तरदशांशेषु स्वक्षेत्रजं बलमेवमन्ये-
षामपि ग्राह्यम् । बुधस्य षष्ठे स्वक्षेत्रोच्चत्रिकोणत्वीनवन्धनं बल-
त्रयं प्राप्नोति । तत्रादितः पञ्चदशभागेषु स्वोच्चजमेव । तदनन्तर-
पञ्चभागेषु त्रिकोणजं । तदनन्तरदशभागेषु स्वक्षेत्रजं चन्द्रस्य वृषभे
स्वोच्चत्रिकोणजं बलद्वयं । तत्रादितः त्रिषु भागेषु स्वोच्चजमेव । तदन-
न्तरेषु सर्वेषु त्रिकोणजं । स्वोच्चजं तु स्वराशित्रिकोणादिष्वपि ग्राह्यम् ।
अनुपातसाध्यत्वात् । आत्मनवांश इत्यस्यायमर्थोऽपि ग्राह्यः—
पुंग्रहे पुत्रवांशस्थे स्त्रीग्रहे स्त्रीनवांशगे पादबलं भवतीति ।

तथा च श्रीपतिः—

युग्मभांशकगतौ शशिशुक्रौ यच्छतो हि बलपादमयुग्मे ।

भांशकेऽर्ककुजजीवशनिज्ञाः तावदेव वितरन्ति हि सत्त्वम् ॥

तुशब्देनास्योक्तबलविशेषणाभिधानार्थः । तेन केन्द्रस्थेषु रूपं, पणपरे-
ष्वर्थं, आपोह्नीमस्थेषु पादः, तथा पुंग्रहे प्रथमात्रिभागस्थे षण्डग्रहे
मध्यत्रिभागस्थे स्त्रीग्रहेऽन्यत्रिभागस्थे पादः बलं स्यात् इति ।

तथा च श्रीपतिः—

कण्टकाद्युपगतेषु नियोज्या

रूपकार्धचरणानि च वीर्यम् ।

भान्तमध्यमुखगेषु च पादः

स्त्रीनपुंसकनरेषु निधेयः ॥

ति । एतानि षड्बलानि स्युः । अथ चेष्टाबलयोगेन स्थानबलस्य
वृद्धिमाह—

नीचारातिगृहेषु वक्रगमनं पुष्पाति नैसर्गिकं
वीर्यं तद्विगुणं तु मध्यमगृहे तुङ्गोपमं मित्रभे ।

स्वर्क्षेऽत्युच्चसमं भवेद्दशगुणं स्वोच्चे तदुच्चांशके
तत्रान्यैरपि संयुतं यदि बलैस्तत्स्यादनन्तं बलम् ॥

नीचराशौ शत्रुराशिषु च ग्रहाणां वक्रगमनं नैसर्गिकं बल-
माश्रयवशादपचीयमानमपि पुष्पाति वर्धयति अपचितमुपचाय्ये स्वरूपे
स्थापयतीत्यर्थः । मध्यमस्य समस्य गृहे वक्रगमनं चेन्निसर्गबलं
द्विगुणं । मित्रराशौ तुङ्गोपमं—उच्चसमं त्रिगुणमित्यर्थः । स्वरा-
शावत्युच्चवत् चतुर्गुणं स्यादित्यर्थः । स्वोच्चराशावुच्चराश्यंशे वक्र
गतिश्चेन्नैसर्गिकं बलं दशगुणं स्यात् । तत्र तदन्यैः कालबलादिभिः
संयुतं यदि स्यात्तर्हि तदनन्तममितं बलं स्यात् । स्थानबलयोगेन
नैसर्गिकस्य वृद्धिमाह—

चेष्टाद्यैर्यसदां निसर्गजबलं पादाभिवृद्धं भवेत्
द्वयभ्यस्तं निज (मित्र) वर्गमित्रगृहयोर्मूलत्रिको-
णेऽपि तत् । स्थानोत्थेन बलेन तन्निगुणितं स्वोच्चे
तदंशेऽधिकं नीचे चास्तगते तदर्धरहितं त्रयंशोनितं
शत्रुभे ॥

ग्रहाणां यन्नैसर्गिकं प्रागुक्तं बलं तदेव चेष्टादिबलैरेकैकेन
एकैकपादाधिकं भवेत् । एकेन पादाधिकं । द्वाभ्यामर्धाधिकं । त्रिभि-
स्त्रिपादाधिकं । चतुर्भिः द्विगुणाधिकं स्यादित्यर्थः । अथ स्थान-
बलेन एकेनैव निजवर्गे मित्रगृहे त्रिकोणराशौ च द्विगुणं स्यात्,
तेषु नैसर्गिकबलं समं पूर्णं स्थानबलमित्यर्थः । स्वोच्चराशौ नैस-
र्गिकं त्रिगुणं स्यात् । तत्र, स्वोच्चांशके त्रैगुण्यादधिकं चतुर्गुणं
स्यादित्यर्थः ।

अत्र गुरुः—

वक्रस्थोच्चस्थितानां तु बलं त्रिगुणितं भवेत् ।

वर्गोत्तमे स्वराशौ च स्वांशके स्वत्रिकोणभे ।

गतानां द्विगुणं वीर्यं स्वहोरायां शशीनयोः ।

इति । नीचे अस्तगते च स्वबलमर्षरहितं । शत्रुराशौ त्र्यंश-
रहितं स्यात् । तथा च गुरुः—

स्वनीचस्थे च मूढे च बलं दलमितीरितम् ।

शत्रुक्षेत्रगतानां तु त्रिभागोनं स्वकं बलम् ॥

इति । बलानां प्राधान्यौपसर्जन्ये आह—

पक्षोद्भवं हिमकरस्य विशिष्टमाहुः

स्थानोद्भवं तु बलमभ्यधिकं परेषाम् ।

तत्संप्रयुक्तमितरैरधिकाधिकं स्यात्

अन्यानि तेन सदृशानि बहूनि चेत् स्युः ॥ ३० ॥

चन्द्रस्य पक्षजं बलमेव प्रधानम् । अन्यान्यप्रधानान्याहुः ।
कुजादीनां तु स्थानजमेवाधिकं मुख्यं । तन्मुख्यं बलमन्यैः काल-
बलाभियुक्तमधिकाधिकं त्र्यधिकं स्यात् । अन्यानि बहूनि यदि
स्युः तेन मुख्यबलेन सदृशानि स्युः । एकैकानि प्रधानबलस्य पाद-
समानि चत्वारि समेतानि तत्सदृशानीत्यर्थः । मित्रशत्रुकृतप्राबल्य-
दौर्बल्यविभागमाह —

मित्रस्य वर्गे कथितं बलं यत् तत्राधिमित्रे

द्विगुणं तदाहुः । तथाऽधिशत्रावपि दुर्बलत्वं मध्य-

स्थितायामुभयं तदूह्यम् ॥ ३१ ॥

VIDYAMADAVIAM

मित्रस्य वर्गे यत् बलमुक्तं तत्राधिमित्रे सति तद्विगुण-
माहुः । तथा शत्रोर्वर्गे यद्दौर्बल्यं तत्राऽधिशत्रौ सति तच्च द्विगुणं
स्यात् । मध्यस्थतायां ग्रहस्य समत्वे तद्वर्गे तदुभयं—प्राबल्यं दौर्बल्यं
च ऊह्यं । तथा यः प्राङ्मित्रं तत्काले शत्रुः स्यात् स समः,
तस्य वर्गे सत्रचंशरूपं बलं । यश्च प्रागरिस्तत्काले मित्रं स च
समः, तस्य वर्गे षडंशो दौर्बल्यमिति । एवमविशेषेण ग्रहाणां बल-
मभिधाय अथ शुभानां विषयभेदेन बलविशेषं दर्शयति—

निःशेषदोषहरणे शुभवर्धने च
वीर्यं गुरोरधिकमस्त्यखिलग्रहेभ्यः ।
तद्वीर्यपाददलशक्तिभृतौ ज्ञशुक्रौ
चान्द्रं बलं हि निखिलग्रहवीर्यबीजम् ॥ ३२ ॥

अशेषदोषोन्मूलने शुभफलवर्धने च गुरोः सर्वग्रहेभ्योऽधिकं
बलमस्ति । बुधशुक्रौ गुरुबलस्य पादार्धवीर्यवन्तौ । बुधस्तत्पादबलः
शुक्रस्तदर्धबल इत्यर्थः । अत्र रङ्गः—

लग्नं दोषशतेन दूषितमथो चन्द्रात्मजो लग्नगः
केन्द्रे वा विमलीकरोति चरणं यद्यर्कविवाञ्च्युतः ।
शुक्रस्तद्विगुणं सुनिर्मलवपुर्लग्नस्थितश्शान्तये
दोषाणामथ लक्षमप्यपनयेल्लग्नस्थितो वाक्पतिः ॥

इति । गुरुः—

अहं शुक्रश्च चक्रऽस्मिन् शुभाय विचरावहे ।
वज्रिन् सञ्चारणाद्धोका आवयोऽशान्तिमामुयुः ॥

अन्वहं गूढचाराणां दुर्गहाणां निरीक्षणात्
 शक्तिर्ममैव विचरेद्गुरुरित्याख्यया ग्रहः ॥
 शुक्रस्यापि तथा शक्तिः खचक्रे भार्गवस्तु यः ।
 तौ यदां प्रतिदृश्येते रश्मिमन्तौ बलान्वितौ ॥
 आकाशे निर्मले रात्रौ लोकस्यातिशुभावहौ ।
 सर्वदोषहरावेतौ शुभकर्मणि पूजितौ ॥
 ताम्यामेव जगत्संपद्भवत्यशुभनाशनम् ।

इति । चान्द्रं बलं तु सर्वग्रहाणां वीर्यस्य बीजभूतं । एतदुक्तं स्यात्—
 बुधाच्छुक्रः शुक्राद्गुरुः गुरोश्चन्द्रः प्रबलः इति । उक्तमेव प्रथयति—

दोषाम्बुराशितरणाय कृपाद्रिचेताः
 पोतं ससर्ज गुरुशुक्रमयं विधाता ।
 प्राप्नोतु दोषजलराशिमनेन तीर्त्वा
 तत्तीरजानि शुभकार्यफलानि लोकः ॥ ३३ ॥

दोषसमुद्रान्तरितशुभाक्रियाफलानि स्यात् संक्रियमानानन्दष्टो-
 पायान् लोकानवलोक्य समुन्मिषत्कृपानिषिक्तचित्तः विधाता
 तेषां दोषसमुद्रोत्तारणाय गुरुशुक्रात्मकं पोतं—यानपात्रं सृष्टवान् ।
 किमर्थमित्यत्राह—शुभफलार्थी लोकोऽनेन गुरुशुक्रात्मकेन पोतेन दोष-
 समुद्रमुत्तीर्य तत्तीराजानि तस्य दोषसमुद्रस्य तीरे अन्ते गुणजा-
 तकृतानि शुभकर्मफलानि प्राप्नोतु । यथा धनवान् वणिक् जानता
 बुद्धिमता शिल्पिना सृष्टेन दारुमयेन पोतेन समुद्रमुत्तीर्य तत्तीरभू-
 मिजातानि व्यवहारफलान्यासादयति । तथा शुभाक्रियार्थिज-

दैवासादितेन गुरुशुक्रबलेन दोषसङ्घं विलङ्घ्य गुणसंपत्कृतं शुभ
क्रियाफलमासादयत्विति । इदं समस्तव्यस्तरूपकं । अनेनाशेष-
दोषोन्मूलने गुरुशुक्रयोरेव प्राबल्यमुक्तम् ॥ तथा च गुरुः—

यथा महार्णवं नौस्थो निर्भयो निस्तरेत्तथा ।

गुरुशुक्रबलैर्दोषसमुद्रं निस्तरेज्जनः ॥

तिथ्यृक्षग्रहवारादौ ये दोषाश्चोदिताः पुरा ।

ते सर्वे नाशमायान्ति जीवशुक्रेक्षणोदयैः ॥

भरद्वाजश्च—

आदौ धातृमुखाज्जातौ गुरुशुक्रौ जगद्गुरोः ।

ययोस्सञ्चरणाद्दोषाः शान्तिमामुयुरन्वहम् ॥

लग्नं गतौ शुक्रबृहस्पती यदा

बलेन युक्तौ यदि रश्मिमन्तौ ।

नक्षत्रसंपन्न परीक्षितव्या

ह्येकोऽपि नश्येद्युतं तु दोषान् ॥

इति ।

चान्द्रं बलं तु निखिलग्रहवीर्यबीजम् ॥

इति । सोपपत्तिकमाह—

मूलं कालतरोः स्मृतो हिमकरः शाखादयोऽ-
न्ये ग्रहाः मूलेऽतिप्रबले सति क्षितिरुहः पुष्प्यन्ति
शाखादयः । सन्मूलं तरुमाश्रितः खलु जनः पुष्पं
फलं विन्दते तस्मात् चन्द्रबलक्षये हि विबलाः
शुक्रज्ञजीवादयः ॥ ३४ ॥

कालाख्यवृक्षस्य चन्द्रः मूलं, सूर्यादयः प्रकाण्डशाखो-
पशाखा भवन्ति, तत्र किं स्यादित्यत्राह—वृक्षस्य मूले अतिप्रबले
सति शाखादयः पुष्प्यन्ति खलु, दुर्बले शुष्यन्ति । किञ्च सन्मूलं
अतिप्रबलाधिष्ठानं तद्दृक्षमाश्रितो जनः तद्भवं पुष्पं फलं लभते
यतः तस्मात् कालतरोः मूलभूतस्य चन्द्रस्य प्राबल्ये सति तच्छा-
खादिभूता अन्ये ग्रहाः बलिनः स्युः, तस्य दौर्बल्ये शुक्रबुध-
जीवाद्या अपि दुर्बलाः स्युः तस्माच्चन्द्रबलमेव सर्वग्रहबलस्य
निदानं । तदेवाश्रित्य सकलशुभकर्माणि कुर्यात् । तथा च नारदः—

सर्वत्र प्रथमं लग्ने कर्तुश्चान्द्रमसं बलम् ।

कल्प्यं यदीन्दौ बलिनि सन्त्यन्ये बलिनो ग्रहाः ॥

चन्द्रस्य बलमाधारमाधेयं चान्यखेटजम् ।

आधारभूतेऽह्याधेयं बोध्यते परिनिष्ठितम् ॥

इन्दुश्चेच्छुभदस्तर्वे ग्रहाः शुभफलप्रदाः ।

अशुभश्चेदशुभदा वर्जयित्वा दिनाधिपम् ॥

इति । अत्र सूर्यस्य पर्युदास आदरार्थः । न प्राबल्यार्थः ।
स्यादेतत्—सूर्यस्य प्राबल्यार्थोऽयं पर्युदासः । चन्द्रप्राबल्यदौर्बल्य-
योश्च सूर्यापकर्षमन्त्रिकर्षोपाधिकत्वादिति । अत्रोच्यते, यद्यपि
चन्द्रस्य प्राबल्यदौर्बल्ये सूर्यापकर्षमन्त्रिकर्षाभ्यां स्तः । तथाऽपि
शुभाक्रियासु कर्तुः शुभाशुभफलप्रापणे सूर्यस्यापि चन्द्राधीनं प्राबल्यम् ।
तथा च श्रीपतिः—

यादृशेन हिमरश्मिमालिना सङ्क्रमो भवति तिग्मरोचिषः ।

तादृशं फलमवाप्नुयान्नरः साध्वसाध्वापि वशेन शीतगोः ॥

इति ।

ताराबलादिन्दुरथेन्दुवीर्याद्दिवाकरः सङ्क्रममाण उक्तः ।

ग्रहाश्च सर्वेऽपि बलेन भानोः स्युरप्रशस्ता अपि ते प्रशस्ताः ॥

तस्मादपि चन्द्रप्राबल्यकथनमनवद्यम् । ताराऽप्यत्र सहकारिणीति
केचित् । तथाच भरद्वाजः—

प्रभान्वितां स्निग्धविशालरश्मिं तारां च ताराधिपतिं च दृष्ट्वा ।

उदग्गतं नातिसमीपसंस्थं शुभानि कुर्यात् न तु भिद्यते चेत् ॥

दूरं गतो दक्षिणतोऽपि शस्तं ताराप्रभा यत्र न शान्तिमेति ।

मन्दप्रभा निर्धनकृत्तथैव प्रभेदने वै मरणप्रदं हि ॥

ताराबले चन्द्रबले च शस्ते नक्षत्रमृद्धं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।

तदा न दोषाय भवन्ति सर्वे सर्वाणि कार्याणि समर्थयन्ति ॥

इति । बलानां बहूनां समवायः श्रेष्ठबलमप्येकं पराजयत इत्या-
शङ्क्य शशाङ्कस्यैकस्य बलमन्येषां बहूनां बलसमवायादपि वि-
शिष्टमित्याह—

सृष्ट्वा ग्रहेन्द्रान्निदधे तुलायां

एकत्र सर्वानपरत्र चन्द्रम् ।

प्रजापतिः स्वैरमतोलयत्तान्

विशिष्ट आसीद्विमरश्मिभागः ॥ ३५ ॥

प्रजापतिः विधाता ग्रहेन्द्रान् सृष्ट्वा तद्वैरवलाघवपरीक्ष-
णार्थं स्वकल्पितायां तुलायां यन्त्रे सृष्टांस्तानेकत्र तुलाभागे चन्द्र-
मेकं अपरत्र तदन्यान् सर्वान् निहितवान्, तांस्तुलोभयभागस्थान्
ग्रहानतोलयत्—तुलया समतोलयत् । तत्र चन्द्राधीष्टितस्तुलाभागः

विशिष्टो गुरुरासीत् । कश्चिद्वणिक्तुलायामेकत्र भागे महद्रत्नमन्यत्र
क्षोदीयांसि बहूनि निधाय तुलायां तेषां गुरुत्वं परीक्षेत । तद्व-
द्विधात्रा परीक्षितं चन्द्रवलमेव गरीयोऽभूदित्यभिप्रायः । सृष्ट्या-
ग्रहेन्द्रानिति ग्रहसर्ग उक्तः । स च तथा सूर्यसिद्धान्ते—

त्रयीमयोऽयं भगवान् कालात्मा कालकृद्विभुः ।
सर्वात्मा सर्वगस्सूर्यः सर्वमस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥
रथे विश्वमयं चक्रं कृत्वा संवत्सरात्मकम् ।
छन्दांस्यश्वंस्तस्य युक्त्वा पर्येत्येष वशी सदा ॥

त्रिपादममृतं गुह्यं पादोऽयं प्रकटीभवेत् ।
सोऽहङ्कारं जगत्सृष्ट्वा ब्रह्माणममृतद्विभुः ॥
तस्मै वेदान् परान् दत्त्वा सर्वलोकपितामहं ।
प्रतिष्ठाप्यास्य मध्येतु स यः पर्येति भासयन् ॥

अथ स्रष्टा मनस्सृष्ट्वा ब्रह्माहङ्कारमूर्तिधृक् ।
मनसश्चन्द्रमा जज्ञे सूर्योऽक्ष्णोस्तेजसां निधिः ॥
मनसः खं ततो वायुरग्निरपो धराः क्रमात् ।
गुणैकवृद्ध्या पञ्चैव महाभूतानि जज्ञिरे ॥

अग्नीषोमौ भानुचन्द्रौ भूतान्यङ्गारकादयः ।
तेजोभूखाम्बुवतेभ्यः क्रमशः पञ्च जज्ञिरे ॥
पुनर्द्वादशधाऽऽत्मानं विभजे राशिसंज्ञितम् ।
नक्षत्ररूपिणं भूयः सप्तविंशात्मकं वशी ॥

ततश्चराचरं विश्वं निर्ममे देवपूर्वकम् ।

अथ ग्रहाणां प्राबल्यदौर्बल्ये दैवज्ञपरितोषापरितोषाभ्यां स्त

इति तल्लक्षणमाह—

वेदाध्यायी विनीतो ग्रहयजनपरः सत्यवादी
सुवृत्तः ज्योतिश्शास्त्रप्रवीणः ग्रहगणितपटुः सोऽ-
त्र दैवज्ञ उक्तः । तुष्टे तस्मिन् मुहूर्ते प्रदिशति-
वसुभिः पूजिते वीर्यवन्तः तुष्टास्सर्वे ग्रहेन्द्राः परि
भवकुपिते दुर्बलाः सक्रुधः स्युः ॥ ३६ ॥

अत्र शास्त्रे मुहूर्तदिशे यो दैवज्ञः स एवंविध इत्याह—
वेदाध्यायी वेदाध्ययनसंपन्नः अनेन द्विजानामेव ज्योतिश्शास्त्र-
वेदाध्ययनं युक्तमित्युक्तं । तथा च वृद्धगर्गः—

सिसृक्षुणा पुरा वेदानेतत्सृष्टं स्वयम्भुवा ।

वेदाङ्गमाद्यं वेदानां क्रियाणां च प्रसाधकम् ॥

ज्योतिर्ज्ञानं द्विजेन्द्राणामतो वेद्यं विदुर्बुधाः (बलम्) ।

ज्योतिश्चक्रात् लोकस्य सर्वस्योक्तं शुभाशुभम् ॥

तस्मात्पूर्वमधीयीत ज्योतिर्ज्ञानं द्विजोत्तमः ।

धर्मसूत्रं ततःपश्चात् यज्ञकर्मविधिक्रियाः ॥

तस्मात्पुण्यतमं वेदैर्यज्ञचक्षुस्सनातनम् ।

स्वर्गमव्येयमप्यग्रचैर्ब्राह्मणैस्संशितव्रतैः ॥

इति । विनीतः—विनयवान् ङम्मादिहीनः, विनयग्रहणमाभिजात्या-
दीनामुपलक्षणम् । यद्वराहमिहिरः—

“सांवत्सरोऽभिजातः प्रियदर्शनो विनीतवेषः सत्यवागनसूयकः
समः समसंहितगात्रसन्धिराविकलचारुकरचरणनखनयनचिबुकदशन-
श्रवणललाटोत्तमाङ्गो वपुष्मान् गम्भीरोदात्तघोषः’ ।

ति । ग्रहाणां स्तुतिनमस्कारपूजासु नित्यरतः । अथवा यजनं यज्ञः
 ान्तिकपौष्टिकोत्पातशमनादिकर्म च तन्निष्ठः । यद्वा ग्रहाः सोम-
 प्रहादयः यजनानि देवार्चनव्रतोपवासदानादीनि तेष्वाभिरतः । अत्र
 राहमिहिरः—

“शुचिर्देशः प्रगल्भो वाग्मी प्रातिमानवान् देशकालविभागविन्
 ात्तिको नवपरिषद्गीरुः सहाध्यायिभिरनाभिभवनीयः कुशलोऽव्य-
 ानी शान्तिकपौष्टिकादिनानाविद्याभिज्ञो विबुधार्चनव्रतोपवासनिरतश्च
 त्रोत्पादिताश्चर्यप्रभावः पृष्ठाभिधायी अन्यत्र दैवात्ययात्” इति ।
 सत्यवादी सत्यवचनशीलः । यथाशास्त्रदृष्टाभिधायी नत्वसमानो
 श्रुत्यादिभिरादेशकारीत्यर्थः । तथा च वराहमिहिरः—

संपत्त्या योजितादेशस्तद्विच्छिन्नकथाप्रियः ।
 मत्तश्शास्त्रैकदेशेन ताज्यस्तादृग्महीक्षिता ।
 कुहकादेशविहितैः कर्णोपश्रुतिहेतुभिः !
 कृतादेशो न सर्वत्र प्रष्टव्यो न स दैववित् ॥

इति । अथ वा सत्यवादी अविनथादेशः सफलदेश इत्यर्थः । स च
 देवार्चनाभिरत इत्यत्रोक्तः । सुवृत्तः सदाचारः सुशीलो वा, आचा-
 रशीलहीनो वर्जनीयः । यथोक्तं—

दैवज्ञं तु न कुर्वीत प्रक्षीणं क्षयरोगिणम् ।
 कुष्ठिनं निर्दयं त्यक्तं रागिणं कुलहीनकम् ।
 नित्यकर्मविरक्तं च वर्जयेच्च पुरोधसं ।
 दैवज्ञं च तथा भूतमज्ञातात्पाततत्त्वकम् ।
 निर्गुणं निष्प्रभं मत्तं परदाररतं तथा ॥

VIDYAMADAVIAM

अन्यत्र—

अकुलीनं च मूर्खं च स्वल्पसारं तथैव च ।

न पृच्छेन्न च पूज्येत तद्वचो दैवगर्हितम् ॥

। ज्योतिश्शास्त्रं गणितहोरासंहिताख्यस्कन्धत्रयात्मकम् ।

तथा च नारदः—

सिद्धान्त संहिता होरारूपस्कन्धत्रयात्मकम् ।

वेदस्य निर्मलं चक्षुर्ज्योतिश्शास्त्रमनुत्तमम् ॥

इति । तत्र प्रवीणो निपुणः विविधप्रश्नभेदोपलब्धिकुशलः । तथा च वराहमिहिरः—

नानाप्रश्नभेदोपलब्धिजनितवाक्सारो निकषसन्तापामिनिवेशैः
कनकस्येवाधिकतरविमलीकृतस्य शास्त्रस्य वक्तैति । नारदश्च—

त्रिस्कन्धो दर्शनीयश्च श्रौतस्मार्तक्रियापरः ।

निर्बाम्भिकस्सत्यवादी दैवज्ञो दैववित् स्मृतः ।

इति । ग्रहगणितेषु सिद्धान्तादिप्रोक्तेषु पटुः स्वबुद्ध्या अर्थविशेष-
प्रतिपादन (परः) समर्थः । तथा च वराहमिहिरः—

सौरपैतामहवासिष्ठपौलिशरोमशेषु स्वेषु स्वेषु सिद्धान्तेषु प्रीति-
पादितार्थविशेष इति । स्यादेतत्—गणितमपि ज्योतिश्शास्त्राभिधेयं,
तत्कुतोऽस्य पृथगुपादानमिति । उच्यते—होरासंहितास्कन्धाभ्यां गणि-
तस्कन्धस्य प्राधान्याभिधानायेति । अत्र केचित्—

ज्यौतिषफलमादेशः फलार्थमारम्भणं भवति लोके ।

तस्माद्यत्तः कार्यो ह्यदेशे ज्यौतिषज्ञेन ॥

इति । देशसार्धनयोः होरासंहितास्कन्धयोः अभिनिविष्टबुद्ध्यः सिद्धा-

न्तस्कन्धस्य' प्राधान्यं नानुमन्यन्ते । तेषामयमर्थः—ग्रहाणां गणितेषु मध्यस्फुटीकरणादौ तत्कालीकरणायुर्दायादिकरणगणनासु पटुः हस्त-पाटवावधानानुभावादिनैपुण्ययुक्तः । अथ वा अग्रहगणितपटुरिति पदच्छेदः । ग्रहकर्मव्यतिरिक्तेषु लोकव्यवहारार्थेषु सङ्कलितव्यवकलिताद्येषु गणितेषु पटुः, यतोऽभ्यस्तगणितकर्मैव ज्योतिश्शास्त्रश्रवणे अधिक्रियते । अत्र श्रीपतिः—

विज्ञातशब्दशास्त्रो विविधे गणिते च यश्च निष्णातः ।

ज्योतिश्शास्त्रश्रवणाधिकारो हन्त तस्यैव ॥

इति । अथवा ज्योतिश्शास्त्रप्रवीणोऽग्रहगणितपटुरित्येकं पदं, ज्योतिश्शास्त्रप्रवीणानामुग्रमूष्माणं ज्योतिश्शास्त्रप्रवीणा वयमेवेति तेषामौद्धत्यं घ्नन्त्यपनयन्तीति तथा, तेषु गणितः प्रसिद्धः ज्योतिश्शास्त्रप्रवीणोऽग्रहगणितः स चासौ पटुश्चेति तथा, ज्योतिश्शास्त्रप्रवीणमन्यजनदुर्गर्वनिर्वापकेषु प्रसिद्ध ऊहापोहादिनिपुणश्चेत्यर्थः । एवं भूतो दैवज्ञ इत्युच्यते । दैवज्ञ इत्यन्वर्थसंज्ञा, दैवं प्राचीनं कर्म, देवस्य विधातुः प्रवृत्तं तत् जानातीति दैवज्ञः । तथा च गुरुः—

दैवं पुरा कृतं कर्म भवेदुत्साहमैहिकम् ।

इह जन्मनि तत्पाकं यो जानाति स दैववित् ॥

इति । कल्याणवर्मा च—

विधात्रा विहिता या तु ललाटेऽक्षरमालिका ।

दैवज्ञः कथयेत्तां तु होरानिर्मलचक्षुषा ॥

इति । तस्मिन् एवभूते दैवज्ञे वसुभिः रत्नहिरण्यवस्त्रफलाद्यैर्द्रव्यैर्यथा-शक्ति पूजिते, येन दत्तेन द्रव्येण मनःपरितोषस्तस्योत्पाद्यते तद्दानेन वा तुष्टः सानन्दं मुहूर्तं प्रागुक्तवत् प्रदिशति सति सूर्याद्याः

सर्वे ग्रहाः दुर्बला अपि बलसंपन्नाः स्युः । अनिष्टस्थानस्था अपि तुष्टा इष्टफलप्रदाः । तस्मिन् परिभवेनावमानेनासत्कारेणानुचित-
सत्कारेण वा कुपिते रागभयादिना सोद्वेगं मुहूर्तं प्रदिशति
ग्रहा बलिनो दुर्बलाः स्युः, इष्टस्थानस्था अपि स्वाश्रितदैवज्ञावमानेन
जातकोपाः दुर्बलाः स्युः अनिष्टफलदाः स्युः । उक्तं च—

दैवज्ञपूजनात्सर्वे ग्रहाः स्युः परिपूजिताः ।

दुर्बला अपि कुर्वन्ति प्रबला इव ते शुभम् ॥

दैवज्ञस्यावमानेन ग्रहास्स्युरवमानिताः ।

विनाशयन्ति तत्कर्म दुर्बला अपि शोभनाः ॥

तस्मात् सर्वेषु कार्येषु दैवज्ञानं पूर्वमर्चयेत् ।

वस्त्रगोभूहिण्याद्यैः यथाशक्ति न वञ्चयेत् ॥

इति—

दैवज्ञा दैववत् पूज्यात्सर्वकार्येषु वृत्रहन् ।

यस्य च अवश्यं कार्यं किञ्चच्छिभं कर्म सद्यः प्राप्नोति स च ग्रहांश्च
दैवज्ञांश्च संपूज्य तदनुज्ञया तत् सद्यः कुर्यात् । तथा च विधिरते—

आवश्यके तु संप्राप्ते कार्ये संपूज्य शक्तितः ।

ग्रहान् विप्रांश्च दैवज्ञानं ततः कर्म समारभेत् ॥

इति । अथ शुभाशुभस्थानगतग्रहाणां शुभाशुभफलपरिमाणानिर्देशार्थं
तदवस्था आह ॥

स्वोच्चे प्रदीप्तः स्फुटतः त्रिकोणे

स्वस्थस्स्वगेहे मुदितस्सुहृद्रे ।

शान्तस्तु सौम्यग्रहवर्गसंस्थः

शक्तो मतोऽसौ स्फुटरश्मिजालः ॥ ३७ ॥

ग्रहार्हाभेभूतस्सनिपीडितस्स्यात्
खलस्तु पापग्रहवर्गयातः ।

सुदुःखितश्शत्रुगृहे ग्रहेन्द्रो
नीचेऽतिभीतो विकलोऽस्तयातः ॥ ३८ ॥

स्वोच्चराशौ स्थितो ग्रहः प्रदीप्तसंज्ञो भवति । मूलत्रि-
कोणे सुखितः, शुभक्षेत्रादिस्थः शान्तः, व्यक्तरश्मिमूहो अति-
तेजस्वी यत्र तत्रापि राशौ स्थितः शक्तसंज्ञः, एताः षड्ग्रहा-
वस्थाः, युद्धे ग्रहेणाभिभूतः पराजितो निपीडितारूपः, अस्तयातः
सूर्याशुच्छन्नरश्मित्वादस्तग्रहवद्दृश्यमानो मूढो ग्रहो विकलसंज्ञः स्यात्,
एतदुक्तं सारावक्याम्—

स्वोच्चे भवति च दीप्तस्वस्थस्वगृहे सुदृढहे मुदितः ।

शान्तश्शुभवर्गगतः शक्तस्स्फुरत्किरणजालः ॥

विकलो रविलुप्तकरो ग्रहाभिभूतो निपीडितो भवति ।

पापगणस्थश्चपलो नीचे भीतस्समाख्यातः ॥

इति । सुखदुःखितौ मुदितखलाभ्यां समफलाविति इह न पृथ-
गुक्तौ, आचार्येण तु तौ ताभ्यां अनुल्यफलाविति पृथगुक्तौ ।
प्रदीप्ताद्यैर्दीयमानस्य फलस्य परिमाणमाह—

दीप्तः पूर्णं विधत्ते फलमथ सुखितः पादहीनं
तदर्थं स्वस्थः पादैर्विहीनं त्रिभिरथ मुदितः शान्त-
शक्तौ च तद्वत् । अत्यल्पं तत्र येऽन्ये विदधति
विकलो भीतसंज्ञश्च नष्टं भीताद्या दीप्तनिष्ठास्त्वशु-
भमपि तथा व्यत्क्रमेण ग्रहास्ते ॥ ३९ ॥

दीप्तः स्वोच्चस्थः पूर्णमखण्डं शुभफलं, सुखितः त्रिकोणः
पादहीनं रूपं, स्वस्थः स्वराशिस्थः अर्धं रूपार्धं शुभं, मुदितो मित्रगु-
हस्थः त्रिपादोनं, शान्तः—शुभवर्गस्थः, शक्तः—व्यक्तरश्मिसमूहः ।
अन्ये—ग्रहपराजितः पापग्रहवर्गयातः शतृगृहस्थः श्र ते अत्यलं रूप-
षोडशांशं शुभं कुर्वन्ति, विकलोऽस्तगः भीतो नीचगश्च द्वे नष्टं
शून्यं कुरुतः । भीतविकलाद्या दीप्तान्ता ग्रहाः अशुभमपि व्युत्क्र-
मेण तथा कुर्युः, यत्र शुभं शून्यं तत्राशुभं पूर्णं । यत्र त्रिपादोनं
शुभं तत्र त्रिपादमशुभं । यत्रार्धं शुभं तत्रार्धमशुभं, यत्र त्रिपादं
शुभं तत्र पादोनमशुभं, यत्र पूर्णं शुभं तत्र शून्यमशुभमित्यर्थः ।
अत्र वराहमिहिरः—

स्वोच्चत्रिकोणस्थसुहृच्छत्रुनीचग्रहार्कगैः ।

फलं संपूर्णपादोनदळपादाल्पानिष्फलम् ॥

इति । अत्रार्धमित्राधिशत्रुसमराशिगतानां फलविशेषः श्रीपतिनोक्तः—

स्वोच्चे रूपं चरणरहितं स्वत्रिकोणे स्वभेऽर्धं

नागांशानां त्रयमधिसुहृद्रेहगे मित्रभेऽङ्घ्रिः ।

अंशोऽष्टानां समगृहगते भूपभागोऽरिगेहे

दन्तांशस्स्यादाधीरिपुगृहे नीचभे शून्यमेव ॥

एतच्छुभाख्यमशुभं च पुनर्गृहेषु

स्वोच्चादिवर्तिषु वदन्ति तदूनमेकम् ।

इति । शान्तखल्योर्मुदितदुःखितत्वव्यतिरेकेणाभावात् न पृथक्फला-
भिधानम् । तेन तयोरेव तदेव फलमिति सिद्धम् । निपीडितस्या-
फलत्वं भरद्वाजेनोक्तम्—

नीचस्था निर्जिता दृष्टा विपन्ना क्षीणरश्मयः ।

ग्रहास्ते विफला ज्ञेयाः सौम्या नेष्टास्तथाविधाः ॥

इति । अत्र क्षीणरश्मेर्विफलत्वाभिधानं ज्ञापकं विपुलरश्मेः पादफल-
प्रदानस्य, अत्र स्वोच्चक्षादिद्वित्रिनिमित्तसंपत्तिं प्राग्बलग्रहणोक्तविभा-
गेन फलं वदेत्, अत्र ग्रहवर्गग्रहणमुपलक्षणं स्वरादिवर्गषट्कस्थि-
तिनिमित्तशुभाशुभफलार्थस्य, यस्माच्छीपतिः—

एषां ग्रहेषु शुभपापफलार्थमन्यं

वर्गेषु षट्सु नियतं मुनयः पुराणाः ॥

इति । एवं ग्रहाणां स्वोच्चत्वादिकृतं स्वाक्रान्तराशेः शुभाशुभफलं
स्वाधिपत्यादिकृतं स्वाक्रान्तहोरादिषड्वर्गस्य शुभाशुभफलं चालोच्य अत्र
स्थाने अनेनेयच्छुभमियदशुभं दीयत इति वदेदित्युक्तं भवति ।
तच्च श्रीपतिश्रीधरादिभिः प्रपाञ्चितमिष्टकष्टफलारूपमिहाभिधीयते ।
यथा—सूर्यादिस्फुटग्रहेभ्यः स्वस्वनीचध्रुवात् विशोध्य शिष्टं कली-
कृत्य ज्ञानजनकैर्विभज्य आप्तं फलं रूपाधिकं चेत् रूपाद्विशु-
द्धमुत्कृष्टफलं स्यात्, तयोः स्फुटमध्यमान्तरशीघ्रोच्चाद्विशुद्धानुच्चरश्मि-
फलं स्यात् । ततः सत्रिहायनांशं सूर्यं सूर्यहर्नं चन्द्रं स्वस्फु-
टमध्यमान्तरसंस्कृतशीघ्रोच्चाद्विशुद्धान् कुजादींश्च कलीकृत्य ज्ञान-
जनकैर्विभज्याप्तं फलं रूपाधिकं चेद्रूपाद्विशुद्धं चेष्टाफलं स्यात् ।
तयोरुच्चचेष्टाफलगेर्घाताद्गृहीतं मूलमिष्टफलं स्यात् । तथा पृथगु-
क्तमुच्चफलं चेष्टाफलं च रूपाद्विशोध्य शेषयोः वातादाप्तं मूलं
कष्टारूपं । ताभ्यामिष्टकष्टफलाभ्यां पृथक् पृथक् ग्रहफलपिण्डं
सङ्गुण्य तत्रेष्टफलहतं स्फुटेष्टवलं कष्टवलहतं स्फुटकष्टवलं च
स्यात् । तत्र ग्रहाणां राश्यादिसप्तवर्गस्थितिनिमित्तशुभाशुभफलानि

पृथक् पृथक् संपिण्डयेत्, तद्यथा—स्वोच्चराशौ रूपं शुभमंशुभं
 शून्यं मूलत्रिकोणे पादोनं रूपं शुभमशुभं पाद इत्यादि राशि-
 स्थितिनिमित्तं शुभमशुभं च ऊह्यम् । होरादिषड्वर्गषट्कस्थितिनि-
 मित्तं शुभमशुभं च तदर्धं भवति । यथा—स्वहोरास्थस्य स्वक्षे-
 त्रोक्तं शुभमर्धं तदर्धं पादः शुभं भवति । पादं रूपाद्विशोध्य
 अशुभं पादः, अधिमित्रहोरास्थेऽधिमित्रराश्युक्तवस्वंशत्रयस्यार्धं षोड-
 शांशास्त्रयः शुभम् । एतर्धाद्विशोध्य शेषषोडशांशाः शुभम् । एवं
 मित्रादिहोरासूह्यम् । द्रेक्काणादिपञ्चवर्गेष्वपि तद्वत् । केचित्
 स्वोच्चांशकस्थे स्वोच्चराश्युक्तरूपस्यार्धं शुभम्, एतद्रूपाध्याद्विशोध्य
 अशुभं शून्यमिच्छन्ति । नीचांशस्थे नीचराश्युक्तं शून्यं शुभमशुभं
 रूपार्धमिति ।

स्वोच्चेऽपि नीचं स्वगृहे परांशं
 संलक्ष्य तस्मिन् परिवर्जयति ।
 नीचारिषेषूच्चसुहृत्स्वभांशे
 स्थिता ग्रहाः स्युश्शुभदाः प्रजानाम् ॥

इति मुनिवचनात् । श्रीपतिस्तु होरादिवर्गस्याधिपत्यनिमित्तमेव
 फलमिच्छति । न तु राशिनिमित्तमुच्चनीचादिफलम् । एवं राश्या-
 दिसप्तवर्गस्थितिनिमित्तानि फलानि सप्त शुभानि सप्ताशुभानि भवन्ति ।
 ततः सप्तकोष्ठात्मकं पञ्चद्वयं विलिख्य पञ्चद्वयेऽप्यादिकोष्ठयोस्त-
 द्वाशिसंबन्धि शुभाशुभफले चतुर्हते स्थापयेत् । द्वितीयादिकोष्ठषट्के
 तद्धोरादिवर्गषट्कसंबन्धि शुभाशुभचतुरंशान्निदध्यात् । तानि सप्त-
 वर्गजानि शुभाशुभफलानि ग्रहारूढराशीशस्यापि, स्वाक्रान्तराश्या-
 दिसप्तवर्गजानि शुभाशुभफलानि प्रसाध्य शुभफलमशुभफलं च पृथक्-
 पृथक् संपिण्ड्य शुभफलपिण्डेनादिकोष्ठस्थमशुभफलं हन्यात् । अशु-

भफलपिण्डेनादिकोष्ठस्थमशुभफलं हन्यात् । ततो ग्रहारूढहोरेश्वर-
स्यापि स्वाक्रान्तराश्यादिवर्गजशुभाशुभफलपिण्डे संपिण्ड्य ताभ्यां द्वि-
तीयकोष्ठस्थे शुभाशुभफले हन्यात् । तत्र स्वाक्रान्तेद्रक्काणाधिपते
रुक्तवदानीतभ्यां शुभाशुभफलपिण्डाभ्यां पञ्चमकोष्ठस्थे द्वादशां-
शाधिपतेः शुभाशुभफलपिण्डाभ्यां षष्ठकोष्ठस्थे त्रिंशांशाधिपतेः शुभा-
शुभफलपिण्डाभ्यां सप्तमकोष्ठस्थे शुभाशुभफले हन्यात् । एवं
पङ्क्तिद्वयगतसप्तकोष्ठस्थानि राश्यादिसप्तवर्गजानि शुभाशुभफलानि,
ततो ग्रहाक्रान्तराश्यादिसप्तवर्गाधिपानां पृथक्पृथगानीतस्फुटेष्टकष्टबलयोः
तत्स्थग्रहस्य प्रागानीतस्फुटेष्टकष्टबलयोः घातमूलाभ्यां पृथक् पृथक्
हन्यात् । तत्रायं विभागः—वर्गेशतत्स्थग्रहयोः स्फुटेष्टबलघातमूलेन
तत्स्थग्रहस्य राश्यादिसप्तवर्गजानि शुभफलानि हन्यात् । तत्स्फु-
टकष्टबलघातमूलेन तदशुभफलानि हन्यात् । तानि राश्यादिसप्त-
वर्गजानि शुभाशुभफलानि स्फुटानि भवन्ति । ततोऽनेन ग्रह-
णाऽत्र स्थाने राशिस्थितिनिमित्तमियच्छुभमियदशुभं च दीयते ।
होरादिवर्गषट्कस्थितिनिमित्तमियच्छुभमियदशुभं च दीयत इति विनि-
श्चित्य अथ पङ्क्तिद्वये तत्सप्तमकोष्ठगतं स्फुटशुभफलं स्फुटाशुभ-
फलं च पृथक्पृथक् संपिण्ड्य अत्र स्थाने अस्य ग्रहस्य एता-
वच्छुभं एतावदशुभमिति तयोरधिकादूनं विशोध्य अवशिष्ट शुभ-
मशुभं वा वाच्यं । साम्येऽप्यशुभमेव । तस्माच्छुभक्रियायां शुभ-
फलाधिक्यमिष्यते । यतो वक्ष्यति—

दोषान् विनिघ्नन्ति गुणा बलाढ्याः

समानतायां बलिनो हि दोषाः ॥

इत्यादि । ग्रहाणां लग्नादिभावेषु सामान्येनोक्तस्य शुभाशुभफलस्य
विशेषेणाभिधानायाह ;—

VIDYAMADAVIAM.

यस्मिन् ग्रहे लग्नगते यदुक्तं
फल-ग्रहस्सोऽभ्युदितस्तदल्पम् ।
करोति तन्मध्यममभ्युदेष्यन्
निकामसंपूर्णमुदीयमानः ॥

यस्मिन् ग्रहे लग्नस्थे सामान्येन यच्छुभमशुभं वा फल-
मुक्तं स ग्रहोऽभ्युदितः उदयलेखामतीत्य दृश्यमानः तत्फलमल्पं
कनीयः करोति । अभ्युदेष्यन् उदयलेखामप्राप्य अदृश्यस्तल्लग्न-
स्थितिनिमित्तं फलं मध्यमं करोति । उदीयमानः उदयलेखारूढः
किञ्चिद्दृश्यः निकामं संपूर्णमुत्तमं करोति । लग्नग्रहणमुपलक्षणं
द्वितीयादिस्थानानाम् । उक्तं च—

अशुभं च शुभं चोद्यन्नुदेष्यन्नुदितो ग्रहः ।

त्रिद्वयेकगुणमाधत्ते लग्नादिस्थानमाश्रितः ॥

इति । एतदुक्तं भवति—यस्मिन् राशौ यदंशे शुभाक्रिया क्रियते
तद्ग्राहस्तस्मिन् राशेः लग्नभावमध्यं स्यात्, ततो मध्यलग्नादिभावान्
ससन्धीनुक्तवत् संपादयेत् । तेषु भावमध्यगतो ग्रहः तद्भावोक्तं
शुभाशुभफलं पूर्णं करोति । तत्पूर्वापरार्धस्थः उदेष्यन्नुदितसंज्ञः ।
संज्ञाध्याये प्रागुक्तवदनुपातेन फलं करोतीति । एवं सप्ताङ्गे ग्रह-
स्यैव प्राबल्यात् तत्राप्यशेषदोषनिर्मूलने गुरुशुक्रयोरेव प्राबल्यात्
तदुदयमात्रमेव प्रसाध्य नक्षत्रादिदोर्बल्येऽपि सर्वदा शुभकार्याणि
कार्याणीत्यत्राह—

शुभग्रहाणामुदयोस्ति नित्यं नतावता कर्म
शुभं विदध्यात् । ग्राह्यो महादोषविवर्जितोऽयमिव
मुहूर्तस्य परं रहस्यम् ॥

कुलालचक्रवत् बम्भ्रम्यमाणे भचक्रे चरतां ग्रहाणां शुभा-
नामुदयस्सर्वदाऽस्ति, तावता शुभोदयमात्रेण शुभकर्म न कुर्यात्
यतो महादोषाः शुभोदयादपि प्रवलाः सर्वकर्मनिर्मूलनप्रभविष्णवो
भवन्ति । तस्मान्महादोषैरसंयुक्तवच्छुभोदयः शुभकार्येषु ग्राह्य इति
मुहूर्तरहस्यं परं अनसिष्वप्रकाश्यम् । निष्कृत्य प्रतिपाद्यं मुहूर्त-
शास्त्रस्य परमं राद्धान्तरहस्यमित्यर्थः । महादोषानाह त्रिभिः पदैः—

पश्चाद्व्यतीपातदलं सपार्श्वो दशश्च विष्टयभ्युद-
यश्च साक्षात् । वर्ज्यश्च ताराः कुजसूर्यसून्वोः वारो-
दयास्सर्वगुणैरभेद्याः । गुळिकोदयविषघटिकाश्चन्द्रा-
ष्टमपापसग्रहोष्णशिखाः । अविहितसमादिकाला
दिनान्तचक्रार्धयोगवर्षान्ताः । जन्माद्यनिष्टभांशाः
कविधिषणास्तादयो महादोषाः । न हि (वि) भि-
द्यन्ते बालिभिः गुरुशुक्रबुधोदयादिभिश्च गुणैः ॥

पाश्चात्यं व्यतिपातस्यार्धं कृष्णचतुर्दशीशुक्लप्रथमाभ्यां सहितो
दर्शः साक्षाद्दिवा रात्रौ चानुलोमक्रमगतौ विष्टययामश्च वर्ज्यः ।
अनुक्तास्ताराश्च कुजमन्दयोर्वारौ दिवा तदुदयश्च । एते महान्तो
दोषाः स्वापवादादिभिः गुणैः अभेद्याः अप्रणाश्याः स्युः । अपि च
दिवारात्रौ च तात्कालिको गुळिकोदयः नक्षत्रविषनाञ्चः चन्द्रा-
ष्टमत्वं पापसग्रहः उष्णशिखा च अनुक्तवर्षमासादिनानि यथा
चौके समं वर्षं, विवाहे श्रावणादिमासाः, प्रवेशे नवमं दिनं, दिनान्तो
दिनस्यास्तः त्रयंशः, चक्रार्धयोगेन व्यतिपातवैधृतौ । सौरचा-
न्द्राब्दयोरन्तः पक्षार्धत्मकः, जन्माद्यनिष्टभानि आद्यानि जन्म-
विपत्प्रत्यरवधर्षाणि अष्टमराशिश्च । तदंशाः विपत्प्रत्यरवधर्षाणां

आद्यचतुर्थतृतीयांशाः । वैनाशिकर्क्षस्य जन्मर्क्षाशादष्टाशीतितमोऽशंश्च,
कविगुर्वरस्तं, आदिशब्देन ये चान्धे शास्त्रेष्वदष्टापवादा महादोषा
इत्युक्ताः ते च गृह्यन्ते । उक्तं च सर्वसिन्धौ—

विषविष्टिव्यतीपातवधर्क्षाष्टमराशयः ।

गुक्तिकस्सप्त दोषाः स्युरपवादगुणेष्वपि ॥

इति । अष्टमराशी द्वौ चन्द्राष्टमो लघ्वाष्टमश्चेति । अत्रियोऽपि—

ग्रहर्क्षवासरमृतिविरोधादित्रिवृद्विषम् ।

विष्ट्यादिपञ्चकरणं गुक्तिकश्च विशेषतः ॥

न भिद्यन्तेऽपवादेन तेन तेऽतिबला नृप ॥

इति । बार्हस्पत्ये—

गुणायुतैर्युतेऽप्यस्मिन् शकुनादिचतुष्टये ।

काले नेष्टं शुभं सर्वं कृतं सम्यग्विनश्यति ॥

इति—

अशुभेऽब्दे ग्रहास्सर्वे शुभगोचरगा अपि ।

शान्त्यभावाच्छुभं नैव यात्यब्दः कालमृत्युवत् ॥

इति । अन्यत्र—

उदुतिथिलग्नविशेषा विफला मासे तु निन्दिते प्राप्ते ।

मासे तु प्राप्ते यथोक्तफलदशशाङ्कस्स्यात् ।

यस्य जन्मर्क्षलग्नर्क्षाच्चन्द्रो विपदि संस्थितः ॥

प्रत्यरे वा वषे वाऽसौ दोषाणामपवादहा ।

इति । अन्येषां दुष्टताराणां पापसग्रहोष्णशिखादीनां तद्वर्णान्त
गुरुशुक्रास्तादीनां तु सदपवादानुपलब्ध्या महादोषत्वम् । अत एव
साधारणापवादैरभङ्गश्लोकः । एते महादोषाः गुरुशुक्रभुधानां उदय-
दर्शनत्रिंशोऽपस्थित्यादिभिः गुणैः समस्तैः व्यस्यैर्वा न भिद्यन्ते ।

अनांत्ययिके (शुभे) कर्मणि महादोषाणां स्वापवादैरपि न भङ्गोऽस्ति ।

तथा च गुरुः—

अपि दोषापवादानामपवादं स्वथोचिरे ।

वलवंदोषसङ्गस्य नापवादैर्बलक्षयः ॥

इति । आत्ययिके तु महादोषाणामपि विशेषापवादैर्भङ्गः । तथा च स एव—

यद्यप्यात्ययिके कार्ये स्वापवादैरभावतां ।

गतेष्वेषु शुभाः कृत्याः कर्तव्या ग्रहपूजया ॥

सर्वसिन्धौः—

अपवादोऽपवादापवादैर्भवति दुर्बलः ।

अपवादापवादोऽपि नश्येद्वैजपूजया ॥

इति । नन्वत्र दोषाणामुत्सर्गभूतानामपवादैरबाधभिधानममारं, नेद-
मस्ति, तदपवादकर्तृणां च चन्द्रजीवादीनां दौर्बल्यजन्यपवादानां
दौर्बल्यमिति । तथा च गुरुः—

स्वजन्मसमये चन्द्रो नक्षत्राल्लग्नभागगुरोः

वधे विपत्ताऽप्यपवादविनाशनः ॥

तयोरष्टमभाज्जीवः प्रत्यरे वा प्रयाति चेत् ।

दोषापवादान् संयम्य दोषानेवैष वर्धयेत् ॥

यस्य जन्म न लग्नर्क्षे गुरोः पञ्चमसप्तमे

तृतीये वाऽस्य दोषाणामपवादविनाशनः ॥

इति । नन्वत्र सप्ताङ्गस्य बलावलान्यभिहितानि न तु तद्वाना-
गुणदोषाणां इत्याशङ्क्य तेषां बलावलानि प्रागेव उक्तानीत्यह—

दोषापवादसंज्ञो योऽध्यायोऽस्मिन् मया विनि-
र्दिष्टः । तत एव भवति सर्वं गुणदोषबलावल-
ज्ञानम् ॥

इह यो दोषापवादख्यः तृतीयोऽध्यायः प्रागुक्तः तदध्य-
यनेनैव कात्स्नर्चेन गुणदोषाणां बलाबलज्ञानं संपद्यत इति न पुनरत्र
ग्रन्थविस्तरभयादभिधीयत इति शेषः ।

अथ सामान्यविशेषाभ्यामभिहितानां गुणदोषाणां विप्रति-
षेधे बलाबलज्ञानायाह—

**सममुक्ताः पृथगपि ये दोषाश्च गुणाश्च सर्व-
कार्येषु । तेषां सामान्यविधेर्ज्ञेयो बलवान् विशे-
षविधिः ॥**

ये दोषाश्च गुणाश्च सर्वकार्येषु समं सामान्येन अविशेषे
णाभिहिताः ये च पृथगसामान्येन देशकालस्थानादिना केनचिद्वि-
शेषेणोक्ताः तेषां मध्ये सामान्यविधेर्विशेषविधिर्बलवान्; सामान्येना-
विशेषाभिहितेभ्यो गुणदोषेभ्यो विशेषेण विहिता गुणदोषा बल-
वन्त इत्यर्थः । यथा एकार्गळो वर्ज्य इत्यविशेषेणाभिधानं सामा-
न्यविधिः । तस्मादेकार्गळस्तु काश्मीरे वर्ज्य इति देशविशेषाभिधानं
विशेषविधिः प्रबलः काश्मीरादन्यदेशेषु तस्यावर्ज्यत्वमाख्याति ।
अपि च, दिनमृत्युदिनामयौ वर्ज्याविति सामान्यविधिः, निशि निर्दू-
षणावेतौ इति कालविशेषविधिः तयोः नित्यत्याज्यतामाह । शुभाः
कन्द्रे शुभा इति सामान्यविधिः, यद्गुणयोः बुधसितौ मृत्युदाविति
स्थानविशेषविधिः, तत्र तयोरशुभत्वमाख्याति । एवं सर्वत्र सामा-
न्यविशेषविधी स्वबुद्ध्या अभ्यूह्यौ ।

ननु प्रधानमेकं कर्म लग्नकाले क्रियते लग्नकालस्य शुभत्वा-
त्तदङ्गभूतान्यन्यानि शुभकर्माणि विरुद्धकाले कथं क्रियन्ते इत्याह—

कार्यं यदेकं क्रियते प्रधानं
तदा स्युरन्यान्युपसर्जनानि ।
ग्राह्यो विरुद्धोऽप्युपसर्जनानां
बली प्रधानानुगुणो मुहूर्तः ॥

यदा काले प्रधानमेकमुपनयनादिकं क्रियते तदा अन्यानि तदङ्गभूतानि चौलव्रतवन्धादीन्युपसर्जनानि स्युः । तत्र प्रधानं कर्म स्वानुगुणे सुलभे कार्यमिति तस्य यथोक्तो लग्नकालो ग्राह्यः । उपसर्जनानां तु विरुद्धोऽनुक्तोऽपि प्रधानकर्मानुगुणो ग्राह्यः । अन्या-
प्रधानेन कर्मन्तरेण सह विधाने प्राप्तौपसर्जनानां प्रधानकर्मानुगुणः कालो ग्राह्यः न तत्र स्वानुगुणकालान्वीक्षणमित्यर्थः । श्रीमतामपि जनानां भूपादिना प्रधानपुरुषेण सह अवस्थाने तस्यैव प्राधान्य-
मन्येषामप्राधान्यं दृश्यते । तथेहाऽपि प्रधानकर्मणः प्राधान्यं अन्य-
कर्मणामप्राधान्यमिति, यथोपनयनं । तदन्यानि कर्माणि उपसर्जनानि स्युः । अतोऽत्र प्रधानस्येष्टकर्मणः अनुगुणस्सन् उपसर्जनकर्मणां विरुद्धोऽपि मुहूर्तो ग्राह्य इति । यथा विवाहे लग्नादष्टमे मन्द-
स्तदनुगुणस्सन् अन्यकर्मणां विरुद्धोऽपि लिङ्गौचित्यादिभिरादेश्य इति । तथा च भरद्वाजः—

कर्मणां तु प्रयुज्यन्ते तिथिनक्षत्रराशयः ।

अनुक्तेऽपि च संपन्ने प्रतिषेधविवर्जिते ॥

नक्षत्रवर्गवार्थं च दैवं तस्योपलक्षयेत् ।

कर्तव्यमविरोधेन कर्तुंस्तत्कर्म पूजितम् ॥ ”

सौम्यास्त्रीणां दिवा बाला 'दिवा योज्या बलान्विताः । इत्या-
दिभिः स्वबुद्ध्या अभ्यूह्य मुहूर्तमादिशेदिति । ननु दोषापवादाध्याये

गुणानां बलाबलानि प्रायेण उक्तानि न तत्र तेषां सङ्ख्यादिकमुक्तमित्यत्र,
तदाहुः—

दोषाणां दशधा जगाद धिषणो वीर्याणि नैस-
र्गिकं पञ्चाङ्गेन कृतानि पञ्च बलिभिः क्षेत्रग्रहेन्द्रैरपि ।
संयोगैश्च मिथस्समूहगणनैरुत्पादितानि क्रमात्
द्वैगुण्यं दधते यथोत्तरममून्येवं गुणानामपि ॥

धिषणो गुरुदोषाणां गुणानां च बलानि दशविधान्युक्तवान् ।
तत्र नैसर्गिकमेकं । तिथ्यादिना पञ्चाङ्गेन कृतानि पञ्चेति षट्, बलिभिः
ग्रहयुतिद्विष्टिहीनैः क्षेत्रैः सप्तमं, ग्रहैरष्टमं, तिथ्यादीनामन्योन्यसंयोगैः
नवमं, तेषां समूहगणनैः त्रिचतुरादीनां समुदायैर्दशममित्यमूनि
तिथ्यादिजादीनि बलानि क्रमेण यथोत्तरं द्वैगुण्यं दधते । पूर्वपूर्वस्मा
दुत्तरोत्तरं बलमाधिकं भवतीत्यर्थः । गुणदोषाणां शुभाशुभत्वसा-
मान्यात्मकं नैसर्गिकमेकं, तद्विशिष्टं तिथिभवं रूपगुणं स्यात् ।
नक्षत्रभवं द्विगुणं, वारभवं त्रिगुणं, योगभवं चतुर्गुणं, करणजं पञ्च-
गुणं, क्षेत्रजं षड्गुणं, ग्रहजं सप्तगुणं, संयोगजमष्टगुणं, परस्परसमूहजं
नवगुणमिति उत्तरोत्तरं वृद्धिमद्भवति । द्वैगुण्यशब्द आधिक्यवाची,
अन्ये तु तिथ्यादिजं पूर्वपूर्वस्मात् उत्तरोत्तरं द्विगुणं भवतीत्याहुः ।
तत्र तिथिजा गुणा दोषा अयुतं, नक्षत्रजं अयुतद्वयं, वारजं
अष्टौ सहस्राणि, योगजा द्विशती, करणजा अष्टायुतानि, क्षेत्रजाः
पञ्चसहस्राणि, ग्रहजा अयुतं, संयोगजाश्चतुरयुतानि इति । सर्वे
समुदिताः व्योमशून्यदशनाश्रिवह्निसम्मिताः भवन्ति । अत्र गुरुः—

दोषाणां तु बलं विद्धि दशधैवारिसूदन ।

ग्रहैः क्षेत्रैश्च तिथ्या च ताराभिर्वारयोगतः ॥

¹ तिथ्यादिजाततादीनि.

करणेनापि संयोगैः परस्परसमूहतः
 बलं संचिन्त्य दोषाणां नवषाडय निसर्गजम् ॥
 ग्रहैर्दशसहस्रं स्यात् क्षेत्रैः पञ्चसहस्रकम् ।
 तिथ्या चायुतमुक्तं हि ताराभिश्चायुतद्वयम् ॥
 योगैश्शतद्वयं विद्यात् वारैरष्टसहस्रकम् ।
 करणेनायुतान्यष्टौ संयोगैश्च तदर्धकम् ॥
 परस्परसमूहेन करणाद्विगुणं भवेत् ।
 निसर्गजबलं प्रोक्तं प्रथमादृद्धितोऽन्यतः ॥
 एवं दोषबलं प्रोक्तं गुणानामपि चोक्तम् ।

इति । अत्र प्रसिद्धाः केचिदेव गुणदोषाः प्रागुक्ताः । तेषु दोषा
 स्तावत् छिद्रातिथिनिम्नाद्याः तिथिजाः । ताराकूपविषाद्या ऋक्षजाः
 दुष्टयोगाद्या योगजाः । पापवारापराङ्मांशसन्ध्याहोरात्रमुहूर्तगुल्फिकाद्ध
 ग्रहाराद्या वारजाः । विष्ट्याद्याः करणजाः । पापवर्गमृत्युभागाद्या
 राशिजाः । पापोदयदृष्ट्याद्या ग्रहजाः । दग्धविनाशाद्यास्तितिथिवार
 संयोगजाः । ऋक्षलुब्धिविषाद्याः तिथ्यृक्षजाः । विपत्प्रत्यरवैना
 शिकाः तारासंयोगजाः । चक्रार्धवैधृत्कार्गळगुरुशुक्रास्तादयो ग्रह
 संयोगजाः । त्रिवृद्विषाधिमासाद्याः समूहजाः । केतूदयोत्पाताद्या
 निसर्गजाः । अथ गुणाः—सुतिथ्यादयः तिथिजाः । सुनारामृताद्या
 ऋक्षजाः । सुयोगाद्या योगजाः । सद्दारांशहोरात्रमुहूर्तवारमूह
 ताद्या वारजाः । सुकरणाद्याः करणजाः । शुभवर्गाभिजिज्ञाग
 पुष्करांशादयो राशिजाः । शुभोदयदृष्ट्याद्या ग्रहजाः । सुमङ्ग
 ल्यादयस्तिथ्यृक्षजाः । सिद्धामृताद्या वारक्षजाः । द्विनेत्रसजीवाद्या
 ग्रहक्षजाः । ग्रहानुकूल्यादयो ग्रहराशिजाः । संज्ञा क्षेममैत्राद्या
 स्तारासंयोगजाः सिद्धपञ्चकल्याणादयः समूहजाः । सन्निभित्तमने

भिरतिरतिप्रभृतयो निसर्गजाः । अनुक्ताश्च स्वच्छा अम्बुधाः ।
 एषां नैसर्गिकं बलं प्रागुक्तं । तात्कालिकं तस्य स्वकर्तृबलतुल्यम् ।
 यत् गुरुः—

यस्य यस्य च यो नाथो गुणस्यास्य बलेन तु ।

ज्ञातव्या बलसङ्ख्या च गुणस्यास्य विचक्षणैः ॥

इति । इदं गुणानामेव । दोषाणां तु व्यस्तं । प्राबल्ये दौर्बल्यम् ।
 दौर्बल्ये प्राबल्यमिति । तथा चोक्तं—

येन ग्रहेण यो दोषः तस्मिन् बलिनि सोऽबलः ।

इति । स्यादेतत्, कथं ग्रहाणां दौर्बल्ये तत्कृतानां दोषाणां
 प्राबल्यमुच्यत इति । यत आह गुरुः—

यो जितो रश्मिहीनो वा रवावस्तमितोऽपि वा ।

बलहीनोऽपि वा तस्य दोषा न स्युः फलाय ते ॥

इति । अपि च सदसत्स्थानादिगतैर्ग्रहादिभिः शुभाशुभफलप्रदानान्
 गुणदोषसंज्ञा स्यात्, प्रबला ग्रहादयस्तानि पोषयन्ति दुर्बलास्तु न
 प्रयच्छन्ति । तथा च भरद्वाजः—

ये ग्रहा बलहीनास्ते स्वारिनीचारिवर्गगाः ।

लग्नादिभावतः प्रोक्ता न दद्युरशुभान् शुभान् ॥

इति । यथा हि लोके प्रभवः प्रतोषरोषभाजः स्वसेवकादीनां सद
 सत्फलानि प्रदातुं प्रभविष्णवः । अनश्विरास्तु न तुच्छान्यऽपि तानि
 प्रापयितुमीशते; तथेह दुर्बलेषु ग्रहेषु तत्कृतानां दोषाणां प्राबल्यं
 नोपपद्यत इति । अत्रोच्यते, सत्यम्, कर्तुर्ग्रहस्य दौर्बल्ये प्राबल्यं
 नोपपन्नं, किंत्विह प्राबल्यमिति । यद्ग्रहाणामिष्टस्थानगतत्वेन शुभ
 फलदानशक्तिमत्त्वं तदभिधीयते । न पुनैर्नैसर्गिकं दिग्बलवत्त्वम्
 एवं च अयमर्थः स्यात्—कर्तुः ग्रहस्य दौर्बल्ये अनिष्टस्थान-

। शुभफलदानशक्तिराहित्ये तद्दोषाणां प्राबल्यामिति । अथ-
कथमानिष्टस्थानास्थितैरपि स्थानबलसंपन्नैरपि ग्रहैः स्वदोषा बा-
ध्यन्ते । उच्यते—स्थानादिवीर्यवन्तोऽनिष्टस्थानस्था अपि शुभ
फलदानशक्तिमन्त इति प्राबल्यात् तेषां दोषबाधकत्वं युक्तम् ।
इत्थं गुणदोषाणां बलबलमुक्त्वा शुभक्रियाकालमाह—

दोषान् विनिघ्नन्ति गुणा बलाढ्याः
समानतायां बलिनो हि दोषाः ।
इति द्वयानां च विमृश्य वीर्यं
शुभं बलीयस्सु गुणेषु कुर्यात् ॥ ४८ ॥

तात्कालिकादिबलसंपन्ना गुणा दोषान् विनाशयन्ति । अर्था-
देव बलाढ्या दोषा गुणान् बाधन्त इति सिद्धं । तथा च गुरुः—

यत्र वा यस्य दौर्बल्यं गुणे विहितयोस्तथोः ।

गुणदोषाख्ययोस्तस्य नास्तितेत्याह पद्मभूः ॥

इति । अपवादगुणास्तु बलवद्दोषैरपि न बाध्यन्ते । तथाच सर्व-
सिन्धौ—

तयोरन्यं बली हन्ति तुल्यौ चेन्निष्फलबुधौ ।

बलवानपि दोषैवः स्वापवादौर्विनश्यति ॥

इति । समानतायां—बलसाम्ये दोषा गुणेषु बलिनो हि भवन्ति ।
अतस्तदा दोषाणामेव प्राबल्यं । तथा हि गुणदोषाणामन्योन्यविधा-
तेन स्वफलनाशे कर्मफलमप्यसन् स्यात् । तत्र नहि कश्चि-
त्फलपेक्षाया कर्म करोतीति दोषप्राबल्यं सिद्धमेव—तथा श्रीप-
तिना “समानतायामपि रिष्टमेव” इति । रिष्टातिरिष्टसाम्ये रिष्ट-

मेव - बलवदित्युक्तं । तथेहापीति । उक्तवद्वयानां गुणदोषाणां बलं
विमृश्य सम्यग्विचार्य गुणेषु दोषेभ्यो बलवत्तरेषु शुभं कुर्यात् ।
तथा च गुरुः—

एवं बलं समालोच्य द्वयानामप्यतन्द्रितः ।

बलैर्दोषाद्गुणे तुङ्गे निर्दोषे शुभकालता ॥

इति । प्रकृतमध्यायमुपसंहरति —

इति षोडशभिस्त्रिसङ्गुणैः

ग्रथितश्श्लोकवरैर्विगुम्भितः ।

कृतसर्वबलाबलस्थिति-

वसितोऽध्याय इहैष पञ्चमः ॥ ४९ ॥

इति विद्यामाधवीये बलाबलाध्यायः पञ्चमः.

त्रिसङ्गुणैः षोडशभिरष्टचत्वारिंशद्भिः पद्यैर्ग्रथितः विहितः
सप्ताङ्गगुणदोषबलाबलस्थितिरेष पञ्चमोऽध्यायः वसितः अवसितः
समाप्त इत्यर्थः । वसित इत्यत्र “वष्टिवागुरिरल्लोपमवाप्योरुपस-
र्गयोः” इत्यल्लोपः ॥

इत्थं विद्यामाधवीये मुहूर्तदर्शने विद्यामाधवस्यात्मजेन ।

अध्यायोऽभूद्गुम्फितो विष्णुनाम्ना वीर्यावीर्यं दर्शयन्

पञ्चमोऽयम् ॥

इति मुहूर्तदीपिकायां विद्यामाधवीयव्याख्यायां

बलाबलाध्यायः पञ्चमः

सव्याख्यानं विद्यामाधवीये गृहीता निबन्धनः

| | |
|-------------------|---|
| अत्रिः | व्याख्याने 26, 57, 91, 92, 99, 103, 106, 117, 122, 124, 125, 131, 133, 134, 139, 158, 160, 173, 179, 180, 187, 219, 220, 226, 227, 230, 231, 236, 237, 242, 245, 261, 268, 287, 304, |
| अमरः | „ 134, |
| आर्यभटः | „ 8, 56, 189, |
| कल्याणवर्मा | „ 49, 363, |
| काश्यपः | „ 145, |
| काळिदासः | „ 13, |
| कृष्णः | „ 29, 30, 50, 71, 73, 309, |
| गर्गः | „ 93, 166, |
| गार्ग्यः | „ 10, 68, 87, 95, 101, 102, 105, 107, 119, 145, 185, 199, 209, 210, 275, 279, 283, 284, 294, 304, 320, |
| गुरुः (वागीश्वरः) | „ 10, 86, 88, 89, 92, 94, 95, 97, 99, 100, 102, 104, 105, 106, 107, 112, 116, 119, 121, 127, 129, 130, 132, 137, 139, 140, 146, 148, 149, 150, 152, 153, 154, 156, 158, 163, 168, 170, 177, 178, 179, 181, 184, 185, 191, 196, 197, 198, 200, 216, 217, 218, 219, 220, 225, 226, 230, 231, 232, 233, 234, 235, 236, 237, 238, 239, 241, 243, 244, 245, 247, 248, 249, 250, 252, 255, 260, 262, 264, 265, 266, 272, 273, 280, 281, 283, |